स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

B.Com-D-4
मुद्रा, बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएँ

प्रथम खण्ड : मुद्रा सिद्धांत

द्वितीय खण्ड : बैंकिंग सिद्धांत और व्यवहार

तृतीय खण्ड : भारत में गैर-बैंकिंग (बैंकेतर) वित्तीय संस्थाएँ

चतुर्थ खण्ड : अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

B.Com-D-4
मुद्रा बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएं

खंड

1

मुद्रा सिद्धान्त

इकाई 1

मुद्रा : प्रकृति, कार्य और महत्व 5

इकाई 2

मुद्रा की माँग और पूर्ति 15

इकाई 3

मुद्रा की कीमतें 27

इकाई 4

मुद्रास्फीति 39

खंड 1 मुद्रा सिद्धांत

वाणिज्य का छात्र होने के नाते आपके लिए आवश्यक हो जाता है कि आप आज की अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रा (money) और वित्तीय प्रणाली (financial system) की भूमिका को भली-भाँति समझ लें। **मुद्रा, बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएँ** नामक इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य आपको यह बताना है कि मुद्रा प्रणाली कैसे कार्य करती है, मुद्रा प्रणाली का कार्य किस संस्थागत परिवेश में होता है, वह कौन सी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जो वर्तमान युग के हमारे वित्तीय ढाँचे को आधार प्रदान करती है तथा अभी किन समस्याओं का समाधान होना शेष है।

इस आरम्भिक खण्ड में आप मुद्रा प्रणाली की कार्यवाहियों के संबंध में पढ़ेंगे। इस खण्ड में चार इकाइयाँ हैं:

इकाई 1 में मुद्रा की परिभाषा, उसकी भूमिका, उसके कार्यों और उसके दोषों के संबंध में विवेचन किया गया है।

इकाई 2 में मुद्रा की मांग और पूर्ति की संकल्पनाओं, मुद्रा की माँग से संबंधित विभिन्न संकल्पनाओं तथा मुद्रा पूर्ति की परंपरागत और आधुनिक संकल्पनाओं के संबंध में विचार किया गया है।

इकाई 3 में मुख्यतः मुद्रा के मूल्य से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों के बारे में विवेचन किया गया है। इसमें नकद लेन-देन दृष्टिकोण, नकद शेष दृष्टिकोण, केन्ज़वादी सिद्धांत और मिल्टन फ्रिडमैन के सिद्धांत के बारे में विचार किया गया है।

इकाई 4 में मुद्रास्फीति का अध्ययन किया गया है। इसमें बताया गया है कि मुद्रास्फीति के अर्थ और प्रकृति क्या होते हैं, इसके कितने रूप हैं, मुद्रास्फीति के क्या प्रभाव होते हैं तथा मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण के लिए क्या उपाय हैं।

इकाई 1 मुद्रा: प्रकृति कार्य और महत्व

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 वस्तु-विनिमय प्रणाली की समस्याएँ
1.3 मुद्रा का विकास और इसके प्रकार
1.4 मुद्रा क्या है?
1.5 मुद्रा की प्रकृति
1.6 मुद्रा के कार्य
1.7 मुद्रा का महत्त्व
1.8 मुद्रा के दोष
1.9 सारांश
1.10 शब्दावली
1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.12 स्वपरख प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- मुद्रा की परिभाषा दे सकें,
- वस्तु विनिमय की उन समस्याओं को बता सकें जिनके कारण मुद्रा का आविष्कार और विकास हुआ,
- मुद्रा और मुद्रावत् में भेद कर सकें,
- पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की भूमिका और महत्त्व समझ सकें, और
- मुद्रा के कार्य और उसके दोष बता सकें।

1.1 प्रस्तावना

हम सभी मुद्रा से भली-भांति परिचित हैं क्योंकि हम एक मौद्रिक अर्थव्यवस्था में रहते हैं जहां मुद्रा का विभिन्न आर्थिक लेन-देनों में विस्तृत व मुक्त रूप से प्रयोग किया जाता है। हम सभी अब मुद्रा के इतने आदी हो चुके हैं कि हमारे लिए मुद्रा रहित आधुनिक समाज की कल्पना करना भी कठिन है। तथापि यह जानना रुचिकर होगा कि मुद्रा क्यों और कैसे आई। इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि मुद्रा का आगमन कैसे हुआ तथा मुद्रा की परिभाषा, भूमिका, महत्व, कार्य और दोष क्या हैं।

1.2 वस्तु-विनिमय प्रणाली की समस्याएं (Problems of Barter System)

मुद्रा के आगमन से पहले विनियम क्रिया वस्तु-विनिमय प्रणाली के द्वारा संपन्न की जाती थी, इस प्रणाली में लोगों के पास जो वस्तुएं व सेवाएं होती थीं उनका विनिमय दूसरों के पास उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं से किया जाता था। उदाहरण के लिए, एक किसान अपना अतिरिक्त अनाज (जो उसकी अपनी आवश्यकता से अधिक हो) का विनिमय बुनकर के पास अतिरिक्त कपड़े से करता था। यह क्रिया दोनों की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक होती थी। वस्तु-विनिमय प्रणाली तब तक ठीक तरह चलती रही जब तक कि मानवीय आवश्यकताएं साधारण व सीमित संख्या में थीं। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, मानवीय आवश्यकताएं कई गुना हो गई

और इससे व्यवसायों का विशिष्टीकरण हुआ। इसके फलस्वरूप वस्तु-विनिमय प्रणाली के द्वारा विनिमय में बहुत कठिनाइयां आईं। अत. एक ऐसे विनिमय के माध्यम की आवश्यकता महसूस हुई जो सामान्य रूप से स्वीकार्य हो। इसी के फलस्वरूप मुद्रा का आविष्कार और विकास हुआ।

वस्तु-विनिमय प्रणाली में लोगों को निम्नलिखित प्रमुख समस्याओं का सामना करना पड़ता था:

1) **आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव :** वस्तु विनिमय के लिए आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का होना जरूरी है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति 'A' के पास एक बकरी है और वह इसका विनिमय कपड़े से करना चाहता है, जो उसे किसी ऐसे व्यक्ति को ढूंढ़ना होगा जिसके पास देने के लिये अतिरिक्त कपड़ा हो और इसके साथ-साथ उसे उस बकरी की आवश्यकता हो जो 'A' देना चाहता है। जब आवश्यकताएं सरल थीं और वस्तुओं की संख्या सीमित होती थी तो ऐसे संयोगों का होना सरल था। लेकिन जैसे-जैसे वस्तुओं की संख्या कई गुना होती गयीं, आवश्यकताओं के ऐसे संयोग कठिन होते गये और इनका पता लगाने में समय भी बहुत लगने लगा। मुद्रा के आगमन से यह कठिनाई समाप्त हो गयी क्योंकि अब कोई भी व्यक्ति अपना माल बेच कर मुद्रा प्राप्त कर सकता है और फिर इस मुद्रा की सहायता से वह अपनी इच्छानुसार वस्तुएं और सेवाएं खरीद सकता है।

2) **मूल्य की एक सामान्य माप की समस्या :** मुद्रा के न होने पर, प्रत्येक वस्तु का मूल्य अन्य सभी वस्तुओं के रूप पता लगाना होता था। उदाहरण के लिए, एक मीटर कपड़े के लिये कितना गेहूँ, या कितना दूध या कितना नमक या कितना चावल दिया जाए? यदि समाज में 10 वस्तुएं थीं, तो लोगों को 45 मूल्य निर्धारित करने होते थे और ये सभी याद रखने होते थे और यदि वस्तुओं की संख्या 100 हो तो ऐसे मूल्य 4950 होंगे। यदि n वस्तुएं हों तो वस्तु विनिमय प्रणाली में कितने मूल्य निर्धारित करने होंगे उसका सूत्र निम्नलिखित है:

$$\frac{n\,(n-1)}{2}$$

लेकिन मुद्रा के प्रचलन से प्रत्येक वस्तु का मूल्य केवल मुद्रा के रूप में ही व्यक्त करना होता है। अतः यदि 100 वस्तुएं हों तो मौद्रिक अर्थव्यवस्था में लोगों को केवल 100 मूल्य जानने होंगे।

3) **वस्तुओं के उप-विभाजन के कारण हानि:** बहुत सी वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनका यदि उप-विभाजन किया जाए तो उनके मूल्य की अंशतः या कभी-कभी पूर्णतया हानि हो जाएगी। उदाहरण के लिए एक मेज, या एक रेफ्रिजरेटर या एक टी.वी. का हिस्सों में उप-विभाजन नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से उनका मूल्य समाप्त हो जाएगा। अब यदि एक व्यक्ति अपने टी.वी. का पांच या छः वस्तुओं से विनिमय करना चाहता है तो किसी एक ही व्यक्ति से ये सभी वस्तुएं प्राप्त करना तो बहुत कठिन होगा। अतः उसे अपनी टी.वी. को पांच या छः भागों में उपविभाजित करना होगा, लेकिन ऐसा करने से टी.वी. का मूल्य समाप्त हो जाएगा। दूसरी ओर यदि विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का प्रयोग किया जाता है तो ऐसी कोई समस्या उत्पन्न नहीं होगी क्योंकि मुद्रा पूर्णतया विभाज्य होती है।

4) **धन के संचय में कठिनाई:** मुद्रा के प्रचलन में न होने पर बचत करना और धन का निर्माण करना बहुत कठिन है क्योंकि बहुत सी वस्तुएं टिकाऊ नहीं होती और सभी प्रकार की सेवाएं समय के साथ-साथ नष्ट हो जाती हैं, अतः इन्हें भविष्य के लिये संचित नही किया जा सकता। लोग भविष्य के आकस्मिक व्यय के लिये प्रावधान के रूप में किसी चीज के संचय करने के बारे में सोच भी नहीं सकते थे क्योंकि गेहूं, पशुओं की खाल आदि वस्तुओं के रूप में संचित किया गया धन अधिक दिन नहीं चल सकता। लेकिन मुद्रा क्योंकि टिकाऊ है इसलिये यह बचत करने और धन संचय करने का सुविधाजनक रूप है।

1.3 मुद्रा का विकास और इसके प्रकार

भारत में आजकल मुद्रा में सिक्के, कागजी नोट और निक्षेप मुद्रा शामिल की जाती है। लेकिन मुद्रा को इस रूप में आने में सैंकड़ों वर्ष लगे। सभ्यता के शुरू के समय में मुद्रा ने वस्तु मुद्रा का रूप लिया जैसे कि गाय, भेड़, गेहूं, चावल, तम्बाकू, बाघ के दांत, हाथी-दांत आदि। किसी विशेष वस्तु का मुद्रा के रूप में चुनाव बहुत से कारकों पर निर्भर करता था जैसे कि समाज के आर्थिक विकास व संस्कृति का स्तर तथा जलवायु आदि। अलास्का और साइबेरिया जैसे ठंडे देशों में पशुओं की खाल और फर का मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाता था। उष्ण कटिबन्धी देशों में हाथी दांत और बाघ के जबड़े मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाते थे। कृषि प्रधान समुदायों में घरेलू जानवर और रोजमर्रा की चीजों ने मुद्रा का रूप लिया। लेकिन समय के साथ-साथ इन वस्तुओं के टिकाऊ और मानक रूप न होने के कारण इनका मुद्रा के रूप में प्रयोग करना छोड़ दिया गया। आज की मुद्रा भी तीन चरणों से गुजरी है: (i) धातु मुद्रा, (ii) प्रतिनिधि कागजी मुद्रा, और (iii) साख मुद्रा। वर्तमान अपरिवर्तनशील कागजी नोट और अन्य साख प्रपत्रों का विधिमान्य मुद्रा के लिये स्थानापन्न (substitute) के रूप में चलन अभी हाल में ही हुआ है। निम्नलिखित चित्र 1.7 मुद्रा के वे विभिन्न रूप दर्शाती है जो आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में विद्यमान हैं:

चित्र 1.1: मुद्रा के प्रकार

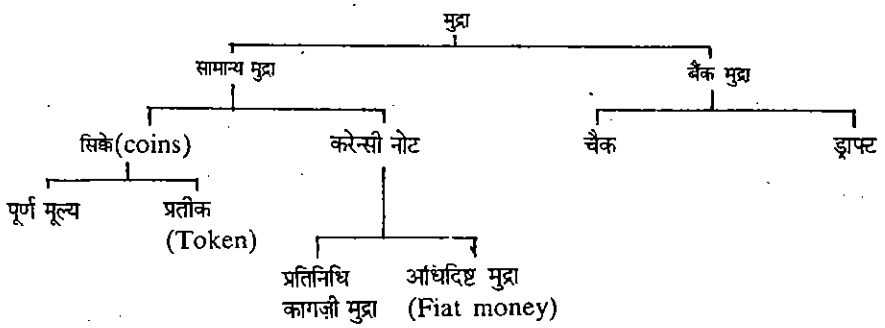

समाज में आर्थिक संवृद्धि और सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ सोना, चांदी और तांबे आदि से बने सिक्कों का मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ। ये दो प्रकार के थे:

(i) मानक या पूर्ण मूल्य सिक्के (standard coins or full bodied coins), इन सिक्कों पर अंकित मूल्य और इनमें लगी धातु का मूल्य समान था और (ii) **प्रतीक सिक्के,** वे सिक्के जिन पर अंकित मूल्य इनमें लगी धातु के मूल्य से अधिक था।

आगे चल कर धातु के सिक्कों को हटाने के लिये उनकी जगह कागजी नोट शुरू किये गये। ऐसा जिन दो मुख्य कारणों से किया गया वे हैं: (i) कीमती धातुओं के प्रयोग में मितव्ययता के लिये और (ii) सिक्कों के मुकाबले कागज का संचय और उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना अधिक सुविधाजनक होता है। कागजी मुद्रा में लोगों का विश्वास पैदा करने के लिये, शुरू में कागज़ी नोटो को **प्रतिनिधि नोटों** का रूप दिया गया। अतः ये नोट धात्विक मुद्रा के केवल प्रतिस्थापन मात्र थे यानि इनके धारक द्वारा मांग करने पर ये सोने या चांदी में परिवर्तनीय थे। उत्पादन में वृद्धि, जनसंख्या में वृद्धि और अर्थव्यवस्था के मौद्रिक क्षेत्र में वृद्धि के कारण लेन देनों में कागजी मुद्रा के प्रयोग में वृद्धि से इस प्रकार की परिवर्तनीयता लगभग असंभव हो गयी। अतः आज के कागज़ी नोट अब चांदी या सोने के सिक्कों में परिवर्तनीय नहीं हैं और इसलिये इन्हें अधिदिष्ट मुद्रा कहा जाता है। आजकल सामान्य मुद्रा का एक बड़ा भाग इस अपरिवर्तनीय कागज़ी मुद्रा में होता है।

साख मुद्रा का प्रचलन अभी हाल में ही शुरू हुआ। लोग अपनी रोकड़ का एक भाग बैंक में रखते हैं और इसे जब चाहे निकाल सकते हैं या चैक द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को हस्तांतरित कर सकते हैं। चैक और ड्राफ्ट मूल्य के हस्तांतरण का सबसे सुविधाजनक रूप हैं इसलिये इन्हें **बैंक मुद्रा** के रूप में स्वीकार कर लिया गया, यद्यपि यह असली मुद्रा नहीं है क्योंकि इनको स्वीकार करना ऐच्छिक है। तथापि, ये मुद्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं अर्थात् भुगतान के माध्यम का कार्य।

1.4 मुद्रा क्या है?

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं। कुछ परिभाषाएं बहुत संकीर्ण हैं तो कुछ बहुत विस्तृत हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएं नीचे दी गयी हैं:

- **ए.सी. पीगू (A.C. Pigou)** : "किसी भी चीज का मुद्रा के रूप में वर्गीकृत होने के लिये वह विनिमय के प्रपत्र के रूप में अच्छी तरह और व्यापक रूप से स्वीकार की जानी चाहिये।"
- **जी.डी.एच. कोल (G.D.H. Cole)** : "मुद्रा कोई भी वह चीज है जो भुगतान के साधन के रूप में नियमित व व्यापक रूप से प्रयोग की जाती हो और ऋणों के निपटारे में सामान्य रूप से स्वीकार्य हो।"
- **वाकर (Walker)** : "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे।"
- **जे.एम. केन्स (J.M. Keynes)** - "मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण अनुबंधों और मूल्य-अनुबंधों को उन्मुक्त किया जाता है और जिसके रूप में सामान्य क्रय शक्ति को संचित किया जाता है।"
- **एल्फर्ड मार्शल (Alfred Marshall)** : "मुद्रा में वे सभी वस्तुएं शामिल की जाती हैं जो किसी समय अथवा स्थान पर, बिना संदेह अथवा विशेष जांच के वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करने तथा व्ययों का भुगतान करने के साधन रूप में सामान्यता प्रचलित होती है।"
- **डी.एच. राबर्टसन (D.H. Robertson)** : "मुद्रा कोई भी वह वस्तु है जो व्यापक रूप से वस्तुओं के भुगतान के लिये या अन्य प्रकार के व्यापारिक दायित्वों के भुगतान के लिये स्वीकार की जाए।"
- **क्राउथर (Crowther)** : "कोई भी वस्तु जो सामान्य रूप से विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार की जाती है और साथ ही मूल्य के माप व संचय का काम भी करती है।"

ऊपर दी गयी परिभाषाओं का विश्लेषण यह दर्शाता है कि मुद्रा के सभी तत्त्वों को एक ही वाक्य में शामिल करना सरल नहीं है। इसलिए ऊपर दी गयी कोई भी परिभाषा व्यापक और संतोषजनक नहीं है। तथापि ये परिभाषाएं मुद्रा की मूलभूत विशेषताएं जानने में सहायक हैं और ये विशेषताएं सारांश में निम्नलिखित हैं:

1) मुद्रा कोई वह वस्तु हो सकती है (एक कागज का टुकड़ा भी) जो सामान्य सहमति से विनिमय के माध्यम या क्रय शक्ति के हस्तांतरण के साधन के रूप में चुनी गयी हो।

2) यह वस्तुओं और सेवाओं के लिये भुगतान के रूप में हैं और भविष्य के भुगतानों सहित सभी लेन-देनों के निपटारे में व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है।

3) यह उस व्यक्ति की साख के संदर्भ के बिना स्वीकार्य होनी चाहिये जो इसे भुगतान के रूप में प्रस्तुत करता है। इसका कारण यह है कि मुद्रा में तरलता है, यानि सामान्य क्रय शक्ति, जिसे वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय में दूसरों को दिया जा सकता है।

4) मुद्रा, मात्रा और गुण की किसी विशेष जाँच के बिना ही, सबके द्वारा सामान्य रूप से प्राप्त की जाती है।

मुद्रावत (Near-Money)

कुछ ऐसी परिसम्पत्तियां हैं जो बहुत तरल हैं लेकिन ये मुद्रा की भांति पूर्णतया तरल नहीं हैं। इन परिसम्पत्तियों को तुरंत और मूल्य में हानि के बिना इन्हें आसानी से मुद्रा में परिवर्तित किया जा सकता है, और इसलिये इन्हें मुद्रावत् कहा जाता है। विनिमय पत्र, बाण्ड, बचत सर्टिफिकेट, सरकारी हुण्डियां और ऋण पत्र आदि मुद्रावत् के उदाहरण हैं। ऐसी मुद्रावत् परिसम्पत्तियां **मुद्रा पर दावे हैं** यानि इनका वस्तुओं के क्रय के लिये प्रयोग करने के लिये पहले इन्हें वास्तविक मुद्रा में परिवर्तित करना होता है। अतः मुद्रावत् परिसम्पत्तियों का महत्त्व इसमें है कि कितनी आसानी से इन्हें, बिना समय या मूल्य की हानि हुए, बाजार में बेचा जा सकता है। तथापि, मुद्रा और मुद्रावत् एक मामले में एक दूसरे से मिलते हैं: ये दोनों ही दावे हैं। मुद्रा नोटों का निर्गमन करने वाले देश के केन्द्रीय बैंक या सरकार पर एक दावा है जबकि बैंक मुद्रा उन बैंकों पर एक दावा है जो सार्वजनिक निक्षेप के रूप में मुद्रा रखते हैं। इसी प्रकार मुद्रावत् इसका निर्गमन करने वाले पर एक दावा है। उदाहरण के लिये, एक विनिमय पत्र उस पक्षकार पर एक दावा है जो विनिमय पत्र में निर्दिष्ट राशि को एक निर्दिष्ट अवधि (जैसे 91 दिन) की समाप्ति पर देने को सहमत हुआ है। इसी तरह एक बाण्ड उस सरकार पर एक दावा है जिसने इसे निर्गमित किया है।

बोध प्रश्न क

1) मुद्रा की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?

.....

2) मद्रा और मद्रावत क बीच अतर बताइए।

.....

3) वस्त-विनिमय प्रणाली को निम्नलिखित समस्याअ का सामना करना होता ह:

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

4) निम्नलिखित कथनों में से कौन सही हैं और कौन गलत?

i) वस्तु विनिमय प्रणाली के अंतर्गत लोग वस्तुओं के बदले में वस्तुओं का विनिमय करते हैं।

ii) ग्राहक की मांग पर अधिदिष्ट मुद्रा सोना या चांदी के सिक्कों में परिवर्तनीय होती हैं।

iii) बैंक-मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है।

iv) वे परिसंपत्तियां जो मुद्रा के समान ही पूर्णतः तरल होती हैं, मुद्रावत कहलाती हैं।

v) मुद्रा वह वस्तु है जिसे वस्तुओं और सेवाओं के भुगतान के लिए व्यापक रूप में स्वीकार किया जाता है।

1.5 मुद्रा की प्रकृति

मुद्रा केवल एक साधन है, अपने आप में यह साध्य नहीं है। इसकी मांग इसके स्वयं के लिये नहीं की जाती बल्कि इसलिये की जाती है कि यह हमारी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिये वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने में सहायता करती है। मुद्रा प्रत्यक्ष रूप से मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट नहीं कर सकती लेकिन वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन और विनिमय में सहायता करती है। इसका महत्त्व वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने और व्यावसायिक दायित्वों को पूरा करने की इसकी योग्यता से है। मुद्रा पूंजी को गतिशीलता देती है तथा

श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण में सहायक है, जिससे यह बड़े पैमाने पर उत्पादन को संभव बनाती है। यह कहना ठीक ही है कि "हम मुद्रा नहीं खा सकते लेकिन हम मुद्रा के बिना भी नहीं खा सकते।"

1.6 मुद्रा के कार्य

"मुद्रा वह है जो मुद्रा करती है।" यह कथन दर्शाता है कि मुद्रा का महत्त्व इसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों में है। मुख्यतया मुद्रा चार मूल कार्य करती है जिन्हें संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

'मुद्रा के हैं कार्य चार; माध्यम, माप, कोष, आधार।' इसके कार्यों को तीन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत करने का रिवाज हो गया है:

1) **प्रमुख कार्य** : मुद्रा दो प्रमुख कार्य करती है।:
   i) यह विनिमय के माध्यम के रूप में, और
   ii) मूल्य के मापक के रूप में कार्य करती है।

2) **गौण कार्य** : मुद्रा के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य (जो प्रमुख कार्यों से उत्पन्न हुए हैं) निम्नलिखित हैं:

i) स्थगित भुगतानों का मान,
ii) मूल्य का संचय, और
iii) मूल्य का हस्तांतरण।

3) **आकस्मिक कार्य** : आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा के कुछ आकस्मिक उपयोग हैं, जैसे कि:
   i) यह राष्ट्रीय आय के वितरण में सहायक होती है
   ii) यह साख प्रणाली का आधार है
   iii) यह उपयोगिता और लाभों को अधिकतम करने में सहायक है
   iv) यह धन को तरलता प्रदान करती है।

आइये, अब प्रत्येक कार्य का संक्षेप में वर्णन करें।

प्रमुख कार्य

i) **मुद्रा, विनिमय के माध्यम के रूप में:** यह मुद्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण व अद्वितीय कार्य है और यह कार्य ही इसे मुद्रावत् परिसम्पत्तियों से अलग करता है। मुद्रा के एक सामान्य विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग ने वस्तुओं व सेवाओं के क्रय-विक्रय को बहुत सुविधाजनक बना दिया है। मुद्रा के बिना, वस्तु-विनिमय प्रणाली के द्वारा ही विनिमय हो सकता था, इस प्रणाली की मूल कमियां आपको इस इकाई में पहले बतायी जा चुकी हैं। मुद्रा के विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग से हम वस्तु विनिमय की अधिकांश समस्याओं से बच जाते हैं। यद्यपि मुद्रा का प्रयोग विनिमय को दो भागों में बांट देता है यानि विक्रय और क्रय, लेकिन इससे समय और शक्ति की कोई हानि नहीं होती।

ii) **मुद्रा, मूल्य की माप के रूप में:** मुद्रा, अन्य सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों को उनकी मौद्रिक कीमतों में मापने के लिये, एक मापदण्ड के रूप में कार्य करती है। मुद्रा के न होने पर, एक वस्तु का मूल्य केवल अन्य वस्तुओं और सेवाओं में व्यक्त किया जा सकता था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यदि बाजार में 100 वस्तुएं हों तो वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु का मूल्य बाकि 99 वस्तुओं में व्यक्त करना पड़ेगा और इस प्रकार कुल मिलाकर 4950 मूल्य होंगे। दूसरी ओर, यदि मुद्रा को मूल्य के माप के रूप में प्रयोग किया जाता है तो हमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य केवल मुद्रा में ही मापने की आवश्यकता होगी और इस प्रकार 100 वस्तुओं के लिये केवल 100 मूल्य होंगे। इसके अतिरिक्त विभिन्न वस्तुएं विभिन्न भौतिक इकाइयों में व्यक्त की जाती हैं उदाहरण के लिये कपड़ा मीटर में, गेहूँ किलोग्राम में और दूध लीटर में व्यक्त किया जाता है। ऐसी वस्तुओं के मूल्यों की तुलना भी मुद्रा की सहायता से संभव है। इन वस्तुओं की दी हुई मौद्रिक कीमतों से यह जानना सरल है एक मीटर कपड़ा कितने किलो. गेहूँ या कितने लीटर दूध के बराबर है, और एक लीटर दूध कितने किलो गेंहू के बराबर है, आदि। मौद्रिक कीमतों का प्रयोग राष्ट्रीय आय के आकलन में भी सहायता करता है क्योंकि विभिन्न प्रकार की वस्तुएं व सेवाएं विभिन्न भौतिक इकाइयों में मापी जाती हैं। इसलिये राष्ट्रीय आय का आकलन करने के लिये इन्हें जोड़ा नहीं जा सकता; लेकिन इनके मौद्रिक मूल्यों को जोड़ा जा सकता है। मुद्रा के प्रयोग से वस्तुओं के मूल्यों की विभिन्न समयों पर और विभिन्न क्षेत्रों में तुलना करना भी संभव है।

लेकिन मुद्रा मूल्य के माप के रूप में संतोषजनक कार्य केवल तब कर सकती है जब इसका अपना मूल्य (यानि क्रय शक्ति) स्थिर रहे। सारे संसार में कीमतों के स्तर में होने वाली लगातार वृद्धि ने मुद्रा को मूल्य का एक कमजोर माप बना दिया है।

गौण कार्य

i) **मुद्रा स्थगित भुगतानों के मान के रूप में:** मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के न केवल वर्तमान लेन-देनों को बल्कि उनके उधार लेन-देनों को भी सरल बनाती है। जब वर्तमान वस्तुओं का भविष्य के भुगतानों से विनिमय

होता है तो यह इन उधार लेन-देनों को सरल बनाती है। आज की दुनियां में अधिकांश स्थगित भुगतानों के अनुबंध केवल मुद्रा में किये जाते हैं, उदाहरण के लिये ऋणों का ब्याज सहित शोधन तथा पैंशन, किराये, वेतन, बीमा प्रीमियम आदि का भुगतान। मुद्रा स्थगित भुगतानों का एक प्रभावी मान केवल तभी हो सकती है जब इसका स्वयं का मूल्य परिवर्तित न हो। यदि कीमतें तेजी से बढ़ती या घटती हैं जिससे मुद्रा के मूल्य में बहुत उतार-चढ़ाव होते हैं तो ये मुद्रा को स्थगित भुगतानों का एक कमजोर मान बनाते हैं।

ii) **मुद्रा मूल्य के संचय के रूप में:** लोग अपनी वर्तमान आय के एक भाग को भविष्य में खर्च करने के लिये मुद्रा के रूप में रख सकते हैं। मुद्रा एक सर्वमान्य क्रय शक्ति का प्रतीक है और इसके साथ-साथ यह एक पूर्णतया तरल परिसम्पत्ति है। इसके अतिरिक्त, यह टिकाऊ है और अपने मूल्य में अधिक स्थिर है। इसे आसानी से संचित किया जा सकता है क्योंकि यह सापेक्षिक रूप से कम वजनी है और कम स्थान-घेरती है, अतः धन को मुद्रा के रूप में संचित करना सुविधाजनक है। मुद्रा को किसी भी समय किसी भी परिसम्पत्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा वर्तमान को भविष्य से जोड़ती है क्योंकि आज बचायी गयी मुद्रा का अर्थ है क्रय शक्ति को वर्तमान से भविष्य में विवर्तित करना।

iii) **मुद्रा क्रय शक्ति के हस्तांतरण के साधन के रूप में:** मुद्रा ऐसा सबसे सुविधाजनक रूप है जिसमें मूल्य को एक व्यक्ति से दुसरे को और एक स्थान से दूसरे स्थान पर हस्तांतरित/अंतरित किया जा सकता है क्योंकि मुद्रा को सभी तुरंत स्वीकार कर लेते हैं और अन्य वस्तुओं की तुलना में इसका वजन कम और मूल्य अधिक होने से इसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर हस्तांतरित करने की लागत भी बहुत कम है। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति करोड़ों रुपए किसी दूसरे व्यक्ति को दूर स्थान पर एक बैंक ड्राफ्ट या चैक की सहायता से अति कम लागत पर अंतरित कर सकता है। लेकिन इस मूल्य को किसी वस्तु जैसे चावल में अंतरित करना बहुत कठिन व खर्चीला है और इसमें क्षति भी होती है।

आकस्मिक कार्य

i) **राष्ट्रीय आय का वितरण:** मुद्रा राष्ट्रीय उत्पाद को उन लोगों में वितरित करने में सहायता करती है जिन्होंने इसके उत्पादन में योगदान दिया है। आधुनिक समाज में लोग वस्तुओं का उत्पादन करने के लिये आपस में श्रमिकों, पूंजी के स्वामियों, भू-स्वामियों आदि के रूप में सहयोग करते हैं। अतः इससे जो उत्पादन होता है उसे इन सबमें मजदूरी, वेतन, ब्याज, लगान आदि के रूप में बांटना होता है। मुद्रा की अनुपस्थिति में ऐसे उत्पादनों को बांटना हमेशा संभव नहीं होता, खास तौर से अविभाज्य वस्तुओं को, जैसे कि मशीन। मुद्रा की सहायता से हम ऐसी समस्या का हल कर सकते हैं।

ii) **साख प्रणाली का आधार:** आधुनिक अर्थव्यवस्था साख यानि भुगतान करने के वचन, पर आधारित है। वर्तमान मुद्रा (सिक्के, कागजी नोट, चैक, बैंक ड्राफ्ट आदि) भी स्वयं भुगतान करने के वचन के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। तथापि, यह मुद्रा बैंकों को साख निर्माण की प्रक्रिया के द्वारा और अधिक मुद्रा का निर्माण करने में सहायता करती है। बैंक यह कार्य नगद निक्षेपों की सहायता से गौण निक्षेपों का विस्तार करके करते हैं। इस तरह मुद्रा बैंक द्वारा साख निर्माण के आधार के रूप में कार्य करती है।

iii) **उपयोगिता और लाभों को अधिकतम करना:** मुद्रा, उपभोक्ताओं को अपनी संतुष्टि को अधिकतम करने में सहायता करती है। उपभोक्ता, मुद्रा को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार आबंटित करके, कि प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये गये व्यय की प्रति रु. सीमान्त उपयोगिता समान हो, संतुष्टि को अधिकतम कर सकते हैं। इसी प्रकार उत्पादक उत्पादन की मौद्रिक लागत का परिकलन कर सकते हैं और तब वे कीमत निर्धारित कर सकते हैं जिससे अधिकतम लाभ मिले।

iv) **मुद्रा परिसम्पत्तियों को तरलता और एकरूपता प्रदान करती है:** धन को मुद्रा के रूप में रखना सुविधाजनक है क्योंकि यह सभी परिसम्पत्तियों में सबसे अधिक तरल है। मुद्रा से कोई भी परिसम्पत्ति खरीदी जा सकती है और सभी परिसम्पत्तियों को मुद्रा में परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा सभी परिसम्पत्तियों को तरलता प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त सभी परिसम्पत्तियों के मौद्रिक मूल्यों को जोड़कर किसी व्यक्ति या देश के धन का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा देश के धन में एकरूपता भी लाती है।

1.7 मुद्रा का महत्व

मुद्रा आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का जीवन है। मुद्रा के बिना यह अर्थव्यवस्था निर्विघ्न कार्य नहीं कर सकती। जैसे कि मानव शरीर की जीवन-शक्ति रक्त की मात्रा और उसके परिसंचरण (circulation) से जाँची जाती है उसी तरह अर्थव्यवस्था की शक्ति और विकास का स्तर उसमें मुद्रा की अपेक्षित पूर्ति और उसके उचित संचरण से जाँचे जाते हैं। काफी हद तक मुद्रा का महत्व इसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों पर निर्भर करता है। ये निम्नलिखित हैं:

1 **उपभोग में मुद्रा का महत्व:** आजकल व्यक्ति अपनी आय मुद्रा में प्राप्त करते हैं। इससे उपभोग का स्वतंत्र चयन सरल तो जाता है। यद्यपि, उपभोक्ता अपनी दी हुई सीमित आय से अपनी इच्छा की सभी वस्तुएं नहीं खरीद

सकते, फिर भी मौद्रिक आय उन्हें उन वस्तुओं को और उतनी मात्रा में खरीदने की स्वतंत्रता देती है जो उस आय-सीमा में उन्हें अधिकतम संतुष्टि दे। इसके अतिरिक्त, मुद्रा उपभोक्ताओं को वर्तमान उपभोग और भविष्य उपभोग में चयन करने की स्वतंत्रता देती है यानि वर्तमान उपभोग पर कितना खर्च करना है और दी हुई वर्तमान आय में से भविष्य उपभोग के लिये कितना बचाना है।

2 **उत्पादन में मुद्रा का महत्व:** मुद्रा उत्पादन का साधन नहीं है फिर भी यह उत्पादन को सुविधानजक बनाती है। मुद्रा के प्रयोग से वस्तुओं और सेवाओं के बाजार का विस्तार हुआ है। इससे बड़े पैमाने पर उत्पादन और टेक्नोलौजी में सुधार हुआ और इस प्रकार उत्पादन लागत न्यूनतम हुई। लेकिन बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिये श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण आवश्यक है जो वस्तु-विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत असंभव है। इसके अतिरिक्त, मुद्रा (कीमत तंत्र द्वारा) उत्पादकों को उन वस्तुओं और उनकी उन मात्राओं को दर्शाती है जो उन्हें उत्पादित करना चाहिये।

3 **व्यापार में मुद्रा का महत्व:** मुद्रा विनिमय का माध्यम होने से व्यापार को भी सरल बनाती है। मुद्रा कीमत तंत्र (price mechanism) का आधार बनती है और इस प्रकार मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के निर्धारण में सहायक होती है। इसके अतिरिक्त, विक्रेता प्रत्येक उत्पाद की सीमान्त लागत और सीमान्त आय को बराबर करके अपने उत्पादों को बिक्री के उस स्तर पर पहुँच सकते हैं जहां उन्हें अधिकतम लाभ प्राप्त हों।

4 **मुद्रा का महत्व और आर्थिक प्रगति:** मुद्रा के प्रचलन से बड़े पैमाने पर उत्पादन संभव हुआ और इसके कारण पूंजी संजय की और उत्पादन की नई प्रणालियों के विकास करने की प्रेरणा निरन्तर बनी रहती है। इस प्रकार भौतिक प्रगति को बढ़ावा देने में मुद्रा की भूमिका महत्वपूर्ण है।

5 **लोक-वित्त में मुद्रा का महत्व:** सरकारों को सुचारू रूप से प्रशासन चलाने के लिये साधन चाहिये जिसके लिये वे कर लगाती हैं और फ़ीस व जुर्माना आदि भी लेती हैं। मुद्रा के बिना जो कर प्राप्त किये जाएंगे वे वस्तुओं के रूप में होंगे जो सरकार के दृष्टिकोण से उपयोगी हो या न हों, जैसे कि एक जूता बनाने वाला जूते के रूप में कर देगा और सब्जी वाला सब्जी के रूप में कर देगा। लेकिन मुद्रा के रूप में प्राप्त कर सरकार को उन चीजों का चुनाव करने की स्वतंत्रता देते हैं जिनकी उसे विकासात्मक उद्देश्यों के लिये आवश्यकता है।

6 **मुद्रा और विदेशी व्यापार:** मुद्रा ने विदेशी व्यापार के विस्तार में और इसके द्वारा पूरी दुनियाँ में उपभोग का स्तर ऊंचा उठाने में सहायता की है। मुद्रा की सहायता से ही हम न केवल अपने देश में उत्पादित वस्तुओं का लेन-देन कर सकते हैं बल्कि अन्य देशों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का भी लेन-देन कर सकते हैं। मुद्रा की सहायता से आयात और निर्यात की संभावनाओं से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सहयोग का विस्तार हुआ है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मुद्रा का महत्व इतना अधिक है कि मुद्रा के बिना आज के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह कथन ठीक ही है कि 'मुद्रा एक धुरी है जिसके चारों ओर सभी आर्थिक क्रियाएं जमा हैं।'

1.8 मुद्रा के दोष

मुद्रा का आविष्कार एक अमिश्रित वरदान साबित नहीं हुआ क्योंकि इसका प्रयोग बहुत सी बुराइयों का स्रोत भी बन गया। यदि मुद्रा का उचित तरह से प्रयोग न किया जाए तो यह तबाही मचा सकती है और मानव-जाति के लिये अनर्थकारी साबित हो सकती है। मुद्रा के कुछ बुरे प्रभाव निम्नलिखित हैं:

आर्थिक दोष

i) मुद्रा के प्रयोग ने लालच और गरीबों के शोषण को बढ़ाया है जिससे आय व सम्पत्ति में भयंकर असमानताएं आयी है। इतिहास दर्शाता है कि आर्थिक शोषण ही किसी सामाजिक उथल-पुथल को प्रेरित करता है।

ii) मुद्रा उत्पादन के स्तर के विस्तार में सहायता करती है और इससे एक निश्चित सीमा के बाद ऐसी स्थिति आ जाती है जहाँ उत्पादन मांग से बहुत अधिक हो जाता है। इससे कीमत स्तर में गिरावट, बेरोजगारी और आय में कमी होती है और उससे जनता की दुर्दशा होती है।

iii) ऋणों के लेने और देने को सरल बनाकर मुद्रा उत्पादन में अतिपूंजीकरण (यानि श्रम के स्थान पर बहुत अधिक पूंजी का प्रयोग) को प्रोत्साहित करती है इससे अर्थव्यवस्था में बड़ी संख्या में बेरोजगारी हो जाती है।

iv) जब कोई सरकार / केन्द्रीय बैंक केवल नये नोट छापकर ही मुद्रा की पूर्ति बढ़ाता है तो इससे तेजी से कीमतें बढ़ती हैं और यह समाज में स्थिर आय वालों को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करती है तथा इसके कारण वर्ग-संघर्ष होता है और सामाजिक शांति भंग होती है।

सामाजिक दोष

i) मुद्रा ने बहुत सी असामाजिक क्रियाओं, जैसे कि जुआ, धोखेबाजी, डकैती आदि, को प्रोत्साहित किया है।
ii) यह लोगों को लालची और लोभी बनाती है।
iii) यह दूसरे का शोषण करने की प्रवृति को प्रोत्साहित करती है।

लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि ऊपर बतायी गयी अधिकतर बुराइयाँ मुद्रा के अनुचित प्रयोग से उत्पन्न होती हैं, ये मुद्रा की स्वयं की बुराइयाँ नहीं हैं। अतः मुद्रा का गुलाम बनने और परेशानियों को निमंत्रित करने के बजाय इसका एक वफादार नौकर की तरह प्रयोग करना अत्याधिक आवश्यक है। ठीक ही कहा गया है कि मुद्रा, जो मनुष्य के लिए इतने अधिक वरदानों का स्रोत है, यदि नियंत्रित न की जाय तो संकट और उलझन का एक स्रोत बन जाती है।

बोध प्रश्न ख

1) मुद्रा के कुछ प्रमुख कार्यों के संबंध में बताएं।

.....

.....

.....

.....

2) मुद्रा के प्रमुख दोष क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित कथनों में से कौन सही हैं और कौन गलत?

i) मुद्रा मूल्य की सही माप है।

ii) पूंजी को गतिशील बनाकर मुद्रा बड़े पैमाने के उत्पादन में सहायक होती है।

iii) अपनी पसंद के उपभोग के चुनाव में मुद्रा सहायक होती है।

iv) गरीबों के शोषण का एकमात्र कारण मुद्रा है।

v) देशीय व्यापार और विदेश व्यापार इन दोनों ही के विस्तार में मुद्रा सहायक होती है।

4) कॉलम B में दिए गए मुद्रा के कार्यों में से कौन सा कार्य होगा जब निम्नलिखित बात हो (कॉलम A में दी गई क्रियाएं)।

कॉलम A	कॉलम B
क) आपको बताया गया कि चीनी की कीमत 8 रु. किलो है।	(i) विनिमय का माध्यम
ख) आप 10 रु. देकर एक किलो चीनी खरीदते हैं।	(ii) मूल्य का संचय
ग) आप डाकघर से 100 रु. का राष्ट्रीय बचत सर्टीफिकेट खरीदते हैं जिसका भुगतान 6 वर्ष बाद होगा।	(iii) मूल्य की माप
घ) एक व्यक्ति अपने वेतन में से अपनी बचत के रूप में 100 रु. रखता है।	(iv) आस्थगित भुगतानों का मान

1.9 सारांश

आधुनिक अर्थव्यवस्था एक मौद्रिक अर्थव्यवस्था है जिसमें मुद्रा का प्रयोग जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यापक व निर्विघ्न रूप से किया जाता है। मुद्रा के आगमन से पहले विनिमय की वस्तु-विनिमय प्रणाली थी। वस्तु-विनिमय से बहुत सी समस्याएं उत्पन्न हुईं जिनसे न केवल विनिमय की प्रक्रिया कठिन हो गयी बल्कि बाजार का आकार छोटा होने के कारण उत्पादकों को भी बहुत छोटे पैमाने पर उत्पादन करने के लिए मजबूर होना पड़ा। वस्तु विनिमय की इन सीमाओं के कारण अन्त में एक सामान्य विनिमय के माध्यम का आविष्कार हुआ जिसे मुद्रा कहते हैं।

मुद्रा कोई भी वह वस्तु हो सकती है जो आम सहमति से चुनी गई हो और जो भुगतान के साधन के रूप में सामान्यतया स्वीकार्य हो। मुद्रा को कई अवस्थाओं से गुजरना पड़ा, जैसे वस्तु-मुद्रा, धातु-मुद्रा, कागजी मुद्रा, बैंक मुद्रा, आदि। आजकल मुद्रा पूर्ति का अधिकांश भाग कागजी मुद्रा और बैंक मुद्रा के रूप में है।

आज के समय में मुद्रा केवल एक दावा है और इसका यथार्थ मूल्य (intrinsic value) लगभग शून्य है। इसे व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है। क्योंकि यह अधिदिष्ट मुद्रा है, (यानि निर्गमन प्राधिकरण का विधिक समर्थन) अन्यथा यह कागज का केवल एक टुकड़ा मात्र है। मुद्रा की मांग इसलिये होती है कि यह पूर्णतया तरल परिसम्पत्ति है और इसलिये धन को संचित करने का सबसे सुविधाजनक रूप है। धन को संचित करने का दूसरा रूप मुद्रावत परिसम्पत्तियां हैं जो बहुत तरल हैं लेकिन पूर्णतया तरल नहीं है, क्योंकि इनसे वस्तुओं और सेवाओं का लेन-देन करने से पहले इन्हें मुद्रा में परिवर्तित करना होता है।

यद्यपि मुद्रा की स्वयं में कोई उपयोगिता नहीं है क्योंकि यह स्वयं कुछ उत्पादित नहीं करती, फिर भी मुद्रा का आज की दुनियां में बहुत महत्त्व हो गया है क्योंकि इसने उत्पादन बढ़ाने में बहुत सहायता की है। मुद्रा का महत्त्व उन कार्यों से पता चलता है जो यह करती है। मुद्रा के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं: (i) विनिमय का माध्यम, (ii) मूल्य का माप, (iii) स्थगित भुगतानों का मान, (iv) मूल्य पर संचय। इन चार कार्यों के अतिरिक्त यह कई अन्य तरीकों से भी सहायक है जैसे राष्ट्रीय आय का वितरण, मूल्य का हस्तांतरण, साख निर्माण का आधार, उपयोगिता और लाभों को अधिकतम करना और परिसम्पत्तियों को तरलता और एकरूपता प्रदान करना। आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर मुद्रा का प्रभाव इतना अधिक हुआ है कि कोई इसे एक दिन के लिये भी समाप्त करने की कल्पना नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने से आर्थिक क्रियाओं का पूरी तरह से विघटन हो जाएगा।

मुद्रा ने आर्थिक क्रियाओं के सभी क्षेत्रों, जैसे उपभोग, उत्पादन, विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, लोक-वित्त आदि को प्रभावित किया है। मुद्रा के प्रयोग का शुद्ध परिणाम वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में तीव्र वृद्धि का होना है जिससे लोगों के उपभोग का स्तर ऊंचा हुआ है। इसके अतिरिक्त, इसने अधिक श्रमविभाजन, विशिष्टीकरण और टेक्नोलॉजिकल परिवर्तनों द्वारा कार्यक्षमता को बढ़ाने में भी सहायता की है, जिससे राष्ट्रीय आय का स्तर ऊंचा हुआ है। मुद्रा ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार में अत्यधिक सहायता की है।

तथापि, मुद्रा ने ऐसी स्थितियां भी पैदा की है जिससे श्रम के शोषण के अधिक अवसर हो गये और इससे वर्ग संघर्ष और औद्योगिक अशांति हुई। मुद्रा के प्रयोग से सभी प्रकार की सामाजिक बुराइयाँ भी बढ़ीं, जैसे चोरी, डकैती, धोखेबाजी आदि, क्योंकि मुद्रा ने लालच और लोभ को प्रोत्साहित किया। इन सबके अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य में तीव्र उतार-चढ़ाव व्यापार और उद्योग के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन इस बारे में दो राय नहीं हो सकती कि मानव-जाति के लिये मुद्रा अभिशाप कम और वरदान अधिक साबित हुई है।

1.10 शब्दावली

अधिदिष्ट मुद्रा (Fiat money): मुद्रा जिसे लोगों को स्वीकार करना होता है क्योंकि इसे कानूनी समर्थन प्राप्त होता है।

यथार्थ मूल्य (Intrinsic Value): धातु के रूप में सिक्के का मूल्य।

वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System): वस्तुओं और सेवाओं का प्रत्यक्ष और परस्पर विनिमय की प्रणाली।

चैक द्वारा निकाले जाने वाले निक्षेप (Chequable Deposits): बैंक में वे निक्षेप जो चैक के निर्गमन द्वारा किसी भी समय निकाले जा सकते हैं।

श्रम का विशिष्टीकरण (Specialisation of Labour): उत्पादन की वह प्रणाली जिसमें एक श्रमिक उत्पादन प्रक्रिया के एक विशेष भाग में कार्य करता है और बाकी प्रक्रिया दूसरों द्वारा की जाती है।

तरलता (Liquidity): परिसंपत्ति का वह गुण जिससे इसे तुरंत किसी अन्य परिसंपत्ति में परिवर्तित किया जा सकता है।

1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 3) i) आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव
ii) मूल्य की एक सामान्य माप की समस्या
iii) वस्तुओं के उप-विभाजन के कारण हानि
iv) धन के संचय में कठिनाई

4) i) सही ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही

ख 3) i) गलत ii) सही iii) सही iv) गलत v) सही

4) क) iii), ख) i), ग) iv), घ) ii)

1.12 स्वपरख प्रश्न

1) मुद्रा क्या है? मुद्रा और मुद्रावत् में भेद कीजिए।
2) वस्तु-विनिमय प्रणाली की असुविधाएं संक्षेप में बताइए और मुद्रा के विकास का वर्णन कीजिए।
3) मुद्रा की प्रकृति और कार्यों का विवेचन कीजिए।
4) आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व बताइए। क्या मुद्रा को समाप्त किया जा सकता है?
5) 'मुद्रा एक अच्छा नौकर और बुरा मालिक है।' इस कथन को ध्यान में रखकर मुद्रा की बुराइयां बताइए।

नोटः इन प्रश्नों से आपको इस इकाई को और अच्छी तरह से समझने में सहायता मिलेगी। उनके उत्तर देने का प्रयास कीजिए। लेकिन अपने उत्तर विश्वविद्यालय को मत भेजिए। ये सिर्फ आपके अपने अभ्यास के लिए दिए गए हैं।

इकाई 2 मुद्रा की मांग और पूर्ति

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 मुद्रा की मांग का अर्थ
2.3 मुद्रा की मांग के सिद्धांत
  2.3.1 क्लासिकी विचारधारा
  2.3.2 नवं क्लासिकी सिद्धान्त या कैम्ब्रिज समीकरण विचारधारा
  2.3.3 केन्ज का मुद्रा की मांग का सिद्धान्त
2.4 मुद्रा की पूर्ति
2.5 मुद्रा का संचलन-वेग
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.9 स्वपरख प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- मुद्रा की मांग और पूर्ति की संकल्पनाओं को समझ सकें,
- यह जान सकें कि मुद्रा की मांग क्यों की जाती है,
- मुद्रा की मांग के निर्धारक तत्वों को बता सकें,
- मुद्रा की मांग से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों के मूल अन्तर समझ सकें, और
- मुद्रा पूर्ति की परम्परागत और आधुनिक संकल्पनाओं में भेद कर सकें।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने मुद्रा की प्रकृति और आधुनिक जटिल अर्थव्यवस्थाओं की प्रक्रिया में मुद्रा के महत्त्व के बारे में पढ़ा। आपने यह भी पढ़ा था कि मुद्रा चार मूल कार्य करती है यानि, विनिमय का माध्यम, माप की इकाई, स्थगित भुगतानों का मान और मूल्य का संचय। मुद्रा का इन चार कार्यों के लिये प्रयोग करने का मूल कारण यह है कि लोग मुद्रा को एक ऐसी परिसम्पत्ति समझते हैं जिससे वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त किया जा सकता है। अन्य परिसम्पत्तियों की भांति मुद्रा की भी मांग और पूर्ति होती है। मुद्रा की मांग तो मुख्यतया सामान्य जनता द्वारा की जाती है जबकि इसकी सप्लाई सरकार और देश की बैंकिंग प्रणाली द्वारा की जाती है। हम मुद्रा की मांग के अर्थ पर विचार से शुरुआत करते हैं।

2.2 मुद्रा की मांग का अर्थ (Meaning of Demand for Money)

मुद्रा एक स्टॉक चर राशि है। मुद्रा का स्टॉक किसी भी एक समय पर मुद्रा की मात्रा है। परिसम्पत्ति के रूप में मुद्रा की मांग इसलिये की जाती है कि लोग इसे रखना चाहते हैं। मुद्रा को रखने का उद्देश्य और इसे रखने की अवधि अलग-अलग व्यक्तियों के लिये अलग-अलग हो सकती है। एक व्यक्ति वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करने के लिये मुद्रा रख सकता है। वह जमाखोरी (hoarding) के लिये भी इसकी मांग कर सकता है यानि निष्क्रिय नकद रखने के लिये। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल मांग इसके सभी व्यक्तियों/परिवारों की मांगों का कुल योग है।

मुद्रा की मांग का सिद्धान्त दो मूल प्रश्नों से सम्बन्धित है:

1) एक व्यक्ति/परिवार को मुद्रा क्यों चाहिये?

2) मुद्रा की मांग के मुख्य निर्धारक तत्त्व क्या है?

इन प्रश्नों के विभिन्न स्पष्टीकरण ही मुद्रा की मांग के विभिन्न सिद्धान्त हैं। अब इन सिद्धान्तों पर एक-एक करके विचार करेंगे।

2.3 मुद्रा की मांग के सिद्धान्त (Theories of Demand for Money)

मुद्रा की मांग के बारे में दो विचारधाराएं हैं: क्लासिकी और केन्ज़ की विचारधाराएं। क्लासिकी विचारधारा से सम्बन्धित नव-क्लासिकी सिद्धान्त है जो कि उन्हीं मान्यताओं पर आधारित है लेकिन इसमें निर्धारक तत्त्व क्लासिकी सिद्धान्त से भिन्न हैं।

2.3.1 क्लासिकी विचारधारा (The Classical Approach)

इस सिद्धान्त को बहुधा जे.एस. मिल (J.S. Mill) और इर्विंग फिशर (Irving Fisher) जैसे अर्थशास्त्रियों के नाम के साथ जोड़ा जाता है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति और व्यापारिक फर्म वस्तुएं और सेवाएं (साधन सेवाएं शामिल करके) बेचती है और इस मुद्रा का क्रमशः दूसरों द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने में प्रयोग किया जाता है। इसलिये लोग मुद्रा की मांग करते हैं। वास्तव में, इसका अर्थ यह है कि मुद्रा द्वारा किया जाने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 'विनिमय के माध्यम' का कार्य है। अतः क्लासिकी अर्थशास्त्रियों के अनुसार लोग रोजमर्रा के लेन-देन कार्य करने के लिये नगद शेष रखना चाहते हैं। इस प्रकार, एक व्यक्ति या व्यावसायिक फर्म द्वारा मुद्रा की मांग की गयी मात्रा लेन-देनों की मात्रा पर निर्भर करती है। क्योंकि आय के स्तर और लेन-देनों की मात्रा में एक काफी स्थिर सम्बन्ध है इसलिये यदि हम लेन-देनों की मात्रा के अनुमान के रूप में आय के स्तर का प्रयोग करें तो यह नव-क्लासिकल सिद्धान्त बन जाता है।

2.3.2 नव-क्लासिकी सिद्धान्त या कैम्ब्रिज समीकरण विचारधारा (The Neo-classical Theory or The Cambridge Equation Approach)

मुद्रा की मांग का शुरू का नव-क्लासिकल सिद्धान्त कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों एल्फर्ड मार्शल (Alfred Marshall) और ए.सी. पिगू (A.C. Pigou) ने प्रतिपादित किया।

कैम्ब्रिज विचारधारा के अनुसार 'मुद्रा की मांग' (M^d) और 'राष्ट्रीय उत्पाद के मौद्रिक मूल्य' (Y) में एक आनुपातिक सम्बन्ध होता है। इसलिये मुद्रा का मांग फलन निम्न रूप लेता है:

$$M^d = K\ Y \quad \ldots\ldots\ldots\ldots (2.1)$$

इस समीकरण में K एक अचर राशि है जिसका मूल्य शून्य से अधिक व 1 से कम है यानि $0<K<1$. इस समीकरण 2.1 को निम्न रूप में भी लिखा जा सकता है:

$$K = \frac{M^d}{Y} \quad \ldots\ldots\ldots (2.2)$$

$\frac{M^d}{Y}$ का अर्थ है मुद्रा की आय के प्रति रु. मांग (प्रति समय इकाई)। दूसरे शब्दों में, कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों के समीकरण में K औसत रूप में आय का वह अनुपात दर्शायेगा जिसे लोग मुद्रा के रूप में रखना चाहेंगे। इसे चित्र 2.1 द्वारा दर्शाया जा सकता है। इस चित्र में मुद्रा की मांग में परिवर्तन का Y में परिवर्तन से प्रत्यक्ष

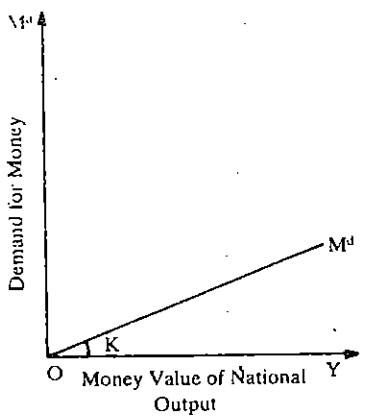

आनुपातिक सम्बन्ध दिखाया गया है, इन दोनों के बीच अनुपात K के बराबर है। यह मान लेकर कि समीकरण में मुद्रा की मांग को केवल मौद्रिक आय के फलन के रूप में दिखाया गया है।

समीकरण (2.1 को एक अन्य रूप में भी लिखा जा सकता है

$$M^d = K.P.Y. \quad \text{..... (2-3)}$$

इसमें P = सामान्य कीमत स्तर

Y = वास्तविक राष्ट्रीय आय

समीकरण (2.3) वास्तविक मुद्रा का मांग फलन है। इस समीकरण की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह M^d का P व Y के साथ आनुपातिक संबंध दर्शाता है। इसका अर्थ है कि सामान्य कीमत स्तर या वास्तविक राष्ट्रीय आय में कोई भी परिवर्तन मुद्रा की मांग में समान और आनुपातिक परिवर्तन लाएगा यानि मुद्रा की मांग की आय लोच और कीमत लोच दोनों इकाई के बराबर है। यह ध्यान रखने योग्य है कि नव-क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की मांग का बहुत सरल फलन प्रतिस्थापन किया और इसका मुद्रा के परिमाण सिद्धांत को विकसित करने में बहुत लाभकारी तरीके से प्रयोग किया गया।

मुद्रा की मांग के क्लासिकी और नव-क्लासिकी सिद्धांतों की तुलना यह दर्शाती है कि यद्यपि इन सिद्धांतों की मूल मान्यताएं एक सी ही हैं, फिर भी यह एक दूसरे से कम से कम एक प्रकार से भिन्न हैं: क्लासिकी विचारधारा कुल लेन-देनों की मात्रा से संबंधित थी जबकि कैम्ब्रिज विचारधारा ने अपना ध्यान मुख्यतया आय के स्तर पर केंद्रित किया।

बोध प्रश्न क

1) मुद्रा की मांग की संकल्पना का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) मुद्रा की मांग के संबंध में क्लासिकी और नव-क्लासिकी सिद्धांतों के बीच समानताएं और असमानताएं बताइए।

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित कथनों में से कौन सही हैं और कौन गलत।

i) मुद्रा के लिए मुख्य रूप से मांग जनता की ओर से होती है।

ii) क्लासिकी सिद्धांत यह मानकर चलता है कि मुद्रा की मांग इसलिए की जाती है कि यह अस्थगित भुगतानों के माध्यम का कार्य करती है।

iii) कैम्ब्रिज विचारधारा के अनुसार मुद्रा के लिए मांग में परिवर्तन उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में राष्ट्रीय उत्पाद के मुद्रा मूल्य में परिवर्तन होता है।

iv) आम जनता मुद्रा को ऐसी परिसंपत्ति मानती है जिससे वस्तुएं और सेवाएं खरीदी जा सकती हैं।

2.3.3 केन्ज़ का मुद्रा की मांग का सिद्धांत (Keynesian Theory of Demand for Money)

जान मिनार्ड केन्ज़ (John Minard Keynes) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दि जनरल थ्योरी ऑफ एम्पलायमेंट, इंटरेस्ट एंड मनी' (The General Theory of Employment, Interest and Money) में मुद्रा की मांग का अपना सिद्धांत दिया। कुछ ऐसे अर्थशास्त्रियों ने, जो केन्ज़ के विश्लेषण से सहमत थे, केन्ज़ के मुद्रा की मांग के सिद्धान्त का और विकास करने में सहायता की।

केन्ज़ ने दो परस्पर-सम्बन्धित प्रश्नों से शुरूआत की:

i) मुद्रा की मांग क्यों की जाती है? और

ii) मुद्रा की मांग पर कौन से प्रभाव पड़ते हैं?

इन प्रश्नों के केन्ज़ द्वारा दिये गये उत्तर ही उसका मुद्रा की मांग का सिद्धान्त है।

मुद्रा की मांग क्यों की जाती है?

हम जानते हैं कि अपने पास रखी गयी मुद्रा से कोई आय प्राप्त नहीं होती। दूसरी ओर मुद्रा की प्रतिस्पर्धी कुछ गैर-मौद्रिक परिसम्पत्तियाँ होती हैं जो अपने धारकों को कुछ प्रतिफल प्रदान करती हैं। अतः मूल प्रश्न यह है कि: मुद्रा के रूप में परिसम्पत्तियों को रखने का प्रयोजन क्या है? इसका सामान्य उत्तर यह है कि केवल मुद्रा ही भुगतान के माध्यम के रूप सामान्यतया स्वीकार्य होती है और यह पूर्णतया तरल होती है। मुद्रा की तरलता का यह गुण अन्य परिसम्पत्तियों में नहीं होता। केन्ज़ ने यही विचार अधिक ठोस रूप में रखा है, उसने मुद्रा को रखने के प्रयोजनों का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया:

क) लेन-देन प्रयोजन (Transactions Motive)
ख) पूर्वोपाय प्रयोजन (Precautionary Motive)
ग) सट्टा प्रयोजन (Speculative Motive)

सभी प्रकार के वर्तमान लेन-देनों को पूरा करने के लिये लोग कुछ नकद राशि रखते हैं, जिसे लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग कहते हैं। जब लोग आकस्मिक व्यय और अप्रत्याशित लाभकारी अवसरों के लिये मुद्रा रखते हैं तो इसे पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग कहते हैं। इन दोनों उद्देश्यों के लिये रखी गयी नकदी के अतिरिक्त जो नकदी रखी जाती है व सट्टे हेतु मुद्रा की मांग कहलाती है। आइये, अब इन तीनों प्रयोजनों पर विस्तार से विचार करते हैं।

मुद्रा की मांग के निर्धारक तत्त्व

क) **लेन-देन प्रयोजन:** आय प्राप्त करने का समय और खर्च करने का समय किसी भी व्यक्ति/फर्म के लिये सामान्यतया एक ही नहीं होते अर्थात् आय प्राप्ति और व्यय करने में कुछ अन्तराल होता है। इस अन्तराल में लेन-देन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कुछ पैसा अलग रख दिया जाता है, **जिसे लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग कहते हैं।** किसी व्यक्ति की आय प्राप्ति और भुगतानों में जितना कम अन्तराल होगा उतनी ही कम लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग होगी। आइये, एक उदाहरण द्वारा इसे समझने की कोशिश करें। मान लीजिये A और B दो व्यक्ति हैं जिनका मासिक वेतन 4,000 रु. है। A को 4,000 रु., महीने के पहले दिन मिलते हैं और B को सप्ताह के पहले दिन 1000 रु. मिलते हैं (मान लीजिये की एक महीने में ठीक चार सप्ताह हैं)। मान लीजिये कि इन दोनों में से प्रत्येक प्रतिदिन समान राशि खर्च करता है और यह राशि इतनी है कि आय-अवधि के अन्त में उनका नकदी शेष शून्य होता है। दोनों व्यक्तियों का लेन-देन हेतु शेष का स्वरूप चित्र 2.2 की सहायता से दिखाया गया है। ऊपर की गयी मान्यता का अर्थ है कि आय अवधि के दौरान औसत लेन-देन हेतु शेष उस अवधि की आय के आधे के बराबर होगा। A का लेन-देन हेतु शेष 2000 रु. (4000 × 1/2) होगा जबकि B का लेन-देन हेतु शेष 500 रु. (1000 × 1/2) होगा।

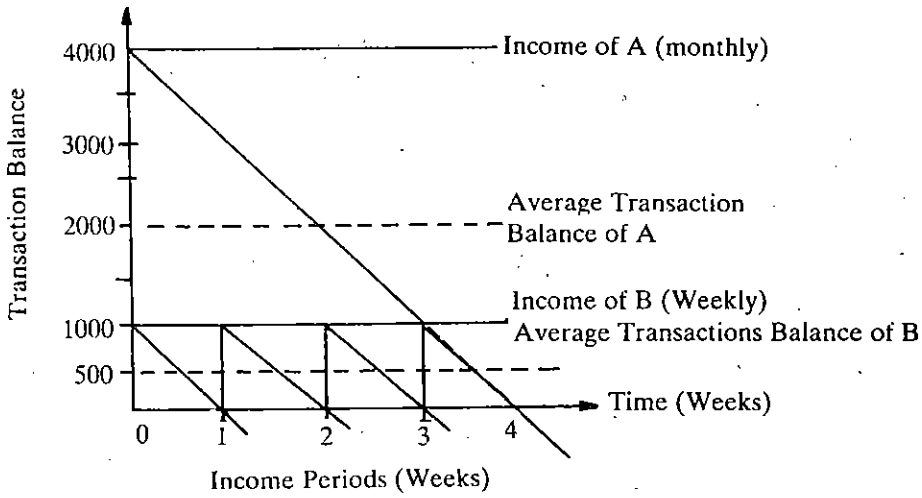

Fig. 2.2 The Transaction Demand for Money and the Income-period.

परन्तु आय अवधि के दौरान व्यय के समान वितरण की मान्यता अत्यधिक सरलीकृत है। कुछ भुगतान महीने के शुरू में किये जाते हैं जैसे बिजली, पानी, टेलीफोन के मासिक बिल, मकान का किराया, बच्चों की स्कूल की फीस और अन्य एकमुश्त भुगतान। इसलिये आय अवधि के शुरू के दौरान नगदी तेजी से घटती है।

व्यक्तियों की भांति व्यवसायिक फर्मों को भी अपने रोजमर्रा के लेन-देनों के लिये नकदी की आवश्यकता होती है। लेकिन उनकी प्राप्तियां और भुगतान उतने नियमित नहीं होते जितने की परिवारों के होते हैं। अतः किसी भी समय उनकी तुलना में फर्मों को सापेक्षिक रूप से अधिक नगद शेष रखना आवश्यक होता है।

ऊपर दिये गये विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि लेन-देनों हेतु मुद्रा की मांग लेन-देनों की मात्रा पर निर्भर करती है जो आय के स्तर से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग (L_1) और मुद्रा आय के स्तर (Y) का यह सम्बन्ध निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जाता है:

$L_1 = f(Y)$ . . .(2.4)

सरलीकरण के लिये यह मान्यता की जाती है कि समीकरण (2.4) में व्यक्त किया गया सम्बन्ध समय के दौरान स्थिर रहता है। इसे चित्र 2.3 की सहायता से दिखाया गया है। यह चित्र दर्शाता है कि लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग में वृद्धि आय में वृद्धि के प्रत्यक्ष अनुपात में होती है।

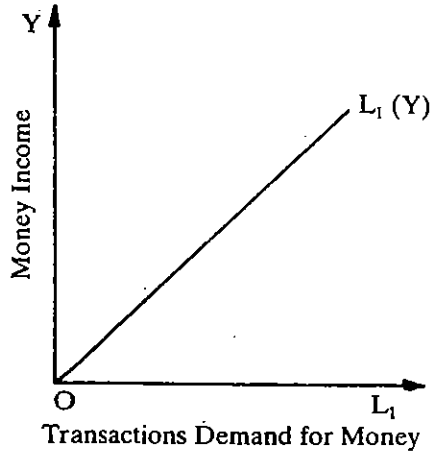

Fig. 2.3 Transactions Demand for Money Function

दीर्घकाल में आय के अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग के लिये प्रासंगिक हैं। उदाहरण के लिये, यदि कहीं भुगतान अवधि मासिक से बदल कर साप्ताहिक की जाती है तो प्रति दिन रखी जाने वाली औसत नकद राशि तेजी से कम हो जाएगी। इसी तरह, विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रीकरण एक अन्य कारक है जिसे ध्यान में रखना चाहिये। जैसे-जैसे वस्तु-विनिमय के रूप में लेन-देन कम होते हैं, लेन-देनों के लिये अधिक नगदी चाहिये।

कीन्स ने लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग को केवल आय का फलन माना। लेकिन बाद के अर्थशास्त्रियों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग ब्याज की दर में परिवर्तनों द्वारा भी प्रभावित होती है। ब्याज की ऊंची दरों पर लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग ब्याज-सापेक्ष (interest-elastic) होती है क्योंकि ऊंची ब्याज की दर का अर्थ है मुद्रा रखने की ऊंची अवसर लागत यानि ब्याज की आय के रूप में अधिक त्याग। ब्याज की बहुत नीची दरों पर लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग ब्याज-निरपेक्ष (interest-inelastic) होती है। लेकिन कीन्स का यह विश्वास था कि लेन-देन के प्रयोजन के लिये मुद्रा मुख्यतया सुविधा के लिये रखी जाती है, ब्याज अर्जित करने के लिये नहीं। लेन-देन हेतु मुद्रा की ब्याज-निरपेक्ष मांग चित्र 2.4 में दिखायी गयी है।

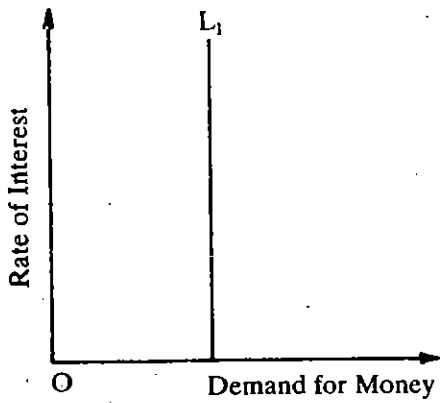

Fig. 2.4 Relation between interest and transaction demand for

ख) **पूर्वोपाय प्रयोजन:** पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग भविष्य की प्राप्तियों और व्ययों में अनिश्चितता के कारण उत्पन्न होती है। एक व्यक्ति/फर्म द्वारा रखी गयी नगदी भविष्य में प्राप्तियों में अप्रत्याशित कमी या व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि या दोनों को पूरा करने में सहायक होती है।

लेन-देन हेतु मांग की भांति, पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग भी आय के स्तर से सम्बन्धित होती है और इसके साथ प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तित होती है। एक छोटी फर्म की तुलना में, अधिक बिक्री करने वाली फर्म को भविष्य की प्राप्तियों और व्ययों के अन्तर से बचाव करने के लिये अधिक नगदी रखनी होती है। इसी तरह एक अमीर व्यक्ति को सावधानी हेतु नगदी की अधिक राशि की आवश्यकता होती है। फर्म की पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग न केवल

आय के स्तर द्वारा प्रभावित होती है बल्कि अन्य कारकों जैसे अर्थव्यवस्था में राजनैतिक स्थिति और व्यापार की स्थितियों द्वारा भी प्रभावित होती है। यदि राजनैतिक स्थिति अस्थिर है या व्यावसायिक स्थिति धूमिल नजर आती है तो पूर्वोपाय हेतु शेषों की मांग अधिक होगी और यदि राजनैतिक स्थिति स्थिर है व व्यावसायिक स्थिति उज्वल नजर आती है तो यह मांग कम होगी। यह ध्यान रखिये कि क्योंकि पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग भी साधारणतया आय के स्तर से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित है, इसलिये केन्ज़ ने मुद्रा की इस मांग को लेन-देन हेतु मुद्रा के मांग के साथ मिला दिया।

ग) **सट्टा प्रयोजन:** केन्ज़ के इस मत का, कि मुद्रा लेन-देन और पूर्वोपाय हेतु रखी जाती है, क्लासिकी सिद्धान्त से कोई टकराव नहीं है। लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग मुद्रा का विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करना ही तो है। यही स्थिति पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग की भी है। लेकिन केन्ज़ ने मुद्रा की मांग का जो तीसरा प्रयोजन बताया है यानि मुद्रा को सट्टे हेतु रखना वह क्लासिकल सिद्धान्त से बिलकुल अलग विचार है। सट्टे हेतु मुद्रा की मांग को कभी-कभी परिसम्पत्ति हेतु मुद्रा की मांग भी कहा जाता है।

सट्टे के प्रयोजन के लिये, मुद्रा की मांग बाण्ड में सट्टा करने के लिये एक परिसम्पत्ति के रूप में की जाती है। ये बाण्ड दीर्घावधि सरकारी प्रतिभूतियां होती हैं। मुद्रा की सट्टे हेतु मांग वे व्यक्ति करते हैं जो बाण्डों को कम कीमत होने पर खरीदकर और अधिक कीमत होने पर बेचकर पूंजीगत लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। ये लोग भविष्य में बाण्डों की कीमतों के बारे में अनुमान लगाते रहते हैं। यदि ये भविष्य में बाण्डों की कीमतों के कम होने की आशा करते हैं तो ये सट्टा हेतु शेष रखेंगे ताकि बाण्डों की कीमत जब वास्तव में कम हो तो ये उन्हें खरीद सकें और जब उनकी कीमतें वास्तव में बढ़ें तो उन्हें ऊंची कीमत पर बेच सकें।

बाण्ड की कीमतें (या बाण्ड का पूंजीगत मूल्य) और ब्याज की दर में विपरीत सम्बन्ध होता है, यानि ब्याज की दर में कमी से बाण्ड की कीमतें बढ़ेंगी और ब्याज की दर में वृद्धि से बाण्ड की कीमतें कम होंगी। यह सम्बन्ध नीचे दिये गये उदाहरण से और स्पष्ट हो जाएगा। मान लीजिये एक 100 रु. के बाण्ड पर वार्षिक प्रतिफल 5% है। मान लीजिए बाजार में ब्याज-दर 10% हो जाती है। क्योंकि ब्याज की बाजार दर की तुलना में इस बाण्ड पर प्रतिफल आधा हो गया है, इसलिये यह स्वाभाविक है कि बाण्ड की कीमत (या बाण्ड का पूंजीगत मूल्य) घटकर 50 रु. हो जाए। इस प्रकार क्योंकि बाण्ड की कीमतें ब्याज-दर में परिवर्तनों से प्रभावित होती हैं, इसलिये सट्टे हेतु मुद्रा की मांग भी ब्याज दरों में परिवर्तन का फलन बन जाती है और इन दोनों में एक विपरीत सम्बन्ध होता है। इनमें यह विपरीत सम्बन्ध दो कारणों से होता है:

1) जैसाकि पहले बताया जा चुका है, केन्ज़ ने बाण्ड रखने को नगदी रखने का विकल्प माना है। इन दोनों में चुनाव करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि जितनी ऊंची ब्याज की दर होगी उतनी ही अधिक नगदी रखने की अवसर लागत होगी। अतः ब्याज की ऊंची दरों पर अधिक बाण्ड और कम नगदी रखी जाएगी।

2) इस विपरीत सम्बन्ध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण संभावनाओं का होना है। ब्याज की ऊंची दरों पर ब्याज-दर के घटने की संभावना होती है। ब्याज-दर में कमी का अर्थ होगा बाण्डों की कीमतों में वृद्धि। यदि बाण्ड की कीमतों में वृद्धि होने की संभावना होती है तो लोग अब अधिक बाण्ड खरीदेंगे जिससे नगदी शेष घट जाएंगे। सट्टे के लिये मुद्रा की मांग और ब्याज की दर के विपरीत सम्बन्ध को चित्र 2.5 की सहायता से दर्शाया गया है।

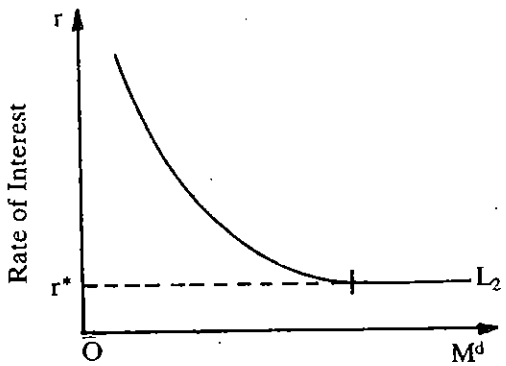

Speculative Demand for Money

जैसे-जैसे ब्याज की दर घटती है, सट्टे हेतु शेष की मांग बढ़ती है। अन्ततः एक स्थिति ऐसी आ सकती है जब ब्याज की दर इतनी कम हो जाए की व्यक्ति अपनी परिसम्पत्तियां केवल नगद ही रखना पसंद करें। दूसरे शब्दों में केन्ज़ का विचार था कि बहुत कम ब्याज की दर पर सट्टे हेतु मुद्रा की मांग पूर्णतया लोचदार हो जाती है। इसे **तरलता जाल (liquidity trap)** कहते है। चित्र 2.5 में ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब ब्याज की दर घटकर r^* हो जाए — यह वह सीमा है जिससे नीचे ब्याज की दर नहीं गिर सकती। वक्र का चपटा हिस्सा यह दर्शाता है कि बाण्ड की कीमतों में भविष्य में गिरावट होने की संभावना इतनी व्यापक है कि प्रत्येक व्यक्ति नगदी रखेगा, बाण्ड नहीं। मुद्रा नीति की दृष्टि से यह स्थिति महत्त्वपूर्ण है। यदि अर्थव्यवस्था तरलता जाल में है

तो इसका अर्थ है कि मुद्रा की पूर्ति बढ़ाये जाने पर भी ब्याज की दर नहीं घटेगी क्योंकि अर्थव्यवस्था में पहले से ही न्यूनतम ब्याज-दर है।

केन्ज़ के सट्टे हेतु मुद्रा की मांग के सिद्धान्त में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्व **'सामान्य ब्याज-दर'** की संकल्पना है। केन्ज़ के अनुसार एक निश्चित समय अवधि पर सट्टेबाज ब्याज की एक विशेष दर 'r' को सामान्य दर मानते हैं। ब्याज की सामान्य दर से तात्पर्य उस दर से है जो सामान्य स्थितियों में बाजार में प्रचलित होगी। इसी सामान्य दर के आधार पर यह पता लगाया जाता है कि ब्याज की वर्तमान दर ऊंची है या नीची। ब्याज की सामान्य दर से ऊंची दर भविष्य में इसके गिरने की संभावनाएं उत्पन्न करेगी और ब्याज की सामान्य दर से नीची दर भविष्य में इसके बढ़ने की संभावनाएं उत्पन्न करेगी। अतः सट्टे हेतु मुद्रा की मांग सामान्य दर से सम्बन्धित वर्तमान ब्याज की दर पर निर्भर करती है।

केन्ज़ ने सक्रिय और निष्क्रिय नगद शेषों में भेद किया है। सक्रिय शेष वे हैं जो लेन-देनों के लिये भुगतान के माध्यम के रूप में प्रयोग किये जाते हैं, बाकी सभी शेष निष्क्रिय शेष हैं। लेन-देन और पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग को कभी-कभी सक्रिय शेषों की मांग भी कहा जाता है जबकि सट्टे हेतु मुद्रा की मांग को निष्क्रिय शेषों की मांग कहा जाता है।

मुद्रा की कुल मांग

केन्ज़ के सिद्धांत के अनुसार मुद्रा की कुल मांग (M^d) L^1 और L_2 का योग है

यानि $M^d = L^1 (Y) + L_2 (r)$ - .... (2.5)

समीकरण (2.5) में $L_1 (Y)$ लेन-देन एवं पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग को दर्शाता है, ये दोनों ही मौद्रिक आय के स्तर (Y) का वर्धमान फलन हैं। $L_2(r)$ सट्टा हेतु मुद्रा की मांग को दर्शाता है जो ब्याज की दर (r) का ह्रासमान फलन है। समीकरण (2.5) मुद्रा की मांग का एक योगात्मक फलन है जो यह दर्शाता है कि मुद्रा की मांग के दो घटक हैं: लेन-देन और पूर्वोपाय हेतु मांग (L_1) जो ब्याज की दर से प्रभावित नहीं होती और सट्टा हेतु मांग जो ब्याज दर से प्रभावित होती है। इसे चित्र 2.6 में दिखाया गया है।

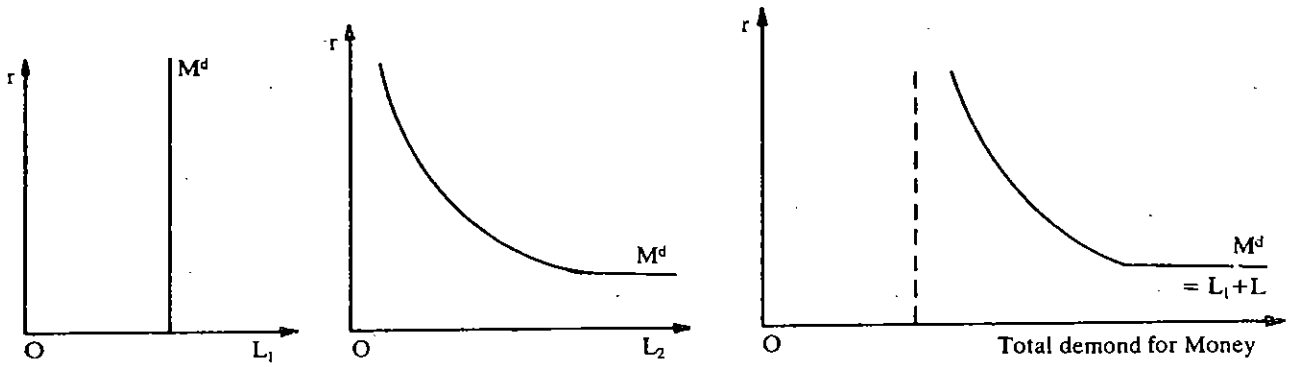

Fig. 2.6. Total Demand for Money (i.e., $L_1 + L_2$)

परन्तु केन्ज के बाद के अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मुद्रा तो बहुत सी परिसम्पत्तियों में से ही एक परिसम्पत्ति है और मुद्रा की एक सी इकाई से तीनों प्रयोजन पूरे हो सकते हैं। अतः मुद्रा की मांग को वास्तव में विभिन्न प्रयोजनों के लिये विभक्त नहीं किया जा सकता जैसा कि योगात्मक फलन दर्शाता है। टोबिन (Tobin) और बोमल (Baumol) जैसे अर्थशास्त्रियों ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग केवल आय-सापेक्ष ही नहीं है। बल्कि ब्याज-सापेक्ष भी है। यही तर्क पूर्वोपाय हेतु मांग के लिये भी दिया जा सकता है। दूसरी ओर, सट्टा हेतु मांग को कुल धन के वर्धमान फलन के रूप में दिखाया जा सकता है। यदि आय को धन मान लें तो यह दिखाया जा सकता है कि सट्टा हेतु मांग ब्याज की दर और आय के स्तर पर भी निर्भर करती है।

इसके आधार पर हम समीकरण (2.5) को संशोधित करके निम्नलिखित रूप दे सकते हैं:

$M^d = L (Y, r)$ ..... (2.6)

इस समीकरण में मुद्रा की मांग (M^d), Y से धनात्मक रूप से संबंधित है और r के साथ इसका ऋणात्मक संबंध है।

बोध प्रश्न ख

1) मुद्रा की मांग के संबंध में क्लासिकी सिद्धांत और केन्ज़वादी सिद्धांत के बीच मुख्य अंतर क्या है?

.....

.....

2) मुद्रा संचय के लिए सट्टा प्रयोजन का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

3) तरलता जाल (liquidity trap) क्या है?

.....

.....

.....

4) निम्नलिखित कथनों में से कौन सही हैं और कौन गलत?

i) निष्क्रिय नकदी शेष का प्रयोग लेन-देन के कार्य में किया जाता है।

ii) आय के स्तर और लेन-देन शेष के बीच ऋणात्मक संबंध होता है।

iii) मुद्रा के लिए सट्टा मांग और आय स्तर के बीच विपरीत का संबंध होता है।

iv) तरलता जाल (liquidity trap) की स्थिति में मुद्रा नीति अत्यंत कुशल सिद्ध होती है।

2.4 मुद्रा की पूर्ति (The Supply of Money)

एक अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति से तात्पर्य किसी भी समय पर मुद्रा की उस मात्रा से है जो परिवारों और फर्मों द्वारा लेन-देनों और ऋणों को निपटाने के लिये रखी गयी है। मुद्रा पूर्ति के सामान्यतया माने जाने वाले माप में हम सरकार द्वारा रखी गयी मुद्रा और व्यापारिक-बैंकिंग क्षेत्र में पड़ी मुद्रा को शामिल नहीं करते। ऐसा मुख्यतया मुद्रा का निर्माण करने वालों (सरकार और बैंकिंग प्रणाली) को मुद्रा की मांग करने वालों (परिवार, फर्म एवं संस्थाएं) से पृथक् करने के लिये किया जाता है।

किसी भी समय पर मुद्रा की पूर्ति में निम्नलिखित को शामिल किया जाता है:

1) **करेंसी (Currency):** इसमें कागजी नोट और सिक्के, जो प्रचलन में हैं, शामिल किये जाते हैं। कागजी नोटों में केन्द्रीय बैंक यानि भारत के रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित 2 रु. और उससे अधिक मूल्य वर्ग के नोट तथा भारत सरकार द्वारा निर्गमित 1 रु. के नोट आते हैं।

2) **शुद्ध मांग निक्षेप (Net demand deposits):** बैंक के कुल मांग निक्षेपों में जनता से निक्षेप और एक बैंक के दूसरे बैंक के पास निक्षेप (यानि अन्तः बैंक निक्षेप) शामिल होते हैं। मुद्रा की पूर्ति में पहली प्रकार के मांग निक्षेप (जनता के निक्षेप) ही शामिल किये जाते हैं क्योंकि इसकी परिभाषा के आधार पर मुद्रा एक ऐसी चीज है जो जनता द्वारा रखी जाती है।

3) **भारत के रिजर्व बैंक के पास 'अन्य निक्षेप':** इसमें अर्ध-सरकारी संस्थाओं, विदेशी केन्द्रीय बैंकों, विदेशी सरकारों, विश्व बैंक आदि के निक्षेप शामिल किये जाते हैं। भारत में कुल मुद्रा पूर्ति में इसका अनुपात लगभग नगण्य है।

मुद्रा पूर्ति के परम्परागत माप में (जिसे M_1 कहते हैं) सिक्के नोट जो जनता के पास प्रचलन में हैं और शुद्ध मांग निक्षेप शामिल किये जाते हैं। इस माप को बहुधा मुद्रा पूर्ति का एक संकुचित माप कहा जाता है।

मुद्रा पूर्ति पर जो आधुनिक साहित्य है उसमें मुद्रा और तरलता के अन्तर को काफी महत्व दिया गया है। इस संदर्भ में यह देखा जा सकता है कि केवल मुद्रा (परम्परागत अर्थ में) ही लोगों के पास खर्च करने के लिये तरल परिसम्पत्तियों का भाग नहीं है बल्कि मुद्रावत् भी इसका एक भाग है। इसलिये लोगों की व्यय करने की क्षमता अर्थव्यवस्था में कुल तरलता की राशि पर निर्भर करती है और कुल तरलता मुद्रा के कुल स्टॉक और मुद्रावत परिसम्पत्तियों, दोनों पर निर्भर करती है। **मुद्रावत (Near money) में निम्नलिखित निक्षेप शामिल किये जाते हैं:** i) डाक घर बचत बैंकों और व्यापारिक बैंकों में बचत निक्षेप (saving deposits), और ii) बैंकों की मियादी जमा (time deposits) अन्तः बैंक निक्षेपों के शुद्ध निक्षेप)। हम जानते है कि बचत निक्षेप में चैक सुविधा उपलब्ध होती है और इससे तरलता बढ़ती है। इसी प्रकार सावधि निक्षेपों (fixed deposits) को परिपक्वता से पहले भुनाया जा सकता है या उनके विरुद्ध ऋण लिया जा सकता है और ऐसा करने से तरलता बढ़ती है।

1967-68 तक रिजर्व बैंक आफ इंडिया ने मुद्रा पूर्ति की परिभाषा केवल परम्परागत तरीके से ही दी (यानि M_1)! लेकिन 1967-68 से इसने मुद्रा पूर्ति का एक अधिक विस्तृत माप प्रकाशित करना भी शुरू किया और इसे **समग्र मौद्रिक साधन, Aggregate Monetary Resources (AMR)** कहा गया। 1977 से रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने मुद्रा पूर्ति के दो और माप शुरू किये जिन्हें M_2 और M_4 कहा गया। रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये मुद्रा पूर्ति के चार इन वैकल्पिक मापों को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है:

M या M_1 = लोगों के पास करेंसी + लोगों के मांग निक्षेप

M_2 = M_1 + डाकघर बचत बैंकों में बचत निक्षेप

AMR या M_3 = M_1 + लोगों के बैंकों में मियादी जमा (सावधि निक्षेप), और

M_4 = M_3 + कुल डाक घर निक्षेप

M_1 और M_3 वैचारिक रूप में क्रमशः M और AMR ही हैं। लेकिन इनमें जो मदें शामिल की जाती हैं उनमें अन्तर है। M_1 और M_3 में सहकारी बैंकिंग क्षेत्र भी शामिल किया जाता है।

डाक घर बचत निक्षेप, व्यापारिक बैंक निक्षेपों से काफी कम तरल हैं। डाक घर निक्षेप मांग कर निकाले जा सकते है लेकिन:

i) इनका चैक द्वारा निकाले जाने वाला भाग बहुत छोटा होता है।

ii) किसी भी एक सप्ताह में इन्हें जितनी बार निकाला जा सकता है उस पर पाबन्दियाँ हैं।

iii) किसी भी एक समय निकाले जाने वाली राशि की भी अधिकतम सीमा होती है (जब तक कि डाक घर को इसके बारे में अग्रिम नोटिस न दिया गया हो)।

अतः डाक घर बचत निक्षेप विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य नहीं कर सकते और ये व्यापारिक बैंकों के बचत निक्षेपों से कम तरल हैं। डाक घर बचत निक्षेपों को व्यापारिक बैंक निक्षेपों से अलग दिखाने के लिये ही रिजर्व बैंक आफ इंडिया ने मुद्रा पूर्ति की M_2 और M_4 श्रृंखला चलाई।

मुद्रा पूर्ति को प्रभावित करने वाली एजेंसियां

लोगों के पास मुद्रा पूर्ति की मात्रा मुख्यतया देश के केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों द्वारा प्रभावित होती है। अपनी राजकोषीय नीति के द्वारा सरकार भी कुछ हद तक मुद्रा पूर्ति को प्रभावित कर सकती है।

केन्द्रीय बैंक और मुद्रा पूर्ति: एक देश का केन्द्रीय बैंक मुद्रा पूर्ति को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरीकों से प्रभावित करता है। यह करेंसी नोटों व सिक्कों के निर्गमन के लिये प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होता है। दूसरी ओर यह निक्षेपों को परोक्ष रूप से प्रभावित करके मुद्रा पूर्ति को प्रभावित कर सकता है। हम जानते हैं कि व्यापारिक बैंक अपने नग़द शेषों को ध्यान में रखकर निक्षेपों का निर्माण कर सकता है। यदि केन्द्रीय बैंक ऐसी विधियों का प्रयोग करता है कि व्यापारिक बैंकों के नग़द शेष घट जाए तो वे कम चरण और अग्रिम दे सकेंगे और कम निक्षेपों का निर्माण कर सकेंगे। इसी प्रकार यदि केन्द्रीय बैंक अपनी शक्ति का प्रयोग व्यापारिक बैंकों के नग़द शेष बढ़ाने के लिये करता है तो इसका ऊपर बताये गये प्रभाव से बिलकुल विपरीत प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक मुद्रा पूर्ति को प्रभावित करने के लिये नियंत्रण के विभिन्न उपायों का प्रयोग करता है जैसे कि व्यापारिक बैंकों की सांविधिक न्यूनतम रक्षित निधि में परिवर्तन, बैंकों के ब्याज दर ढांचे में परिवर्तन खुले बाजार की क्रियाएं और व्यापारिक बैंकों के लिए ऋण देने सम्बन्धी नीति।

व्यापारिक बैंक और मुद्रा की पूर्ति: व्यापारिक बैंक मांग निक्षेपों या बैंक मुद्रा का निर्माण कर सकते हैं। इन निक्षेपों का निर्माण दो तरीकों से किया जाता है:

i) जब लोग अपने नग़द पैसे को बैंक में जमा कराते हैं तो वे अपने नगद पैसे को मांग निक्षेपों में परिवर्तित कर देते हैं। ये निक्षेप प्राथमिक निक्षेप कहलाते हैं।

ii) इन प्राथमिक निक्षेपों से जो नग़दी बैंकिंग व्यवस्था में आती है उससे या तो बाजार से वित्तीय सम्पत्तियां (जैसे बिल, बाण्ड आदि) खरीद ली जाती हैं या उसे उद्योग और व्यापार को उधार दे दिया जाता है। जब कोई बैंक किसी ग्राहक को ऋण देता है तो वह उसे नग़द पैसा नहीं देता, बल्कि ग्राहक के खाते में ऋण की राशि क्रेडिट कर देता है। क्योंकि इन निक्षेपों का प्राथमिक निक्षेपों के आधार पर निर्माण किया गया है इसलिये इन्हें व्युत्पन्न निक्षेप कहते हैं। यदि बैंक एक दी हुई प्राथमिक निक्षेपों की राशि पर अधिक ऋण दे सकें तो इससे बैंक मुद्रा और अधिक हो जाएगी। यह ध्यान रखें कि सावधि निक्षेप साख निर्माण का आधार नहीं बनते क्योंकि ये भुगतानों को माध्यम के रूप में प्रयोग नहीं किये जाते — ये तो केवल एक निश्चित समय के लिये बचतें हैं। बैंकिंग प्रणाली की बैंक मुद्रा का निर्माण करने की सामर्थ्य निम्नलिखित कारकों पर निर्भर करती है:

i) बैंकिंग प्रणाली के पास नगदी की उपलब्धता;

ii) बैंकिंग प्रणाली के ऋण लेने की इच्छा;

iii) नग़दी व बैंक निक्षेपों का अनुपात;

iv) देश के केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण नीति।

सरकार और मुद्रा की पूर्ति: सरकार भी मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करती है। जब भी सरकार कर लगाती या जनता से ऋण लेती है तो वह जनता के पास नगदी की मात्रा को कम कर देती है। दूसरी ओर जब सरकार यह देखती है कि कराधान व सार्वजनिक ऋण से उसकी प्राप्तियां उसके खर्ची से कम हैं तो वह केन्द्रीय बैंक से (अपनी प्रतिभूतियों पर) अपने देयताओं को भुगतान करने के लिये ऋण लेती है। इससे जनता के पास और बैंकिंग प्रणाली के पास नगदी की उपलब्धता बढ़ जाएगी। जैसे-जैसे जनता व बैंकिंग प्रणाली के पास नगदी की उपलब्धता परिवर्तित होती है वैसे-वैसे अर्थव्यवस्था की साख को बढ़ाने या घटाने की क्षमता भी परिवर्तित होती है।

इसलिये, निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि निम्नलिखित स्थितियों में अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति बढ़ेगी:

i) जब जनता अपने पास कम नगदी रखना चाहती है और बैंकिंग प्रणाली से अधिक ऋण लेने को तैयार है;

ii) जब व्यापारिक बैंक अधिक साख का निर्माण करें;

iii) जब केन्द्रीय बैंक अधिक करेंसी का निर्गमन करे या ऐसी मुद्रा नीति अपनाये जो साख के विस्तार में सहायक हो।

2.5 मुद्रा का संचलन-वेग (Velocity of Money)

मुद्रा की पूर्ति पर अब तक जो विचार किया गया है उसमें इसे किसी एक समय पर मुद्रा की मात्रा बताया गया है। लेकिन इर्विंग फिशर (Irwing Fisher) व मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अन्य प्रतिपादक एक समय पर मुद्रा की पूर्ति के स्थान पर एक समय के दौरान मुद्रा की पूर्ति की संकल्पना में अधिक दिलचस्पी रखते थे।

फिशर ने लेन-देनों के संचलन वेग (transactions velocity) की संकल्पना का प्रयोग एक दी हुई अवधि के दौरान कुल लेने-देनों का मौद्रिक मूल्य ज्ञात करने के लिये किया। लेन-देन संचलन वेग को एक दी हुई अवधि के दौरान, लेन-देन क्रियाओं के लिये, मुद्रा की एक इकाई औसतन कितने हाथों से गुजरती है, के रूप में परिभाषित किया गया। उदाहरण के लिये, यदि एक सौ रु. का नोट दी हुई अवधि के दौरान औसतन 5 हाथों से गुजरता है तो इसका अर्थ है कि उस सौ रु. के नोट से 500 रु. के मूल्य के लेन-देन हुए। अतः लेन-देन संचलन वेग 5 है। ऊंचे संचलन वेग का अर्थ है कुल लेन-देनों के लिये मुद्रा की कम मात्रा की आवश्यकता। मौद्रिक लेन-देन संचलन वेग भुगतानों की प्रथा और अर्थव्यवस्था की अन्य संरचनात्मक विशेषताओं पर निर्भर करता है। क्योंकि इन निर्धारक तत्वों में परिवर्तन बहुत ही धीमा होता है अतः यह माना जाता है कि मौद्रिक लेन-देन संचलन वेग में भी धीमें परिवर्तन होते है।

राष्ट्रीय आय लेखांकन प्रणाली का विकास होने से लेन-देन प्रचलन वेग का स्थान मौद्रिक आय संचलन वेग (income velocity) ने ले लिया। मौद्रिक आय संचलन वेग को मुद्रा की इकाई की उस औसत संख्या के रूप में परिभाषित किया जाता है जितनी बार इसे केवल अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं के भुगतान के लिये प्रयोग किया जाता है। स्वाभाविक है कि मौद्रिक आय चलन वेग, मौद्रिक लेन-देन चलन वेग से कम होगा क्योंकि लेन-देन संचलन वेग से तात्पर्य सभी लेन-देनों से है। मौद्रिक आय चलन वेग संरचनात्मक कारकों जैसे भुगतान-प्रथा, व्यवसाय संगठन और अर्थव्यवस्था में भुगतानों के हस्तांतरण के लिये क्रियाशील प्रक्रिया पर निर्भर करता है। अर्थव्यवस्था में मुद्रा के निष्क्रिय शेषों (जमाखोरी) का आय संचलन वेग शून्य होगा। मुद्रा के कुल स्टॉक में जितना अधिक भाग निष्क्रिय मुद्रा का होगा उतना ही कम मुद्रा का स्टॉक अंतिम वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने के लिये उपलब्ध होगा और इस कारण मौद्रिक आय संचलन वेग कम होगा।

बोध प्रश्न ग

1) मुद्रा पूर्ति के अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं:

.....

.....

.....

2) भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित मुद्रा पूर्ति की विभिन्न मापों के बीच अंतर बताइए:

M_1 = ...

M_2 = ...

M_3 = ...

M_4 = ...

3) निम्नलिखित कथनों में से कौन सही है और कौन गलत:

i) किसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का कुल स्टॉक उस अर्थव्यवस्था की समस्त तरलता का निर्धारण करता है।

ii) M_1 और M_3 के अंतर्गत जो मदें आती है वे AMR (समस्त मौद्रिक साधनों) के अंतर्गत आने वाली मदों से भिन्न होती हैं।

iii) वाणिज्य बैंकों में बचत जमा का तुलना में डाक घरों में बचत जमा में बहुत अधिक तरलता होती है।

iv) वाणिज्य बैंक प्राथमिक निक्षेपों का प्रयोग साख निर्माण के लिए करते हैं।

v) सरकार के पास की मुद्रा को मुद्रा पूर्ति की माप में शामिल नहीं किया जाता।

2.6 सारांश

मुद्रा किसी भी आधुनिक आर्थिक प्रणाली का एक अभिन्न अंग है। मुद्रा के दो मुख्य कार्य विनिमय का माध्यम और मूल्य का संचय हैं। लोग तीन प्रयोजनों से अपने पास नगद पैसा रखना चाहते हैं। ये हैं — लेन-देन, पूर्वोपाय और सट्टा। पहले दो प्रयोजनों का सम्बन्ध मुद्रा की विनिमय का माध्यम की विशेषता से है और तीसरे प्रयोजन (सट्टा प्रयोजन) का सम्बन्ध मुद्रा की मूल्य संचय की विशेषता से है। क्लासिकी व नव-क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने केवल पहले दो प्रयोजनों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जबकि केन्ज ने मुद्रा की मांग के सिद्धान्त में तीनों का समावेश किया। तीसरे प्रयोजन के बताने का श्रेय केवल केन्ज को जाता है और मुद्रा सिद्धान्त के लिये यह एक महत्वपूर्ण देन साबित हुई।

एक अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति या मुद्रा का स्टॉक जनता द्वारा किसी भी समय पर अपने पास रखी जाने वाली मुद्रा है। जनता से तात्पर्य व्यक्तियों, फर्मों और संस्थाओं से है। रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा मुद्रा पूर्ति के कई मांग माप शुरू किये गये जैसे M_1, M_2, M_3 और M_4। इनमें से 1978 से पहले M_1 माप का सामान्यतया प्रयोग किया जाता था। इसमें जनता द्वारा रखी गयी करेंसी और मांग निक्षेप शामिल किये जाते हैं। लेकिन 1978 के बाद, M_3 माप (जिसमें अन्तः बैंकों के शुद्ध सावधि निक्षेप शामिल किये जाते हैं) को M_1 के स्थान पर एक लोकप्रिय माप के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। M_1 को मुद्रा पूर्ति की एक संकुचित परिभाषा कहा जाता है और M_3 को एक विस्तृत परिभाषा कहा जाता है। यह ध्यान रखिये कि इन मापों के अन्तर संकल्पनात्मक नहीं बल्कि केवल इनके क्षेत्र में अन्तर है।

किसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति को मूलतः तीन एजेंट प्रभावित करते हैं: अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक और सरकार। केन्द्रीय बैंक करेंसी नोटों और सिक्कों के निर्गमन द्वारा और अपनी मौद्रिक नीति व साख निर्माण पर नियंत्रण द्वारा मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करता है। प्राथमिक निक्षेपों के आधार पर व्यापारिक बैंक व्युत्पन्न निक्षेपों का निर्माण करते हैं और साख का निर्माण करते हैं। सरकार भी विभिन्न कराधान, सार्वजनिक ऋण और व्यय नीतियों द्वारा मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित कर सकती है।

मुद्रा की एक इकाई एक दी हुई समय अवधि में जितने हाथों से गुजरती है उसे संचलन वेग कहते हैं। औसतन जितनी बार मुद्रा की एक इकाई एक निर्दिष्ट समय में सभी प्रकार के लेन-देनों के लिये एक से दूसरे के पास जाती है, उसे मौद्रिक लेन-देन संचलन वेग कहते हैं। जबकि मौद्रिक आय संचलन वेग का अर्थ है जितनी बार मुद्रा की एक इकाई केवल अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं का भुगतान करने के लिये एक निश्चित समय अवधि में प्रयोग की जाती है। यह माना जाता है कि संचलन वेग में बहुत धीमा परिवर्तन होता है।

2.7 शब्दावली

मुद्रा की मांग (Demand for Money): अपने पास मुद्रा रखना।

लेन-देन हेतु मुद्रा की मांग (Transaction Demand for Money): दिन-प्रति-दिन के लेन-देन या चल रहे कामकाज से निपटने के लिए अपने पास रखी जाने वाली मुद्रा की राशि।

पूर्वोपाय हेतु मुद्रा की मांग (Precautionary Demand for Money): व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि या विलंब से भुगतान की स्थिति से निपटने के लिए मांग की गई मुद्रा की राशि।

सट्टा हेतु मुद्रा की मांग (Speculative Demand for Money): सट्टेबाजों द्वारा मांग की गई मुद्रा राशि जिसकी सहायता से वे बांडों में सट्टेबाजी करके उनकी कीमतों के गिरने पर उन्हें खरीदकर और कीमतों के चढ़ने पर उन्हें बेच कर पूंजीगत लाभ कमा सकें।

तरलता जाल (Liquidity Trap): बांडों के बाजार में वह स्थिति जब ब्याज की दर गिरकर न्यूनतम स्तर तक आ जाती है और सट्टा हेतु मुद्रा की मांग पूर्णतः लोचदार हो जाती है।

ब्याज की सामान्य दर (Normal Rate of Interest) : ब्याज की वह दर जो सामान्य स्थितियों में बाजार में होती है। इस सामान्य दर के संदर्भ में ही चालू दर को ऊँचा या नीचा माना जाता है।

सक्रिय और निष्क्रिय नकद शेष (Active and Idle Cash Balances): जिन नकद शेषों का प्रयोग लेन-देनों के भुगतान के माध्यम के रूप में किया जाता है उन्हें सक्रिय शेष कहा जाता है। बाकी बचे नकद शेषों को निष्क्रिय नकद शेष कहा जाता है।

मुद्रा की संकुचित परिभाषा (Narrow Definition of Money): भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा दी हुई मुद्रा पूर्ति की माप जिसके अनुसार जनता द्वारा अपने पास रखी हुई करेंसी और मांग जमा के कुल योग को मुद्रा कहा जाता है।

मुद्रा की व्यापक परिभाषा (Broader Definition of Money): मुद्रा की व्यापक और संकुचित परिभाषाओं के बीच एक मात्र अंतर बैंकों की निवल सावधि जमा से संबंधित है। मुद्रा पूर्ति की व्यापक परिभाषा के अंतर्गत निवल सावधि जमा भी आ जाती है।

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 3 i) सही ii) गलत
iii) सही iv) सही

ख 4 i) गलत ii) गलत
iii) सही iv) गलत

ग 3 i) गलत ii) सही
iii) गलत iv) सही
v) सही

2.9 स्वपरख प्रश्न

1) मुद्रा की मांग क्यों की जाती है? इस संबंध में केन्जवादी विचारधारा क्लासिकी विचारधारा से किस प्रकार भिन्न है?
2) मुद्रा को अपने पास रखने के विभिन्न प्रयोजनों के संबंध में विवेचन कीजिए। मुद्रा की मांग क्या आय के स्तर और ब्याज की दर का फलन है?
3) भारत में उपयोग में लाई जाने वाली मुद्रा पूर्ति की विभिन्न माप कौन-कौन सी हैं? इनमें से किसका प्रयोग सर्वाधिक होता है?
4) मुद्रा की संकुचित परिभाषा मुद्रा की व्यापक परिभाषा से किस रूप में भिन्न है?

नोट: इन प्रश्नों से आपको इस इकाई को और अच्छी तरह से समझने में सहायता मिलेगी। उनके उत्तर देने का प्रयास कीजिए। लेकिन अपने उत्तर विश्वविद्यालय को मत भेजिए। ये सिर्फ आपके अपने अभ्यास के लिए दिए गए हैं।

इकाई 3 मुद्रा और कीमतें

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
  3.2.1 नगद लेन-देन दृष्टिकोण
  3.2.2 नगद शेष दृष्टिकोण
  3.2.3 नगद शेष दृष्टिकोण और नगद लेन-देन दृष्टिकोण की तुलना
3.3 केन्ज़ का मुद्रा और कीमतों का सिद्धान्त
3.4 मिल्टन फ्रिडमैन का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
3.5 सारांश
3.6 शब्दावली
3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.8 स्वपरख प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- मुद्रा के मुल्य और कीमत स्तर को निर्धारित करने वाले कारकों को बता सकें,
- मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बता सकें,
- मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के प्रति नगद लेन-देन और नगद शेष दृष्टिकोणों के अन्तर बता सकें,
- मुद्रा के क्लासिकी सिद्धान्त की तुलना में केन्ज़ के सिद्धान्त की श्रेष्ठता बता सकें, और
- मिल्टन फ्रेडमैन द्वारा मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के पुनः विवरण का विश्लेषण कर सकें।

3.1 प्रस्तावना

मुद्रा के मूल्य और अन्य चीजों के मूल्य में एक मूल अन्तर है। मुद्रा का मूल्य सामान्य क्रय शक्ति दर्शाता है यानि 'सामान्य वस्तुओं' पर अधिकार दर्शाता है। अन्य वस्तुओं की ऊँची कीमत मुद्रा के नीचे विनिमय मूल्य में प्रतिबिम्बित होती है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की नीची कीमत का अर्थ है मुद्रा का ऊँचा विनिमय मूल्य। इसलिये मुद्रा का मूल्य सामान्य कीमत स्तर (b) का व्युत्क्रम (reciprocal) है और इसे 1/P के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

मूल समस्या उन कारकों को जानने की है जो मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करते हैं या मुद्रा की क्रय शक्ति में जिन कारणों से परिवर्तन होता है उन्हें स्पष्ट करने की है। इस इकाई में आप मुद्रा के मूल्य और कीमतों से संबंधित विभिन्न सिद्धान्तों के बारे में पढ़ेंगे। इस में आप मुद्रा के परिमाण सिद्धांत, केन्जवादी सिद्धांत और मिल्टन फ्रिडमैन के मुद्रा के परिमाण सिद्धांत के संबंध में विशेष रूप से पढ़ेंगे।

3.2 मुद्रा का परिमाण सिद्धांत (Quantity Theory of Money)

क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने सामान्य कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तनों को 'मुद्रा के परिमाण सिद्धांत' की सहायता से समझाने का प्रयास किया। यह सिद्धांत अमेरिका के अर्थशास्त्री इर्विंग फिशर के नाम के साथ जुड़ा हुआ है, यद्यपि इस सिद्धांत में जो विचार हैं उनकी शुरुआत डेविन जट्टी (16वीं शदी के इटली के लेखक), बोडिन, कौंटिलोन और ह्यूम से हुई।

मुद्रा के परिमाण सिद्धांत के अनुसार मुद्रा का मूल्य किसी दिए हुए समय पर अर्थव्यवस्था में संचलन में मुद्रा की मात्र पर निर्भर करता है।

तत्वतः मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह मानता है कि सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तनों को प्रचलन में मुद्रा के परिमाण में परिवर्तनों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इसलिए मुद्रा के परिमाण में वृद्धि से सामान्य कीमत स्तर में वृद्धि होती है और मुद्रा के परिमाण में कमी होने से सामान्य कीमत स्तर में कमी आती है। परम्परागत रूप में **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह बताता है कि अन्य बाते पूर्ववत् रहने पर, मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने से सामान्य कीमत स्तर में प्रत्यक्ष व आनुपातिक परिवर्तन होते हैं।** प्रो. टॉसिग (Towssig) के शब्दों में "अन्य बातें पूर्ववत् रहने पर, मुद्रा की मात्रा दुगनी करने से कीमतें पहले से दुगनी हो जाएंगी, और मुद्रा का मूल्य आधा हो जाएगा। मुद्रा की मात्रा आधी करने से, अन्य बातें पूर्ववत् रहने पर, कीमतें पहले से आधी हो जाएंगी और मुद्रा का मूल्य दुगना हो जाएगा।"

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की दो व्याख्याएं हैं: i) नगद लेन-देन दृष्टिकोण या **फिशर की व्याख्या** और (ii) नगद-शेष दृष्टिकोण या **कैम्बिज व्याख्या।**
आइये इन दोनों दृष्टकोणों के अन्तर को समझें।

3.2.1 नगद लेन-देन दृष्टिकोण (Cash Transaction Approach)

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के नगद लेन-देन दृष्टिकोण का श्रेय प्रायः साइमन न्यूकाम (Simon Newcome) और इर्विंग फिशर को दिया जाता है इसलिए इसे फिशर का समीकरण भी कहा जाता है। फिशर ने सामान्य कीमत स्तर (P) में परिवर्तनों को संचलन में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों (M), इसके संचलन वेग (V) और लेन-देनों की मात्रा (T) की सहायता से स्पष्ट किया। फिशर का विनिमय का समीकरण निम्नलिखित है:

$$MV = PT \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots \quad (1)$$

या मुद्रा की समस्त पूर्ति = कुल वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य

फिशर के अनुसार किसी भी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा निम्नलिखित दो बातों पर निर्भर करती है:

i) लोगों के पास नगदी की मात्रा (M), और

ii) नगदी का प्रचलन वेग (V).

अर्थव्यवस्था में नगदी निष्क्रिय नहीं रहती (जमाखोरी की स्थिति को छोड़कर)। यह लेन-देनों की आवश्यकताओं को पूरा करती है और इस प्रकार एक से दूसरे के पास जाती है। **एक दी हुई समायावधि में एक करेंसी नोट जितने हाथों से गुजरती है या जितनी बार उसका प्रयोग किया जाता है उसे उसका संचलन वेग (velocity of circulation) कहते हैं।** उदाहरण के लिये यदि कोई एक सौ रु. का नोट एक दिन में 4 हाथों से गुजरता है तो इससे लेन-देनों की 400 रु. की आवश्यकता पूरी हुई यानि इस 400 रु. (100×4) के लेन-देन किये गये। यद्यपि नगदी (M) 100 रु. थी लेकिन मुद्रा की मात्रा (MV) 400 रु. थी। लेकिन मुद्रा की सभी इकाइयों का संचलन समान वेग से नहीं होता, कुछ नोटों का संचलन वेग अधिक हो जाता है, तो कुछ का कम। इसलिये अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा का पता लगाने के लिये हमें मुद्रा के **औसत चलन प्रचलन वेग** आकलन करना होगा। **मुद्रा के औसत प्रचलन वेग को अर्थव्यवस्था में वर्ष के दौरान नगदी की मात्रा से गुणा करने पर अर्थव्यवस्था में उस वर्ष के दौरान मुद्रा की कुल पूर्ति ज्ञात हो जाती है।**

यह एक सामान्य ज्ञान की बात है कि मुद्रा की मांग मुख्यतया लेन-देनों के प्रयोजन से की जाती है। अतः एक दी हुई अवधि में मुद्रा की कुल मांग उस अवधि में वस्तुओं और सेवाओं के लेन-देनों के कुल मूल्य के बराबर होगी। और वस्तुओं और सेवाओं का कुल मूल्य वस्तुओं और सेवाओं लेन-देनों की मात्रा (T) को उनकी औसत कीमतों (P) से गुणा करने से पता लगेगा।

समीकरण (1) यानि MV = PT (जिसके बारे में पहले बताया जा चुका है) को एक अन्य रूप में लिखा जा सकता है:

$$P = \frac{MV}{T} \qquad \ldots.(2)$$

इस समीकरण का अर्थ है कि किसी भी एक समय पर कीमत स्तर मुद्रा की कुल पूर्ति और उस समय लेन-देन की गयी वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा का अनुपात है।

मान्यताएं
फिशर की मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है:

1) इसमें यह मान्यता की गयी है कि मुद्रा का संचलन वेग (V) स्थिर है और यह नगदी की मात्रा (M) में परिवर्तन या कीमत-स्तर (P) में परिवर्तन से प्रभावित नही होता।

2) यह भी माना गया है कि वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा (T) स्थिर रहती है क्योंकि ये प्राकृतिक साधनों की मात्रा, जलवायु, उत्पादन की तकनीकें, श्रम की उत्पादिता, यातायात की सुविधाओं आदि पर निर्भर करती है। वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा की स्थिरता एक अन्य मान्यता पर आधारित है। वह है: अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति की मान्यता यानि कोई भी उत्पादक साधन बेकार नहीं है जिसका कि वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन बढ़ाने में प्रयोग किया जा सकता है।

3) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में कीमत (P) एक निष्क्रिय कारक है। यह समीकरण में दिये गये अन्य कारकों से तो प्रभावित होती है लेकिन स्वयं किसी को प्रभावित नहीं करती। इस प्रकार समीकरण में कीमत (P) व अन्य कारकों का सम्बन्ध एक-तरफा है क्योंकि कीमत (P) अन्य कारकों द्वारा निर्धारित होती है। संक्षेप में, मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की फिशर की व्याख्या की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं:

   क) कीमत स्तर (P), नगदी की मात्रा (M), मुद्रा का औसत संचलन वेग (V), और लेन-देन की गयी वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा (T), से निर्धारित होता है;

   ख) P, स्वयं परिवर्तित नहीं होता;

   ग) क्योंकि V, और T, को स्थिर माना गया है, अतः M, में परिवर्तन से P, में आनुपातिक परिवर्तन होता है।

फिशर ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के मौलिक समीकरण का एक विस्तारित रूप भी प्रस्तुत किया। इस प्रस्तुतीकरण में उसने मुद्रा को दो भागों में वर्गीकृत किया:

i) लोगों के पास नगदी, और

ii) बैंक निक्षेप।

मौलिक समीकरण (समीकरण 1) में उसने मुद्रा के केवल पहले चर पर ही ध्यान दिया। विस्तारित व्याख्या में उसने नई चल राशियों का प्रयोग किया अर्थात् मांग निक्षेप (M^1) और मांग निक्षेपों का प्रचलन वेग (V^1)। इस प्रकार समीकरण 1 का संशोधित रूप निम्नलिखित होगा:

$$PT = M^1V^1 + M^1V^1 \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (3)$$

या $$P = \frac{MV + MV}{T} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (4)$$

फिशर के अनुसार V अल्प काल में स्थिर होता है और M^1 अपने आप से परिवर्तित नहीं होगा क्योंकि प्राथमिक मुद्रा, बैंक निधियों और बैंक निक्षेपों की मात्रा में एक स्थिर सम्बन्ध होता है। इस प्रकार बिस्तारित रूप में भी फिशर का निष्कर्ष वहीं रहा जो उसकी मौलिक व्याख्या के आधार पर था यानि सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तनों का एक मात्र कारण मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों का होना है।

नकद लेन-देन दृष्टिकोण की आलोचना: बाद के अर्थशास्त्रियों ने नगद लेन-देन दृष्टिकोण की बहुत आलोचना की। ये आलोचनाएं निम्नलिखित आधार पर की गयी:

1) फिशर का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कुछ अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। उसकी अन्य बातें पूर्ववत् रहने की मान्यता का अर्थ है कि V और T स्थिर बने रहते हैं। वास्तव में M में परिवर्तन पहले V को और फिर T को प्रभावित करते हैं। फिशर ने यह भी मान्यता की कि M, P को प्रभावित करता है लेकिन P से प्रभावित नहीं होता। लेकिन ऐसी स्थितियों का पता लगाना सरल है जहां P सक्रिय होता है और M और V को प्रभावित करता है। वास्तव में समीकरण के सभी चर आपस में एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इसी बात की उपेक्षा करता है और इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि मुद्रा (M) कारण है तथा कीमत (P) प्रभाव है।

2) यह सिद्धान्त स्थैतिक प्रकृति का है। यह सिद्धान्त ऐसे समाज पर लागू हो सकता है जो स्थैतिक स्थितियों में रहता है।

3) यह सिद्धान्त अन्य मौद्रिक कारकों और सापेक्षिक कीमतों के महत्व को समझे बिना मुद्रा (M) और कीमतों (P) में एक अवास्तविक प्रत्यक्ष कारणात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। यह कीमत स्तर के निर्धारण में मुद्रा की मात्रा की भूमिका को आवश्यकता से अधिक महत्व देता है।

4) यह केवल कुछ मौद्रिक कारकों की ही नहीं बल्कि अमौद्रिक कारकों की भी उपेक्षा करता है जैसेकि उद्योग की विविधता, मानवीय इच्छाओं में अन्तर, यातायात सुविधाएं, बैंक साख का प्रयोग, आदि। इन कारकों का वास्तव में कीमत स्तर पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

5) यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की स्थिति होने की मान्यता करता है और इसके अनुसार पूर्ण रोजगार के बाद M में हुआ कोई भी परिवर्तन P को बढ़ा देगा। लेकिन जब साधन बेकार हों तो उत्पादन का पूर्ति वक्र लोचदार

होगा और ऐसी स्थिति में मुद्रा की मात्रा (M) में वृद्धि से कीमत (P) की बजाय वास्तविक आय और उत्पादन बढ़ सकता है। पूर्ण रोजगार की स्थिति बहुत असंभावित है।

6) फिशर के समीकरण में P और T बहुत स्पष्ट नही हैं। P में सभी प्रकार की वस्तुओं और साधनों की कीमतें शामिल होती हैं। यह संभव है कि ये विपरीत दिशाओं में परिवर्तित हो रही हों या इनमें से कुछ में परिवर्तन हो ही न रहा हो। इसीप्रकार T में सभी प्रकार की वस्तुएं व सेवाएं शामिल होती हैं। P और T चरों को प्राप्त करने के लिये इन विभिन्न P और T को मिलाना व्यवहार में बहुत कठिन प्रतीत होता है।

7) फिशर केवल यह बताता है कि M में परिवर्तन से P में परिवर्तन होता है। लेकिन् वह उस प्रक्रिया की उपेक्षा करता है जिसमें M,P को प्रभावित करता है।

8) फिशर की व्याख्या में मुद्रा की आवश्यकता का प्रयोजन केवल लेन-देन है। यह इस तथ्य कि उपेक्षा करता है कि मुद्रा का मूल्य के संचय के रूप में और सट्टेबाजी के लिये भी प्रयोग किया जाता है।

9) विनिमय का समीकरण मौद्रिक कारकों के कारण सापेक्षिक कीमतों के ढांचे में होने वाले परिवर्तनों को व्यक्त नहीं कर सकता।

10) फिशर मुद्रा (M) और कीमत (P) के बीच ब्याज की दर की एक कड़ी के रूप में भूमिका को समझने में भी असफल रहा।

ऊपर बतायी गयी सभी सीमाओं के बाबजूद, फिशर के मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त ने विद्यार्थियों और नीति-निर्धारकों का समान रूप से ध्यानाकर्षण किया है। आर्थिक इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जो मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की इस व्याख्या की यथार्थता को सिद्ध करते हैं। भारत में पिछले कुछ वर्षों में कीमतों में तीव्र वृद्धि अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति की अत्यधिक वृद्धि से संबद्ध बताई जाती है। फिर भी यहां इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धांत जो कहता है वही पूर्ण सत्य नहीं है। अतः इस पर और विचार करने की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न क

1) मुद्रा का परिमाण सिद्धांत क्या है?

.....

.....

.....

2) फिशर ने मुद्रा के परिमाण सिद्धांत का जो रूप दिया है उसकी मान्यताएं क्या हैं?

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित कथनों में कौन सही है और कौन गलत?

i) मुद्रा के विनिमय और सामान्य कीमत स्तर की गति एक ही दिशा में होती है।

ii) मुद्रा के परिमाण सिद्धांत के अनुसार मुद्रा का मूल्य किसी समय बिन्दु पर किसी अर्थव्यवस्था में संचलन के अंतर्गत की मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करता है।

iii) फिशर के अनुसार किसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा निम्नलिखित पर निर्भर करती है:
क) जनता के पास नकदी की मात्रा, या
ख) नकदी के संचलन का वेग।

iv) मुद्रा की सभी इकाइयों का संचलन एक ही दर पर नहीं होता।

v) मुद्रा की मांग केवल लेन-देन के प्रयोजनों के ही लिए की जाती है।

vi) फिशर के मुद्रा का परिमाण सिद्धांत यह मानकर चलता है कि पूर्ण रोजगार की वृद्धि के बाद ही M में किसी भी प्रकार की वृद्धि होने से P में भी वृद्धि होगी।

3.2.2 नगद शेष दृष्टिकोण (Cash Balances Approach)

कुछ केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें एलफर्ड मार्शल, ए.सी-पिगू, जे.एम. केन्ज़ और डी.एच. राबर्टसन प्रमुख हैं। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का एक भिन्न रूप दिया जिसे नगद शेष दृष्टिकोण या कैम्ब्रिज व्याख्या कहते हैं। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की शुरू की व्याख्या में मुद्रा के पूर्ति पक्ष को महत्त्व दिया गया था परन्तु नगद शेष दृष्टिकोण में मुद्रा के मांग पक्ष को महत्त्व दिया गया। **इस विचारधारा के अनुसार मुद्रा का मूल्य मुद्रा की मांग पर निर्भर करता है, लेकिन मुद्रा की मांग इसके मूल्य को संचित करने के कार्य से उत्पन्न होती है।** नगद

शेष विचारधारा का सार मार्शल ने निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया: **"समाज की प्रत्येक स्थिति में लोगों की आय का एक अंश ऐसा होता है जिसे वे नगद रखना लाभप्रद समझते हैं; यह पांचवा, दशवां या बीसवां अंश हो सकता है... नकदी के रूप में साधनों के नियंत्रण से उनका व्यवसाय सरल एवं निर्विघ्न हो जाता है और यह उन्हें सौदेबाजी में एक लाभप्रद स्थिति में रखता है।"** मार्शल के अनुसार लोग अपनी वार्षिक आय और धन का कुछ भाग 'सुलभ क्रय शक्ति' के रूप में रखते हैं। इसलिये मुद्रा की समस्त मांग उनकी वार्षिक आय और सम्पति के आकार पर निर्भर करती है। मुद्रा की मांग को आय सम्पत्ति का एक स्थिर फलन समझते हुए, मार्शल ने इसे नीचे दिये गये समीकरण के रूप में व्यक्त किया।

$$M = K^1 Y + K' A \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (5)$$

जहाँ M = मुद्रा की मात्रा

K = आय का वह भाग जो लोग नगद रखना चाहते हैं

K^1 = उनकी परिसम्पत्तियों का वह भाग जो वे नगद रखना चाहते हैं

A = परिसम्पत्तियों का मौद्रिक मूल्य

Y = कुल वार्षिक मौद्रिक आय।

मार्शल के अनुयायियों ने बाद में इस समीकरण के परिसम्पत्ति वाले भाग की उपेक्षा कर दी। इसके अतिरिक्त मार्शल के समीकरण के Y को कुल वास्तविक उत्पादन (O) और कीमत स्तर (P) में विभक्त कर दिया गया और इस प्रकार एक नया समीकरण बना:

$$M = KPO \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (6)$$

या $$P = \frac{M}{K.O} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (7)$$

मार्शल के समीकरण (7) के अनुसार, P केवल M में परिवर्तनों द्वारा ही प्रभावित नहीं होता बल्कि K में परिवर्तनों द्वारा भी प्रभावित होता है।

मार्शल के नगद शेष दृष्टिकोण की आलोचना की गयी क्योंकि जब हम समीकरण (6) के दोनों पक्षों को K से भाग देते हैं और बायीं 1/K के स्थान पर V लिखते हैं तो हमें फिर से फिशर का समीकरण प्राप्त हो जाता है। लेकिन इस आधार पर नगद शेष दृष्टिकोण की आलोचना करना इसके सार को न समझने के समान है। जैसा कि फ्रिडमैन ने कहा है, "दोनों दृष्टिकोण मुद्रा के अलग-अलग पहलुओं को महत्व देते हैं और मुद्रा की अलग-अलग व्याख्या करते हैं तथा इनके चलते चर्चा और विश्लेषणात्मक प्रणालियों को महत्व मिलता है।"

कैम्ब्रिज समीकरण: ए.सी. पिगू ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की कुछ अलग तरीके से व्याख्या की। उसने नगद शेष समीकरण को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया:

$$P = \frac{KR}{M} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (8)$$

इसमें

= कुल वास्तविक आय

K = कुल वास्तविक आय का वह अनुपात जो वैध मुद्रा (legal tender) के रूप में रखा जाता है

M = बैंध मुद्रा की कुल इकाइयां

P = मुद्रा का मूल्य (मुद्रा की क्रय शक्ति)

लेकिन सभी व्यक्ति नगदी को वैध मुद्रा में ही नहीं रखते। कुछ इसका एक भाग बैंक निक्षेपों के रूप में रखते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए ऊपर दिये गये समीकरण में उचित संशोधन किया गया ताकि यह उन स्थितियों में लागू हो सके जिनमें K अंशतः नगदी के रूप में और अंशतः बैंक निक्षेपों के रूप में रखा जाता है। संशोधित रूप में समीकरण इस प्रकार होगा:

$$P = \frac{K R}{R} [c + h (1\text{-}c)] \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (8)$$

या $$M = \frac{K R}{P} [c + h (1\text{-}c)] \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (9)$$

इस समीकरण में:

c = K का वह भाग जो समाज वास्तविक वैध मुद्रा में रखता है

h = वैध मुद्रा का वह भाग जो बैंक निक्षेपों के रूप में रखा जाता है

डी.एच. रॉबर्ट्सन (D.H. Robertson) ने भी पिगू द्वारा दिये गये समीकरण जैसा ही एक समीकरण प्रस्तुत किया। उनके अनुसार:

$$M = KPT \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots \quad (10)$$

या $$P = \frac{M}{KT} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots \quad (11)$$

इसमें:

M = लोगों के पास नगदी

P = कीमत स्तर

T = वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा

K = T का वह भाग जिसके लिए लोग नगद रखना चाहते हैं।

राबर्ट्सन का समीकरण पिगू के समीकरण से अच्छा समझा जाता है क्योंकि यह मुद्रा के मूल्य का एक अधिक सरल स्पष्टीकरण है।

नगदी शेष दृष्टिकोण की आलोचना: इसमें निम्नलिखित कमियां हैं:

i) कारक R (जो समाज की वर्तमान आय दर्शाता है) के प्रयोग का अर्थ है कि इसकी मात्रा में परिवर्तन एक ऐसा महत्वपूर्ण कारण है जो प्रत्यक्ष रूप से नगद रिजर्वों की मांग को प्रभावित करता है। यह सच नहीं है।

ii) केन्ज़ के अनुसार जब बैंक निक्षेपों में आय निक्षेपों के अतिरिक्त अन्य निक्षेप भी शामिल किये जाते हैं तो बैंक निक्षेपों और समाज की आय के अनुपात को जो महत्व दिया जाता है वह भ्रामक है। लेकिन इस सिद्धान्त का यह दावा, कि लोगों द्वारा रखे जाने वाले वास्तविक शेषों की राशि साधनों को नगद रखने या वैकल्पिक रूपों में रखने के तुलनात्मक लाभों द्वारा निर्धारित होती है, जिससे कि इन तुलनात्मक लाभों में परिवर्तन के कारण ही R में परिवर्तन होता है, वास्तव में उपयोगी और शिक्षाप्रद है।

iii) नगद शेष समीकरण उन बाधाओं की चर्चा नहीं करता जो उस अनुपात में परिवर्तन के कारण आती हैं जिसमें विभिन्न प्रयोजनों जैसे बचत, व्यापार, आय के लिये निक्षेप रखे जाते हैं।

iv) कैम्ब्रिज दृष्टिकोण मुद्रा की सट्टे हेतु मांग की उपेक्षा करता है, जबकि यह मुद्रा रखने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है।

v) यह दृष्टिकोण एक ऐसा पर्याप्त मौद्रिक सिद्धान्त प्रदान नहीं करता जिसका अर्थव्यवस्था में कीमतों के गत्यात्मक व्यवहार को स्पष्ट करने और उसका विश्लेषण करने के लिये प्रयोग किया जा सके।

3.2.3 नगद शेष दृष्टिकोण और नगद लेन-देन दृष्टिकोण की तुलना

कुछ अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि इन दोनों समीकरणों में कोई मूल अन्तर नहीं है। फिशर ने V को शामिल करके एक समय के दौरान मुद्रा के मूल्य पर जोर दिया जबकि नगद शेष समीकरण ने नगद शेषों की मांग K, (जो V का व्युत्क्रम ही है) की संकल्पना को शामिल करके एक समय पर मुद्रा के मूल्य को स्पष्ट किया। राबर्ट्सन ने सारांश के रूप में यह कहा "ये दो समीकरण एक ही तथ्य के दो अवलोकन हैं।" तथापि, इन दोनों में कुछ भिन्नताएं हैं: (i) ये मुद्रा की मांग की अलग-अलग व्याख्या देते हैं। नगद लेन-देन समीकरण मुद्रा को एक प्रवाह के रूप में लेता है परन्तु नगद शेष समीकरण इसे एक स्टॉक के रूप में लेता है। (ii) फिशर ने मुद्रा के संचलन वेग को महत्त्व दिया जबकि पिगू ने राष्ट्रीय आय के एक भाग के रूप में रखे गये निष्क्रिय शेषों को महत्त्व दिया।

नग़द शेष दृष्टिकोण नग़द लेन-देन दृष्टिकोण से बेहतर समझा जाता है। नगद शेष दृष्टिकोण उन नग़द शेषों पर ध्यान केन्द्रित करके, जिन्हें लोग रखना चाहते हैं, व्यक्तियों के भावनात्मक मूल्यांकनों को दर्शाता है। मार्शल के अनुसार नगद शेष समीकरण का मुख्य गुण यह है कि ये उन सभी गंभीर जटिलताओं को हटा देता है जो मुद्रा की संचलन गति और मुद्रा के मूल्य में सम्बन्ध स्थापित करते समय आ जाती हैं।

नग़द शेष दृष्टिकोण आधुनिक तरलता अधिमान सिद्धान्त का पूर्वगामी है। तरलता अधिमान सिद्धान्त का अर्थव्यवस्था में आय व रोजगार के संतुलित स्तर के निर्धारण में और अर्थव्यवस्था में चक्रीय उतार-चढ़ावों को नियंत्रित करने में तथा मौद्रिक नीति की सीमाओं को स्पष्ट करने में बहुत महत्व है।

बोध प्रश्न ख

1) मुद्रा के परिमाण सिद्धांत के सबंध में नकदी शेष दृष्टिकोण क्या है?

.....

.....

.....

.....

2) फिशर दृष्टिकोण पर कैम्ब्रिज दृष्टिकोण की श्रेष्ठता के सबंध में बताएं।

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलत?

i) मार्शल के समीकरण में P केवल M परिवर्तन से ही नहीं बल्कि K में परिवर्तन से भी प्रभावित होता है।

ii) मार्शल के दृष्टिकोण में 'V' 'K' के पारस्परिक संबंध (reciprocal) का प्रतिनिधित्व करता है।

iii) नकदी शेष समीकरण का संबंध हावार्ड के अर्थशास्त्रियों के साथ बताया जाता है।

iv) कुल वास्तविक आय के अनुपात के कुछ भाग को वैध मुद्रा में और कुछ भाग को बैंक जमा में रखा जाता है।

v) विनिमय के समीकरण में 'K' मुद्रा आय के उस अंश का द्योतक होता है जिसे लोग करेंसी के रूप में रखना चाहते हैं।

3.3 केन्ज़ का मुद्रा और कीमतों का सिद्धांत

मुद्रा का परिमाण सिद्धांत बताता है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन से सामान्य कीमत स्तर में प्रत्यक्ष और आनुपातिक परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में मुद्रा का मूल्य मुद्रा की पूर्ति का फलन है। यदि मुद्रा की पूर्ति दुगुनी कर दी जाए तो उसका मूल्य आधा हो जाएगा। यह निष्कर्ष पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है। मुद्रा की पूर्ति और कीमतों के स्तर में कारणात्मक सम्बन्ध हो मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का सार है। लेकिन इनको सम्बन्ध इतना सरल व प्रत्यक्ष नहीं है जैसा कि क्लासिकी अर्थशास्त्री बताते हैं। क्लासिकी विश्लेषण में अर्थव्यवस्था के वास्तविक और मौद्रिक क्षेत्रों को पूर्णतया आत्म-निर्भर और एक दूसरे से स्वतंत्र माना गया है। क्लासिकी अर्थशास्त्री यह समझने में असफल रहे कि समस्त मुद्रा पूर्ति में परिवर्तन पहले वास्तविक कीमतों को प्रभावित किये बिना अर्थव्यवस्था के सामान्य कीमत स्तर को प्रभावित नहीं कर सकते क्योंकि सामान्य कीमत स्तर वास्तविक कीमतों का केवल एक एकत्रीकरण है। सामान्य कीमत स्तर में किसी परिवर्तन से पूर्व निश्चित रूप से वस्तुओं और सेवाओं की सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन होगा। अतः मुद्रा के सिद्धान्त को सापेक्षिक कीमतों के सिद्धान्त से जोड़ना आवश्यक है ताकि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों और सामान्य कीमत-स्तर में परिवर्तनों के बीच की कारण-कार्य-सम्बन्ध की असली कड़ी मालूम की जा सके।

केन्ज ने क्लासिकी अर्थशास्त्रीयों की इस बात की आलोचना की कि उन्होंने मुद्रा को तटस्थ माना यानि इसका अर्थव्यवस्था के वास्तविक क्षेत्र के संतुलन पर कोई प्रभाव नहीं होता। **मुद्रा के क्लासिकी सिद्धान्त ने स्थिर संतुलन को उद्देश्य बनाया जबकि केन्ज का उद्देश्य मुख्यतया एक से विवर्ती संतुलन के सिद्धान्त को विकसित करना था जिसमें भविष्य के बारे में बदलते हुए विचार भी वर्तमान स्थिति को प्रभावित करते हों।** आज दुनियां में मुद्रा महत्वपूर्ण है क्योंकि यह वर्तमान और भविष्य के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी का काम करती है।

केन्ज़ ने अपनी पुस्तक 'दि जनरल थ्योरी ऑफ एम्प्लायमेंट इंटरेस्ट ऐंड मनी' (The General Theory of Employment, Interest and Money) में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की एक नयी व्याख्या दी। उसने कीमतों के सिद्धान्त को मूल्य और उत्पादन के सामान्य सिद्धान्त के साथ समाकलित किया। उसके अनुसार जब तक अर्थव्यवस्था में साधन बेकार पड़े हैं, मुद्रा की मात्रा और कीमतों के स्तर में प्रत्यक्ष व आनुपातिक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

केन्ज़ के अनुसार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि सट्टे हेतु तरलता की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उपलब्ध मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करती है। इसका प्रारंभिक प्रभाव अर्थव्यवस्था में ब्याज की दर को कम करना होता है। ब्याज की दर कम होने से निवेश की प्रभावी मांग बढ़ने को प्रवृत्त होती है जिससे आय, रोजगार व उत्पादन बढ़ते हैं। आय, रोजगार और उत्पादन में वृद्धि के साथ कीमत पूर्ण रोजगार के स्तर से पहले ही बढ़ना शुरू हो सकती हैं। ऐसा चार कारणों से हो सकता है। (i) क्योंकि उत्पादक साधन समरूप नहीं होते अतः उत्पादन के बढ़ने के साथ सामान्यता ह्रासमान प्रतिफल और बढ़ती हुई पूर्ति कीमत की स्थिति पैदा हो जाती है हालांकि सभी कारकों की इकाई लागतें अपरिवर्तित बनी रह सकती हैं। (ii) उत्पादन में वृद्धि के साथ मजदूरी-दर बढ़ने की बहुत संभावना होती है। (iii) सीमान्त लागतों में शामिल होने वाली अन्य साधनों की कीमतें भी परिवर्ती अनुपातों में बढ़ती हैं। और (iv) क्योंकि विभिन्न बाजारों में अल्पकालीन पूर्ति तालिकाएं प्रायः विभिन्न मात्राओं में लोच दर्शाती हैं, इसलिये

पूर्ण रोजगार की स्थिति आने से पहले ही कीमतें बढ़नी शुरू हो सकती हैं। उत्पादन में वृद्धि के साथ शुरू में केवल रोजगार में ही वृद्धि होगी। लेकिन जैसे-जैसे पूर्ण रोजगार की स्थिति आती जाएगी कीमतों पर प्रभाव बढ़ता जाएगा और पूर्ण रोजगार की स्थिति में प्रभावी मांग में वृद्धि का केवल कीमतों पर ही प्रभाव पड़ेगा और कीमतें बढ़ेंगी।

मुद्रा और कीमतों के स्तर में ऊपर बताया गया सम्बन्ध यह दर्शाता है कि मुद्रा की मात्रा और कीमत स्तर में प्रत्यक्ष और आनुपातिक सम्बन्ध नहीं है जैसा कि मुद्रा का परम्परागत परिमाण सिद्धान्त दर्शाता था। बल्कि यह सम्बन्ध अप्रत्यक्ष व दूरवर्ती है क्योंकि ब्याज की दर में परिवर्तन के जरिये बहुत तरह के सम्बन्ध कायम होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त ब्याज की दर में परिवर्तन से निवेश मांग में परिवर्तन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। यदि ब्याज की दर का निवेश मांग पर प्रभाव पड़ता है तो इसका प्रभाव रोजगार, आय व उत्पादनों के स्तरों पर भी पड़ेगा जिससे उत्पादन लागत और कीमतों में परिवर्तन आएंगे। यह प्रक्रम पूरा होगा या नहीं यह बात आय के दो अन्य मुख्य निर्धारकों की प्रकृति यानि पूंजी की सीमान्त क्षमता और उपभोग प्रवृति पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिये, यदि किसी कारण से पूंजी की सीमान्त क्षमता घट जाती है तो यह संभव है कि ब्याज की दर में कमी होने से निवेश उत्पादन व रोजगार की मात्रा में वृद्धि न हो और इस कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के बावजूद कीमतें न बढ़ें। इसी तरह यदि किन्हीं कारणों से उपभोग प्रवृति कम हो जाती है तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने पर भी कीमतें नहीं भी बढ सकती हैं। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा और कीमत स्तर के बीच एक जटिल सम्बन्ध है और यह कारण कार्य सम्बन्ध की एक लम्बी कड़ी द्वारा स्थापित होता है जैसा कि नीचे दिखाया गया है:

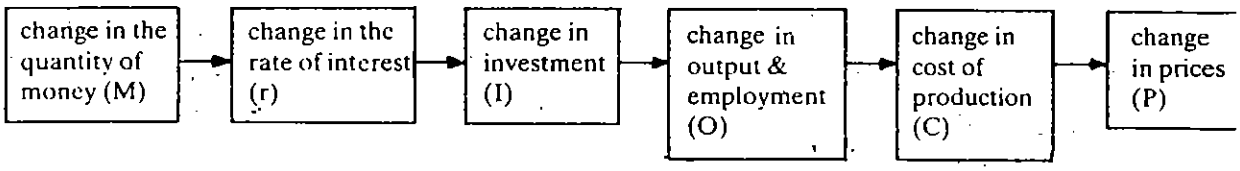

केन्ज के सिद्धान्त की आलोचना

1) केन्ज का सिद्धान्त एक बहुत सामान्य सिद्धान्त है। अतः इसकी सहायता से कीमतों में वास्तविक परिवर्तनों का अध्ययन करना कठिन है। विशिष्ट वस्तुओं के वितरण की बाजार स्थितियां इतनी ज्यादा बदलती रहती हैं, विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की तकनीकी स्थितियाँ इतनी भिन्न होती हैं और विभिन्न वस्तुओं की माँग की स्थितियों में परिवर्तनों का विभिन्न वस्तुओं पर प्रभाव इतना भिन्न होता है कि जो बातें कुल मांग, कुल उत्पादन और सामान्य तकनीकी स्थितियों आदि के रूप में कही गयी है वे कीमतों के सिद्धान्त के संदर्भ में केवल एक शुरू की कड़ी ही मानी जा सकती है और कुछ नहीं।

2) केन्जवादी निरूपण की प्रकृति मूल रूप में स्थैतिक है। वास्तविक जगत में उत्पादन और उपभोग के कार्य किसी अवधि के आगे भी चलते रहते हैं। वे भूतकाल से चले आ रहे होते हैं या भविष्य में जारी रहने वाले होते हैं। आगे चलकर उनके संघटन एवं उस कारण सापेक्ष कीमतों के सेट में परिवर्तन होता है। स्थैतिक होने के कारण केन्जवादी सिद्धांत इनका स्पष्टीकरण नहीं कर पाता।

3) इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन से ब्याज की दर में परिवर्तन के द्वारा उत्पादन के स्तर को परिवर्तित किया जा सकता है। लेकिन वह प्रभाव बहुत सी बातों पर निर्भर करता है। इसमें शक नहीं कि मुद्रा की पूर्ति को परिवर्तित करके, ब्याज की दर को और उत्पादन के स्तर को परिवर्तित करना संभव है। लेकिन यह तभी होगा जबकि लागतों और आगमों से संबंधित अन्य बातें उचित रूप से परिचालित हों।

केन्ज के मुद्रा और कीमतों के विश्लेषण की श्रेष्ठता

1) केन्ज ने मौद्रिक सिद्धान्त को मूल्य के सिद्धान्त के साथ संघठित किया। मूल्य का सिद्धान्त बताता है कि कीमत (जो मुद्रा रूप में व्यक्त मूल्य है) उत्पाद बाजार में मांग और पूर्ति की स्थितियों से निर्धारित होती है और ये स्थितियां सीमान्त लागत, सीमान्त आगम और लोच आदि कारकों से प्रभावित होती हैं। केन्ज यह दर्शाता है कि उत्पादन और रोजगार की अल्पकालीन बेलोचदार पूर्ति से उत्पादन लागतें बढ़ती हैं और इससे कीमतें बढ़ती हैं।

2) मूल्य सिद्धान्त और मुद्रा के सिद्धान्त को संघठित करने के अलावा केन्ज ने उत्पादन के सिद्धान्त और मुद्रा के सिद्धान्त को भी संघठित किया।

3) क्लासिकी सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की पूर्ति में प्रत्येक वृद्धि स्फीतिकारी होती है। लेकिन केन्ज के अनुसार पूर्ण रोजगार की स्थिति के बाद ही मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि स्फीतिकारी होती है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति में स्फीतिकारी और गैर-स्फीति वृद्धि में भेद करके केन्ज का सिद्धान्त स्फीति को सही रूप में समझने में सहायक है।

4) केन्ज के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण गुण यह है कि इसने इस पुरानी धारणा को दूर किया कि कीमतें प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा की मात्रा से निर्धारित होती हैं। उसने यह तथ्य सामने लाया कि मुद्रा की मात्रा और कीमतों के बीच जो कारणात्मक प्रक्रिया है वह अप्रत्यक्ष, अनिश्चित, जटिल है और वह ब्याज की दर में परिवर्तन द्वारा लायी जाती है।

5) केन्ज का सिद्धान्त सामान्य कीमत-स्तर और व्यक्तिगत कीमतों में भेद करता है। विभिन्न वस्तुओं की अलग-अलग कीमतें उनकी मांग और पूर्ति तथा बाजार के प्रकार से निर्धारित होती हैं जबकि सामान्य कीमत स्तर बहुत सी बातों पर निर्भर करता है।

3.4 मिल्टन फ्रिडमैन का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

केन्ज के अनुसार फिशर और कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बहुत एक पक्षीय है क्योंकि यह मुद्रा की पूर्ति और कीमत स्तर में सीधा सम्बन्ध मानता है। इसी कारण इस सिद्धान्त की लोकप्रियता घटी। 1956 में मिल्टन फ्रिडमैन ने एक पुस्तक सम्पादित की जिसका शीर्षक था 'स्टडीज़ इन क्वांटिटी थ्योरी आफ मनी' (Studies in Quantity Theory of Money) जिसने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की पुनः प्रतिस्थापना में सहायता की। उसका प्रतिपादन **मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आधुनिक व नई व्याख्या कहा जाता है।** इसके द्वारा दिये गये तर्क निम्नलिखित हैं:

1) आधुनिक सिद्धान्त मुद्रा की मांग का सिद्धान्त है,

2) पिगू की तरह फ्रिडमैन भी यह मानता है कि मुद्रा एक परिसम्पत्ति की भांति कार्य करती है। उसके अनुसार मुद्रा धन का केवल एक रूप है, इसके अन्य रूप बौण्ड, शेयर, भौतिक वस्तुएं और मानवीय धन हैं। इनमें से प्रत्येक की भिन्न विशेषताऐं हैं। प्रत्येक मुद्रा या वस्तु के रूप में प्रतिफल प्रदान करती है। फ्रिडमैन के अनुसार, मुद्रा की दूसरी प्रकार की मांग लेन-देन हेतु है (जैसाकि नगद लेन-देन दृष्टिकोण भी कहता है) और इसमें मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है।

3) फ्रिडमैन के अनुसार मुद्रा की मांग कीमत और आय स्तरों के अतिरिक्ति मुद्रा को रखने की लागत द्वारा भी निर्धारित होती है। **मुद्रा को रखने की लागत में (क) परिसम्पत्तियों के वैकल्पिक रूपों पर ब्याज की दर (ख) कीमत स्तर में परिवर्तन की संभावित दर, शामिल हैं।** इनमें से किसी एक या दोनों में वृद्धि मुद्रा की उस मात्रा को कम कर देगी जो लोग अपने पास नगद रखना चाहते हैं। **मुद्रा को रखने की ऊँची लागत पर लोग अपने नगद शेषों को कम कर देगें।** विलोमतः ब्याज की दर में कमी या कीमत स्तर में कमी मुद्रा रखने की लागत को घटाती है। लोग अधिक नगद-शेष रखने को प्रेरित होंगे। **संक्षेप में मुद्रा की मांग और नगद शेषों को रखने की लागत में विपरीत सम्बन्ध होता है।** ऊपर बतायी गयी बातों के आधार पर फ्रैडमैन ने मुद्रा के मांग फलन की परिभाषा निम्नलिखित समीकरण के रूप में दी:

$$M = f (P, Y, 1/p, dp/dt, rb, re, w, u) \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (12)$$

इसमें :

M — मुद्रा का सामान्य स्टॉक

P — कीमत स्तर

Y — 'स्थायी' आय

$1/p$, dp/dt — वास्तविक परिसम्पत्ति के प्रति रु. मौद्रिक मूल्य में मूल्य वृद्धि या मूल्यह्रास के रूप में प्रतिफल की दर

rb — बौण्डों पर प्रतिफल

re — शेयरों पर प्रतिफल

w — गैर-मानवीय और मानवीय धन का अनुपात

u — धन अर्जनकर्त्ताओं की रुचि व प्राथमिकताएं।

इस मांग फलन के आधार पर फ्रिडमैन का तर्क था कि नगद शेषों की मांग को प्रभावित करने वाले कारकों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

1) विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियों में रखी गयी वास्तविक आय व धन का स्तर;

2) नगद शेषों को रखने की अवसर लागत; और

3) धन के धारकों की रुचि और प्राथमिकताएं।

मुद्रा की मांग के इस निरूपण के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मुद्रा की मांग के स्थिर होने से, मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन ही समाज की आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करता है।

फ्रिडमैन द्वारा पूंजी सिद्धान्त के मूल नियमों (आय, पूंजी का प्रतिफल है, और पूंजी आय के वर्तमान मूल्य का) का मौद्रिक सिद्धान्त पर प्रयोग शायद केन्ज़ के सामान्य सिद्धान्त के बाद मौद्रिक सिद्धान्त में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। इसका सैद्धान्तिक महत्त्व धन और आय का आर्थिक व्यवहार पर प्रभाव के रूप में संकल्पनात्मक एकीकरण में है। फ्रिडमैन के विश्लेषण का शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण आशय यह है कि यह 'आय' की संकल्पना को मौद्रिक विश्लेषण के प्रसंग में लाता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है उसके विश्लेषण में आय संपत्ति से होने वाली प्राप्ति के सिद्धांत के अनुरूप होती है, राष्ट्रीय आय के लेखाकरण के लिए सुविधा के अनुरूप नहीं।

फ्रिडमैन के मुद्रा के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण : फ्रिडमैन के प्रयोगात्मक कार्य की मुख्य आलोचना यह है कि उसके कार्य से प्राप्त परिणाम, उसने जिस तरह से मुद्रा की व्याख्या की उस पर निर्भर करते हैं। उसकी मुद्रा की परिभाषा अत्यधिक विस्तृत है। यद्यपि फ्रिडमैन ने मुद्रा के स्टॉक और समस्त धन के सम्बन्ध पर जोर दिया, फिर भी उसने अपने प्रयोगात्मक अध्ययन में ब्याज की दरों को मुद्रा की मांग के महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व के रूप में नहीं पाया। उसका विश्लेषण यह दर्शाता है कि मुद्रा की मांग और ब्याज की दर में सम्बन्ध कमजोर है। यह कमजोर सम्बन्ध फ्रिडमैन द्वारा अपनायी गयी मुद्रा की विस्तृत परिभाषा का परिणाम है।

बोध प्रश्न ग

1) मुद्रा और कीमतों के संबंध में केन्जवादी सिद्धांत क्या है?

.....

.....

.....

2) फ्रिडमैन ने मुद्रा के परिमाण सिद्धांत को क्या रूप दिया?

.....

.....

.....

3) फ्रिडमैन के अनुसार मुद्रा की मांग के निर्धारक क्या है? उनकी व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

4) निम्नलिखित कथनों में से कौन सही हैं और कौन गलतः

i) केन्ज के अनुसार अर्थव्यवस्था में मुद्रा तटस्थ रहती है।

ii) केन्ज इस कथन से सहमत नहीं था कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि और कीमतों के स्तर में वृद्धि के बीच प्रत्यक्ष कार्य-कारण संबंध होता है।

iii) मुख्य रूप से केन्ज़ के प्रयासों के फलस्वरूप ही मुद्रा के परिमाण सिद्धांत की पुनः चर्चा होने लगी है।

iv) फ्रिडमैन का कहना है कि चूँकि मुद्रा की पूर्ति स्थिर होती है अतः मुद्रा की मांग ही आर्थिक क्रिया को प्रभावित करती है।

3.5 सारांश

सामान्य कीमत स्तर में बार-बार उतार-चढ़ाव होने के कारण अर्थशास्त्रियों को इस संबंध में विशेष रूप से ध्यान देना पड़ा। कीमत-स्तर में उतार-चढ़ाव के अनेक कारण हैं लेकिन सिद्धांतकारों के अनुसार कीमतों में उतार-चढ़ाव का मुख्य कारण मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन का होना है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धांत की अभिव्यक्ति विभिन्न रूप वाले विनिमय के समीकरणों में की गई है। इसके दो प्रमुख परिमाण समीकरण हैं: i) फिशर का समीकरण या नकदी लेन-देन समीकरण जिसे $MV = PT$ के रूप में लिखा जाता है और ii) नकदी शेष समीकरण जिसे $P = KR_M$ या $M = KPO$ या $M = KPT$ के रूप में लिखा जाता है और जिसका संबंध क्रमशः अल्फ्रेड मार्शल, ए सी पिगू और डी एच रॉबर्ट्सन के साथ जोड़ा जाता है।

फिशर के नकदी लेन-देन दृष्टिकोण के अनुसार कीमत स्तर (P) मे परिवर्तन का संबंध मुद्रा की मात्रा (H) में परिवर्तन, उसके संचलन वेग (V) और लेन-देन की मात्रा (T) के साथ होता है। यह मानते हुए कि V और T सम्भोपरांत स्थिर होते हैं, फिशर ने मुद्रा की मात्रा और कीमत स्तर के बीच प्रत्यक्ष और आनुपातिक संबंध स्थापित किया। फिशर के दृष्टिकोण की जो आलोचनाएं की जाती हैं उनका आधार मुख्यतः ये मान्यताएं ही हैं।

फिशर के मुद्रा के परिमाण सिद्धांत में मुद्रा के पूर्ति पक्ष पर जोर दिया गया है, परन्तु नकदी शेष दृष्टिकोण में मुद्रा के मांग पक्ष पर जोर दिया गया है। नकदी शेष दृष्टिकोण के अंतर्गत यह कल्पना की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधा के लिए अपनी आय के कुछ अंश को नकद या तरल रूप में रखना पसंद करता है। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत उस तरलता के महत्त्व पर तो बल दिया ही गया है जो संतुलन आय और रोजगार के निर्धारण

महत्वपूर्ण होती है परन्तु साथ ही साथ अर्थव्यवस्था में उतार-चढ़ाव के नियंत्रण में मुद्रा-नीति की सीमाओं की ओर भी ध्यान दिया गया है।

केन्ज ने मुद्रा के परिमाण संबंधी क्लासिकी सिद्धांत की आलोचना की और कहा कि अर्थव्यवस्था में जब तक ऐसे कुछ संसाधन उपलब्ध हैं जिनका उपयोग नहीं किया गया है तब तक मुद्रा की मात्रा में वृद्धि और कीमत स्तर में वृद्धि के बीच कोई प्रत्यक्ष और कार्य-कारण संबंध नहीं होता। यह संबंध अप्रत्यक्ष और अत्यंत दूर का होता है क्योंकि ब्याज की दर में परिवर्तन के द्वारा अत्यंत जटिल संबंध स्थापित हो जाता है।

मिल्टन फ्रिडमैन ने मुद्रा के उस परिमाण सिद्धांत की पुनः स्थापना की जो मुद्रा की मांग का सिद्धांत है, उत्पादन, मुद्रा आय या कीमतों का सिद्धांत नहीं है। पूंजी के रूप में मुद्रा की मांग का निरूपण करने के संबंध में फ्रिडमैन ने केन्जवादी सिद्धांत से अपने को अलग रखा। उसने शुरुआत संपत्ति की वृहत् संकल्पना से की, जिसके अंतर्गत आय के सभी स्रोत (मानव जाति को सम्मिलित करते हुए) आ जाते हैं। फ्रिडमैन मुद्रा की मांग तथा कुल संपत्ति और संपत्ति को किसी और रूप में रखने से उससे होने वाली मुद्रा आय के बीच संबंध स्थापित करता है। वह मुद्रा के मांग फलन को निकालता है जो कीमत स्तर, बॉंड, इक्विटी-आय, कीमत स्तर में परिवर्तन की दर, आय और रुचि चर पर निर्भर करते हैं।

3.6 शब्दावली

मांग जमा (Demand Deposits): बैंक जमा जिसे नोटिस दिए बिना किसी भी समय निकाला जा सकता है।

संचय (Hoarding): किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा सक्रिय संचलन से पैसा निकालकर उसे खर्च करने के बजाय अपने पास जमा रखना।

मानव संपत्ति (Human Wealth): किसी समाज के व्यक्तियों का कौशल और योग्यता जिसकी सहायता से वे आय का सृजन करते हैं।

पूंजी की सीमांत क्षमता (Marginal Efficiency of Capital): ब्याज की वह दर जो किसी परियोजना के वर्तमान मूल्य को घटा कर शून्य के बराबर कर देती है।

मुद्रा नीति (Monetary Policy): आर्थिक नीति का वह भाग जो स्फीति के नियंत्रण, भुगतान शेष को ठीक करने, असंतुलन को दूर करने जैसे आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अर्थव्यवस्था में मुद्रा के स्तर या तरलता को विनियमित करता है।

उपभोग प्रवृत्ति (Propensity to Consume): आय में अत्यंत अल्प वृद्धि का वह अनुपात जिसे बढ़े हुए उपभोग व्यय पर लगाया जाएगा।

वास्तविक आय (Real Income): वास्तविक वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मापी गई आय जो उपर्युक्त को खरीद सकती है।

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 3 i) गलत ii) सही iii) गलत iv) सही v) गलत vi) सही

ख 3 i) सही ii) सही iii) गलत iv) सही v) सही

ग 4 i) सही ii) सही iii) गलत iv) गलत

3.8 स्वपरख प्रश्न

1) फिशर के विनिमय समीकरण की व्याख्या कीजिए। नकदी शेष समीकरण फिशर के समीकरण पर किस प्रकार सुधार है?

2) मुद्रा और कीमतों के संबंध में केन्ज के सिद्धांत का विवेचन कीजिए। क्या यह कीमत स्तर में परिवर्तन की सही व्याख्या है?

3) मुद्रा का परिमाण सिद्धांत क्या है? मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करने वाले कारकों को समझने के संदर्भ में इसके महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

4) बताए कि मिल्टन फ्रिडमैन ने परंपरागत मुद्रा के परिमाण सिद्धांत को किस प्रकार पुनः स्थापित किया।

5) निम्नलिखित के संबंध में संक्षिप्त टिप्पणी लीखिए:

i) कैम्ब्रिज विनिमय समीकरण।

ii) मुद्रा और कीमतों के क्लासिकी विश्लेषण पर केन्ज़ के विश्लेषण की श्रेष्ठता।

iii) मुद्रा के परिमाण सिद्धांत में फिशर और फ्रिडमैन के निरूपणों के बीच मूल अन्तर।

नोट: इन प्रश्नों से आपको इस इकाई को और अच्छी तरह से समझने में सहायता मिलेगी। उनके उत्तर देने का प्रयास कीजिए। लेकिन अपने उत्तर विश्वविद्यालय को मत भेजिए। ये सिर्फ आपके अपने अभ्यास के लिए दिए गए हैं।

इकाई 4 मुद्रास्फीति (INFLATION)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 मुद्रास्फीति का अर्थ
4.3 मुद्रास्फीति के रूप
  4.3.1 मांगजन्य मुद्रास्फीति
  4.3.2 लागतजन्य मुद्रास्फीति
4.4 मुद्रास्फीति के प्रभाव
4.5 मुद्रास्फीति का नियंत्रण
4.6 सारांश
4.7 शब्दावली
4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.9 स्वपरख प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- मुद्रास्फीति का अर्थ और परिभाषा स्पष्ट कर सकें,
- मुद्रास्फीति के विभिन्न रूप समझा सकें,
- स्फीति अन्तराल की संकल्पना को स्पष्ट कर सकें,
- मांगजन्य और लागतजन्य मुद्रास्फीति की व्याख्या कर सकें,
- मुद्रास्फीति के प्रभाव समझ सकें, और
- मुद्रास्फीति को कैसे नियंत्रित किया जा सकता है, इस बारे में सुझाव दे सकें।

4.1 प्रस्तावना

अंग्रेजी के Inflation शब्द का हिन्दी पर्याय मुद्रास्फीति या केवल स्फीति होता है। पिछले कुछ वर्षों से आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में मुद्रास्फीति की समस्या कुछ ज्यादा ही विकट हो गई है। अतः ये अर्थव्यवस्थाएं कीमत वृद्धि के विशिष्ट कारणों का पता लगाने और कीमत स्थिरता हेतु नीति बनाने में संलग्न हैं।

इससे पूर्व निरन्तर कीमत वृद्धि की गम्भीर समस्या का सामना केवल विकसित अर्थव्यवस्थाओं को ही करना पड़ता था। लेकिन हाल में विकसित देशों में भी यह समस्या उत्पन्न हो गयी है। इस इकाई में हम मुद्रास्फीति के अर्थ व प्रकृति, मुद्रास्फीति के रूप, मुद्रास्फीति के प्रभाव और इस समस्या का समाधान करने के लिये उपलब्ध उपायों पर विचार करेंगे।

4.2 मुद्रास्फीति का अर्थ

पिगू के अनुसार मुद्रास्फीति की स्थिति तब होती है

> **"जब उत्पादक साधनों द्वारा किये गये उत्पादन की तुलना में उन्हें इस उत्पादन के लिये भुगतान के रूप में प्राप्त मौद्रिक आय अधिक तेज़ी से बढ़ती है।"** एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि **"जब मौद्रिक आय आय, उपार्जन सम्बन्धी क्रिया से अधिक तेजी से बढ़ती है तो मुद्रास्फीति की स्थिति होती है।"**

आर.सी. हाट्रे (Hawtrey) ने मुद्रास्फीति को **अत्यधिक मुद्रा के निर्गमन** के साथ जोड़ा है। टी.ई. ग्रेगरी (T.E. Gregory) इसे **क्रय शक्ति की मात्रा में असामान्य वृद्धि** की स्थिति कहते हैं। सामान्यतः, समग्र मुद्रा पूर्ति में तीव्र दर से वृद्धि के कारण सामान्य कीमत स्तर में जो सतत् वृद्धि होती है उसे मुद्रास्फीति कहते हैं। इन सभी परिभाषाओं में एक सामान्य विशेषता है। ये सभी इस बात पर जोर देती है कि मुद्रास्फीति बढ़ती हुई कीमतों की एक प्रक्रिया है (ऊंची कीमतों की स्थिति नहीं है) जो कीमतों के वर्तमान स्तर पर समग्र पूर्ति और समग्र मांग के बीच असन्तुलन की स्थिति को दर्शाती है। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की पूर्ति की तुलना में मुद्रा पूर्ति में अधिक वृद्धि के कारण कीमतें बढ़ती हैं। यह कीमत परिवर्तन के लिये मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का स्पष्टीकरण है। लेकिन कीमत स्तर में प्रत्येक वृद्धि को मुद्रास्फीति नहीं मानना चाहिये क्योंकि एक गत्यात्मक अर्थव्यवस्था में कीमतों में वृद्धि ऊपर बताये गये कारकों के अतिरिक्त अन्य कारकों के कारण भी होती है।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की इस विचारधारा से कि मुद्रा की मात्रा ही कीमत वृद्धि के लिये जिम्मेदार है, केन्ज़ सहमत नहीं थे। उनके अनुसार मुद्रास्फीति प्रभावी मांग के आधिक्य से होती है और सही अर्थ में मुद्रास्फीति की स्थिति केवल पूर्ण रोजगार के स्तर के बाद ही उत्पन्न होती है। रोजगार उसी अनुपात में परिवर्तित होगा जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा परिवर्तित होती है और जब पूर्ण रोजगार की स्थिति होती है तो कीमतों में परिवर्तन उसी अनुपात में होगा जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा परिवर्तित होती है। उनका विश्वास था कि मुद्रास्फीति से बहुत डरने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जब तक मानवीय और भौतिक साधन बेकार हैं, मुद्रा की मात्रा में वृद्धि से रोजगार के स्तर में वृद्धि होगी। पूर्ण रोजगार की स्थिति के बाद मुद्रा की पूर्ति में प्रत्येक वृद्धि कीमत स्तर को बढ़ायेगी। केन्ज़ इस बात से भी इंकार नहीं करते कि कीमतें पूर्ण रोजगार की स्थिति पर पहुंचने से पहले भी बढ़ सकती हैं लेकिन ऐसी स्थिति को उसने **'अर्ध-मुद्रा स्फीति'** या बाधा (bottleneck) **'मुद्रास्फीति' कहा।**

केन्ज़ ने एक नयी संकल्पना प्रस्तुत की जिसे **स्फीति अन्तराल (inflationary gap)** कहते हैं। स्फीति अन्तराल अर्थव्यवस्था में एक ऐसी स्थिति को दर्शाता है जब प्रत्याशित व्यय (मांग) आधार कीमतों या पूर्व-मुद्रास्फीति कीमतों पर उपलब्ध उत्पादन (पूर्ति) से अधिक होता है। इस प्रकार प्रयोज्य आय (disposable income) और उपभोग के लिये उपलब्ध उत्पादन का अन्तर स्फीति अन्तराल होता है। दूसरे शब्दों में, जब निवेश व्यय या सरकारी आय में या दोनों में वृद्धि के कारण मौद्रिक आय बढ़ती है लेकिन उत्पादन क्षमता की सीमाओं के कारण वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति उसी अनुपात में नहीं बढ़ती तो स्फीति अन्तराल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो कीमतों में वृद्धि को बढ़ावा देती है। यह स्थिति केवल तब उत्पन्न होती है जब कुल मौद्रिक आय, जो लोग उपभोग पर खर्च करने को इच्छुक हैं, मुद्रास्फीति से पूर्व कीमतों पर उपलब्ध उत्पादन से अधिक हो।

जब तक स्फीति अन्तराल रहता है तब तक कीमतें बढ़ती रहती हैं। चित्र 4.1 देखिए जिसमें यह दिखाया गया है कि अर्थव्यवस्था में स्फीति अन्तराल कैसे उत्पन्न होता है।

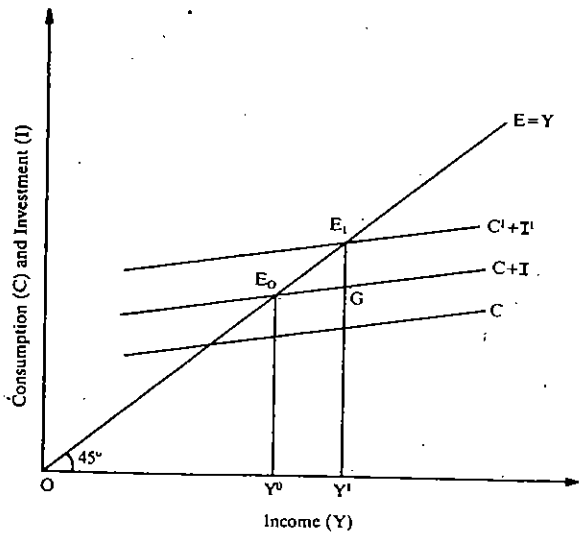

Figure 4.1 Inflationary Gap

चित्र 4.1

चित्र 4.1 में क्षैतिज अक्ष (horizontal axis) पर आय मापी गयी है और उर्ध्वस्तर अक्ष (vertical axis) पर उपभोग व निवेश व्यय को मापा गया है। 45° की रेखा शून्य बचत रेखा है। C उपभोग वक्र है, जबकि C+I वक्र पूर्ण रोजगार स्तर पर उपभोग व निवेश व्यय दर्शाता है। Eo संतुलन बिन्दु है और Yo पूर्ण रोजगार के स्तर पर आय है।

अब मान लीजिये उपभोक्ता, व्यापारी और सरकार निवेश व्यय बढ़ा देते हैं। इससे C+I वक्र विवर्तित होकर C^1+I^1 हो जाएगा। C^1+I^1 वक्र 45° रेखा को E_1 बिन्दु पर काटता है और इस प्रकार मौद्रिक आय का संतुलन स्तर OY^1 होगा। लेकिन व्यय में वृद्धि से उत्पादन में वृद्धि नहीं होती क्योंकि अर्थव्यवस्था पहले से ही पूर्ण

रोजगार की स्थिति में है। इस प्रकार उपलब्ध उत्पादन मौद्रिक आय से कम है। यह अन्तराल जो E^1G है, **स्फीति अन्तराल** कहलाता है। केन्ज़ का मत था कि इस स्फीति अन्तराल को उचित कर नीति या लोगों द्वारा ऐच्छिक या अनिवार्य बचत द्वारा अतिरिक्त क्रय शक्ति को कम करके नीचे लाना पड़ेगा।

इस प्रकार मुद्रास्फीति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

1) मुद्रास्फीति की स्थिति में हमेशा कीमतों में वृद्धि होती है। वास्तव में कीमतों में यह वृद्धि निरन्तर होती है।

2) मुद्रास्फीति वास्तव में एक आर्थिक घटना है क्योंकि आर्थिक प्रणाली में इसका जन्म होता है और आर्थिक शक्तियों की क्रियाओं और उनकी पारस्परिक क्रियाओं से यह फलती-फूलती है।

3) मुद्रास्फीति एक गत्यात्मक प्रक्रिया है जिसे प्राय दीर्घावधि के दौरान देखा जा सकता है।

4) चक्रीय उतार-चढ़ाव को मुद्रास्फीति नहीं समझना चाहिये।

5) मुद्रास्फीति एक मौद्रिक घटना है जो सामान्यतया मुद्रा की अत्यधिक पूर्ति के कारण होती है।

6) विशुद्ध मुद्रास्फीति केवल पूर्ण रोजगार के बाद शुरू होती है।

4.3 मुद्रास्फीति के रूप

स्फीतिकारी स्थितियों के वर्गीकरण के विभिन्न आधार हो सकते हैं। कीमत वृद्धि की मात्रा और गति के आधार पर विभिन्न प्रकार की मुद्रास्फीतियों में भेद किया जा सकता है। मुद्रास्फीति के वर्गीकरण का आधार वे प्रक्रियाएं भी हो सकती हैं जो इसे प्रेरित करती हैं। इसका वर्गीकरण समय के आधार पर भी किया जा सकता है, मुद्रास्फीति कभी छुट-फुट होती है तो कभी यह व्यापक होती है अन्त में मुद्रास्फीति **खुली** (Open) हो सकती है या **दमित** (suppressed) हो सकती है।

कीमत वृद्धि की मात्रा के आधार पर वर्गीकरण: कीमत वृद्धि की तीव्रता के आधार पर मुद्रास्फीति के चार रूप हो सकते हैं: 1) **मंद** (creeping) मुद्रास्फीति, 2) **चलती** (walking) मुद्रास्फीति, 3) **तेज** (running) मुद्रास्फीति, और 4) **सरपट, द्रुत या अति स्फीति** (jumping/galloping or hyper inflation)।

मंद मुद्रास्फीति: मुद्रास्फीति का एक अत्यन्त मन्द रूप है और कुछ अर्थशास्त्री इसे अर्थव्यवस्था के लिये खतरनाक नहीं मानते। वास्तव में, कुछ अर्थशास्त्री तो इसे आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। यह तर्क दिया जाता है कि इस प्रकार की स्फीति अर्थव्यवस्था को गतिहीनता के प्रभावों से मुक्त करती है। कुछ अर्थशास्त्रीयों का मत है कि मन्द मुद्रास्फीति भी अन्त में अति मुद्रास्फीति बन जाती है इसलिये इसे शुरू से ही रोकना चाहिये।

चलती मुद्रास्फीति: की स्थिति तब होती है जब कीमतों में वृद्धि रेंगती हुई मुद्रास्फीति की स्थिति में होने वाली कीमत-वृद्धि से अधिक होती है। वास्तव में यह स्थिति तेज (अधिक गतिशील) और सरपट मुद्रास्फीति के खतरे का संकेत है।

द्रुत, सरपट या अति स्फीति की स्थिति में कीमतें हर समय बढ़ती रहती हैं और इस वृद्धि की कोई सीमा नहीं होती। अति स्फीति की स्थिति एक देश की मौद्रिक प्रणाली में अत्यधिक असामान्यताओं की सूचक है। ऐसी मुद्रास्फीति की स्थिति में, उन सभी परिसम्पत्तियों का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है जिनकी आय स्थिर होती है। वेतन, बचत, गिरवी, बीमा पालिसी, बाण्ड आदि इस प्रकार की परिसम्पत्तियों और आय के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

प्रक्रियाओं के आधार पर वर्गीकरण: जब मुद्रास्फीति का वर्गीकरण उन प्रक्रियाओं के आधार पर किया जाता है जो इसे प्रेरित करती हैं तो इसके तीन रूप हो सकते हैं:

1 **घाटे की अर्थव्यवस्था से प्रेरित मुद्रास्फीति:** जब मुद्रास्फीति सरकार द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था यानि सरकार द्वारा आय से अधिक व्यय करने से होती है तो इससे घाटे की अर्थव्यवस्था से प्रेरित मुद्रास्फीति कहते हैं।

2 **मजदूरी-प्रेरित मुद्रास्फीति:** जब मुद्रास्फीति मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि के कारण होती है तो उसे मजदूरी-प्रेरित मुद्रास्फीति कहते हैं।

3 **लाभ प्रेरित मुद्रास्फीति:** निर्माताओं के लाभों में वृद्धि से होने वाली मुद्रास्फीति को लाभ-प्रेरित मुद्रास्फीति कहते हैं।

शान्तिकालीन मुद्रास्फीति वह होती है जिसमें शांति के समय सरकार के व्यय में वृद्धि से कीमतें बढ़ती हैं। आकस्मिक मुद्रास्फीति (sporadic inflation) आंशिक प्रकृति की होती है जो किसी विशेष वस्तु की पूर्ति में असामान्य कमी के कारण होती है। ऐसी मुद्रास्फीति का विशिष्ट उदाहरण है फसल के खराब हो जाने से खाद्य पदार्थों की कीमतों में वृद्धि, या एकाधिकार की ऐसी स्थिति के कारण कीमतों में वृद्धि जिसमें उद्देश्य उत्पादन को कम करना हो, या ऐसी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि, जिनका उत्पादन युद्ध के कारण अवरुद्ध हुआ है या जिनकी उत्पादन क्षमता कम की गयी हो।

मुद्रास्फीति **खुली या दमित** हो सकती है। जब कीमतें बिना किसी अवरोध के बढ़ती हैं तो इसे **खुली मुद्रास्फीति** कहते हैं। जब सरकार द्वारा प्रतिषाशाली कीमत नियंत्रण और आवश्यक वस्तुओं को राशनिंग द्वारा कीमत वृद्धि को दबा दिया जाता है तो इसे **दमित मुद्रास्फीति** कहते हैं।

मुद्रास्फीति के बारे में बहुत साहित्य उपलब्ध है जिनमें इसके विभिन्न पहलुओं का विवेचन किया गया है। लेकिन इन सब पर इस इकाई में अध्ययन करना संभव नहीं है। यहां पर हम मुद्रा स्फीति के स्रोतों के मुख्य स्पष्टीकरणों पर ही विचार करेंगे।

4.3.1 मांगजन्य मुद्रास्फीति (Demand-Pull Inflation)

यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब समग्र मांग (aggregate demand) पूर्ण रोजगार के उत्पादन स्तर से अधिक होती है। उपभोक्ता और निवेशकर्ता, जितना उत्पादन संभव है, उससे अधिक खरीदना चाहते हैं। इस प्रकार की मुद्रा स्फीति को मांग आधिक्य मुद्रास्फीति भी कहते हैं। मांगजन्य मुदरास्फीति मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण हो सकती है। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि ब्याज दर को घटाती है जो निवेश को प्रेरित करती है। इससे उपभोग व्यय भी बढ़ता है।

मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के बिना भी मांगजन्य मुद्रास्फीति हो सकती है। ऐसा तब होगा जब समग्र मांग या तो पूंजी की सीमान्त उत्पादिता के बढ़ने से या उपभोग प्रवृत्ति के बढ़ने से बढ़ती है।

चित्र 4.2 देखिये। यह चित्र मांगजन्य मुद्रास्फीति की स्थिति को दर्शाता है। इस चित्र में D_1 से D_5 तक समग्र मांग दशति हैं और S वक्र दी हुई पूर्ति दर्शाता है। समग्र मांग वक्र जैसे-जैसे D_1 से D तक ऊपर जाता है, कीमत स्तर OP_1 से OP_5 तक बढ़ता जाता है। समग्र मांग फलन में D_1 से D_3 तक विवर्तन (shift) से कीमत व समग्र उत्पादन दोनों बढ़ते हैं क्योंकि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति पर नहीं पहुंची है। इसे **बाधा (bottleneck) मुद्रास्फीति कहते हैं। एक बार** C बिन्दु यानि पूर्ण रोजगार की स्थिति पर पहुंचने पर D वक्र में और अधिक विवर्तन से केवल कीमत-स्तर में वृद्धि होगी। इसे **यथार्थ (true) मुद्रास्फीति** कहते हैं।

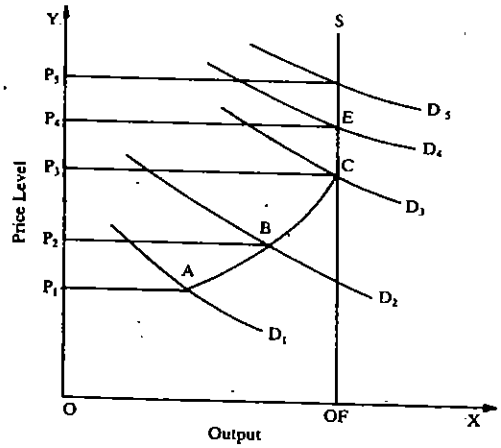

Figure 4.2 Demand Pull Inflation

4.3.2 लागतजन्य मुद्रास्फीति (Cost-Push Inflation)

1950 के दशक से पहले मुद्रास्फीति का विश्लेषण ज्यादातर मांग आधिक्य के रूप में किया जाता था और मांग आधिक्य का स्पष्टीकरण या तो क्लासिकी मुद्रा परिमाण सिद्धान्त या केन्ज़ के सिद्धान्त के द्वारा दिया जाता था। 1950 के दशक में मुद्रास्फीति के पूर्ति या लागत विश्लेषण ने अर्थशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया। लागत-जन्य मुद्रास्फीति विश्लेषण, जिसे "नया मुद्रास्फीति" सिद्धान्त भी कहते हैं, इस बात पर जोर देता है कि मुद्रास्फीति वस्तुओं की लागत या पूर्ति कीमत में वृद्धि के कारण होती है। यह मुख्यतया तीन कारणों से होती है: i) मजदूरी दर में वृद्धि, ii) लाभ की गुंजाइश में वृद्धि, या iii) सामग्री लागतों में वृद्धि।

उदाहरण के लिये जब तेजी से बढ़ती हुई मौद्रिक मजदूरी के साथ-साथ अर्थव्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में उत्पादिता नहीं बढ़ती तो इन क्षेत्रों उत्पादिता नहीं बढ़ती तो इन क्षेत्रों में कीमतें बढ़ जाती हैं। मार्टिन ब्रोनफन ब्रेनर

और एफ.डी. होल्जमैन (Martin Bronfenbrener and F.D. Holzman) के अनुसार मौद्रिक प्रणाली के शुरू होने के समय से ही एक आम आदमी का कीमत वृद्धि के लिये स्वाभाविक स्पष्टीकरण लागत वृद्धि के रूप में ही होता है। ऐसी कोई भी कीमत वृद्धि नहीं है जिसके लिये कुछ लोगों ने लाभ प्राप्त करने वालों, सट्टेबाजों, जमाखोरों या अपनी सामर्थ्य से अधिक व्यय करने वाले मजदूरों व किसानों को दोषी न ठहराया हो।

समग्र मांग फलन और समग्र पूर्ति फलन के रूप में यदि ऐसी मुद्रास्फीति को व्यक्त किया जाए तो हम कहेंगे कि अर्थव्यवस्था में लागत-जन्य मुद्रास्फीति ऐसे विभिन्न कारकों के दबाव में होती है जो समग्र पूर्ति फलन को ऊपर की ओर ले जाते हैं। चित्र 4.3 में लागत-जन्य मुद्रास्फीति की स्थिति दिखायी गयी है।

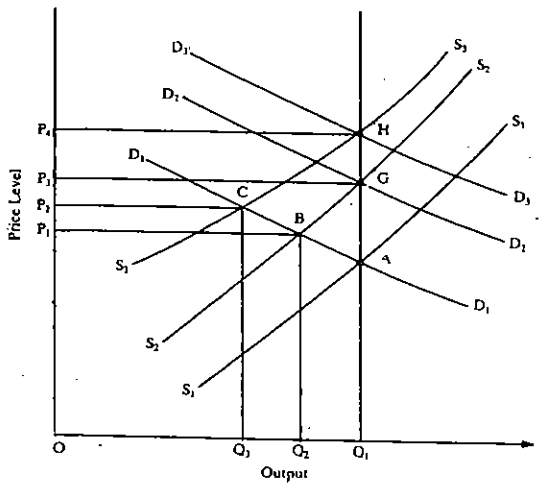

Figure 4.3 Cost-Push Inflation

मान लीजिये A बिन्दु, जिस पर मांग वक्र D_1 और पूर्ति वक्र S_1 एक दूसरे को काटते हैं, पूर्ण रोजगार संतुलन की स्थिति को दर्शाता है। सन्तुलन उत्पादन OQ_1 है और संतुलन कीमत OP_1 है। यदि समग्र पूर्ति फलन विवर्तित होकर S_2 हो जाता है तो उत्पादन घटकर OQ_2 हो जाता है और कीमत बढ़कर OP_2 हो जाती है। जब पूर्ति फलन और बढ़ता है और S_3 हो जाता है तो उत्पादन घटकर OQ_3 हो जाता है और कीमत बढ़कर OP_3 हो जाती है। इस प्रकार कीमत वृद्धि और उत्पादन में कमी तब तक होती रहेगी जब तक कि पूर्तिफलन ऊपर की ओर विवर्तित होता रहेगा।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है पूर्ति फलन के ऊपर की ओर विवर्तित होनें के मुख्य कारण ये हैं:

1) श्रम संगठनों द्वारा प्राप्त की गयी ऊंची मौद्रिक मजदूरी,

2) एकाधिकारी और अल्पाधिकारी उद्योगों में व्यावसायिक फर्मों द्वारा प्राप्त लाभ की अधिक गुंजाइश, और

3) अर्थव्यवस्था की उत्पादन प्रक्रिया के लिये महत्त्वपूर्ण कच्चे माल की ऊंची कीमतें। इन तीन कारकों से जो मुद्रास्फीति होती है उसे क्रमशः मजदूरी प्रेरित मुद्रास्फीति, लाभ प्रेरित मुद्रास्फीति और सामग्री लागत प्रेरित मुद्रास्फीति कहते हैं।

बोध प्रश्न क

) मुद्रास्फीति किसे कहते हैं?

.....

.....

.....

) स्फीति अन्तराल क्या होता है?

.....

.....

.....

.....

3) मांगजन्य मुद्रास्फीति और लागत जन्य मुद्रास्फीति में भेद कीजिये।

.....

.....

.....

.....

4) बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलत हैं:

i) यदि एक अर्थव्यवस्था में कीमत वृद्धि 20% होती है तो यह कहा जा सकता है कि इसमें मुद्रास्फीति बहुत ऊंची है।

ii) मुद्रास्फीति का अर्थ है ऊंची कीमतों की स्थिति।

iii) जब सरकार अपने राजस्व से अधिक व्यय करती तो इसे अर्थव्यवस्था में घाटे से प्रेरित मुद्रास्फीति कहते हैं।

iv) मुद्रास्फीति केवल तभी होती है जब साधन पहले से ही पूरी तरह कार्यरत हों।

v) यदि कीमतें पूर्ण रोजगार से पहले ही बढ़ती हैं तो ऐसी स्थिति को बाधा मुद्रास्फीति कहते हैं।

vi) मंद मुद्रास्फीति को आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण कारक माना जाता है।

4.4 मुद्रास्फीति के प्रभाव

मुद्रास्फीति से जब तक उत्पादन के कारकों को अतिरिक्त रोजगार मिलता है तब तक इसे बुरा नहीं समझा जाता। लेकिन जैसे ही यह नियंत्रण से बाहर हो जाती है यह बुरी हो जाती है और क्रय शक्ति को कम कर देती है और सामाजिक समता जैसे अच्छे सिद्धान्त का भी ध्यान नहीं रखती। "मुद्रास्फीति की तुलना एक डाकू से की जा सकती है। यह अपने शिकार को कुछ चीजों से वंचित कर देती है। डाकू और मुद्रास्फीति में यह अन्तर है कि डाकू दिखायी देता है लेकिन मुद्रा स्फीति दिखायी नहीं देती; एक डाकू का एक समय में शिकार एक, दो या कुछ व्यक्ति हो सकते हैं लेकिन मुद्रास्फीति का शिकार पूरा देश होता है; डाकू को न्यायालय तक ले जाया जा सकता है लेकिन मुद्रास्फीति वैध है।" मुद्रास्फीति अर्थव्यवसथा को विघटित करती है और आर्थिक व सामाजिक उथल-पुथल के लिये रास्ता बनाती है और इसके साथ-साथ यह नैतिक पतन भी लाती है। एक उद्यमी जिससे अधिक मजदूरी की मांग की जाती है, और जो ऐसी मांग को पूरा करने का प्रयत्न करता है, एक अवकाश प्राप्त व्यक्ति जो नियत पेंशन से अपना गुजारा करने का प्रयत्न करता है, एक नियत आय वाला व्यक्ति जो बैंक व अन्य संस्थाओं से ऋण लेकर अपनी गृहस्थी की आवश्यकताओं को पूरा करता है और एक गृहिणी जो बढ़ती हुई कीमतों के समय में घरवालों को भोजन प्रदान करने के लिये जुझती है, को यह बताने की जरूरत नहीं है कि मुद्रास्फीति एक गम्भीर आर्थिक समस्या है। मुद्रास्फीति के अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों और समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले प्रभाव निम्नलिखित हैं:

1) **उत्पादन पर प्रभाव:** केन्ज़ के अनुसार जब तक अर्थव्यवस्था में साधन बेरोजगार हैं थोड़ी सी मुद्रास्फीति उचित है क्योंकि इससे आशा की किरणें फूटती हैं जो व्यापारियों को अधिक निवेश करने को प्रेरित करती हैं। लेकिन यह स्थिति पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुँचने तक ही रह सकती है क्योंकि पूर्ण रोजगार के बाद कीमतें बढ़ने लगती हैं और संयत (moderate) मुद्रास्फीति अति स्फीति का रूप ले लेती है। इसका उत्पादन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यह कीमत तंत्र की निर्विघ्न क्रिया को विकृत कर देती है, पूंजी निर्माण में रुकावट डालती है, सट्टेबाजी और जमाखोरी को प्रोत्साहित करती है, और इसके कारण उत्पादक साधनों का दुरुपयोग होता है। संक्षेप में, मुद्रास्फीति व्यवसाय को बाजारों को चालाकी से प्रभावित करके लाभ कमाने के लिये प्रोत्साहित करती है, कुशल उत्पादन द्वारा लाभ प्राप्त करने को नहीं।

2) **वितरण पर प्रभाव:** मुद्रास्फीति आय का पुनः वितरण करती है क्योंकि सभी कारकों की कीमतें समान अनुपात में नहीं बढ़ती। इससे श्रमिकों और नियत आय वाले वर्ग की तुलना में उद्यमियों को अधिक लाभ होता है। अप्रत्याशित लाभों के कारण सट्टेबाजों, जमाखोरों, काले बाजार में धंधा करने वालों और तस्करों को फायदा होता है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तनों के फलस्वरूप धन का भी पुनः वितरण होता है। यह दो कारणों से होता है। अंशतः इसलिये कि कीमतों में एक समान वृद्धि नहीं होती और अंशतः इसलिये कि ऋण मुद्रा में व्यक्त किये जाते हैं। मुद्रास्फीति एक प्रकार का छुपा हुआ कर है जो गरीबों के लिये बहुत हानिकारक है। इससे गरीब और गरीब होते जाते हैं।

3) **ऋणी और ऋणदाता:** ऋणी ऋणदाता से उधार लेते हैं जिसे बाद में ब्याज सहित वापस करना होता है। इन पर मुद्रास्फीति का अलग-अलग समय पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। मुद्रास्फीति के दौरान जब कीमतें

बढ़ती है (और मुद्रा का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है) तो ऋणी जो ऋण वापस करते हैं उसका वास्तविक मूल्य इस ऋण के उस समय के वास्तविक मूल्य से कम होता है जब उन्होंने यह लिया था इस प्रकार ऋणी को लाभ होता है। दूसरी ओर, ऋणदाताओं को जब ऋण वापस मिलता है तो उसका वास्तविक मूल्य (वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मूल्य) ऋण के उस समय के वास्तविक मूल्य से कम होता है जब यह दिया गया था, और इस प्रकार ऋणदाता को हानि उठानी पड़ती है।

4) **उद्यमी:** जब कीमतें बढ़ती हैं तो उत्पादकों, व्यापारियों, सट्टेबाजों और उद्यमियों को अप्रत्याशित लाभों के कारण फायदा होता है क्योंकि उत्पादन लागत की तुलना में कीमत वृद्धि अधिक तेज दर से होती है। इसके अतिरिक्त कीमत वृद्धि और लागत वृद्धि में एक अन्तराल होता है। इसके अलावा, उत्पादकों को तो यह फायदा भी होता है कि उनके स्टॉक की कीमतें मुद्रास्फीति के कारण बढ़ जाती हैं। और क्योंकि व्यापार के लिये इन्होंने ऋण लिया है इसलिये ऋणी होने से भी इन्हें फायदा होता है।

5) **निवेशक:** विभिन्न प्रकार के निवेशकों पर मुद्रास्फीति के विभिन्न प्रभाव पड़ते हैं। एक निवेशक बौण्ड और ऋणपत्रों में निवेश कर सकता है, इनसे उसे एक निश्चित ब्याज की दर प्राप्त होती है या वह जायदाद या ईक्विटी शेयरों में निवेश कर सकता है जिनका प्रतिफल (लाभांश) सम्बद्ध कम्पनियों के लाभों के बटने व घटने के साथ बढ़ता व घटता है। जब कीमतें बढ़ती हैं तो लाभों के बढ़ने से शेयरों पर प्रतिफल बढ़ता है। जबकि बौण्ड या ऋणपत्र धारकों को कोई लाभ नहीं होता क्योंकि इनसे प्राप्त होने वाली आय नियत रहती है।

6) **किसान:** उद्योगों में उत्पादकों की भांति मुद्रास्फीति के दौरान किसानों को भी फायदा होता है। लागतों (जैसे ब्याज व कर) की तुलना में कीमतों में अधिक तीव्र वृद्धि होती है। किसान द्वारा उत्पादित उत्पाद की कीमतें पहले बढ़ती हैं और लागतें बाद में बढ़ती हैं। भारत में यह देखा गया है कि युद्ध और उसके बाद के समय के दौरान मुद्रास्फीति की प्रवृतियों ने किसानों की अपने पुराने ऋणों को चुकाने में सहायता की है। इसके अतिरिक्त किसान साधारणतया ऋणी होते हैं और मुद्रास्फीति की स्थिति में उन्हें वास्तविक रूप में कम भुगतान करना पड़ता है जबकि भू-राजस्व और करों आदि में अधिक वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार किसानों को मुद्रास्फीति के दौरान सामान्यतया फायदा होता है।

7) **श्रमजीवी (Wage earners):** मुद्रास्फीति के दौरान रहन-सहन की लागत में वृद्धि को प्रभावहीन करने के लिये श्रमजीवियों की मजदूरी में वृद्धि की जाती है। फिर भी उन्हें हानि होती है, क्योंकि मजदूरी में वृद्धि उतनी नहीं होती जितनी की उन वस्तुओं की कीमतों में होती है जिनका वे उपभोग करते हैं। इसके अतिरिक्त, मजदूरी में वृद्धि कीमतों में वृद्धि के काफी बाद में की जाती है। इस अन्तराल के कारण श्रमिकों को हानि होती है। यदि श्रमिक संगठित हों तो यह संभव है कि मुद्रास्फीति के दौरान उन्हें अधिक कष्ट न उठाने पड़ें, लेकिन यदि वे असंगठिक हैं (जैसे कि कृषि श्रमिक) तो उन्हें अधिक कष्ट उठाने पड़ सकते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में उनके लिये अपनी मजदूरी में वृद्धि करना आसान नहीं होगा।

8) **मध्यम वर्ग और वेतन प्राप्त करने वाले व्यक्ति:** मुद्रास्फीति का सबसे बुरा प्रभाव उन व्यक्तियों पर पड़ता है जिनकी आय निश्चित होती है और जिन्हें प्रायः मध्यम वर्ग कहते हैं। वे व्यक्ति जो पहले की गयी बचतों, निश्चित ब्याज, किराये, पेंशन, वेतन आदि से अपना निर्वाह करते हैं, उन्हें कीमतों के बढ़ने से बहुत कष्ट सहना पड़ता है क्योंकि उनकी आय नियत रहती है। केमरर (Kemmerer) का कहना है कि मध्यम वर्ग जो कठिन परिश्रम और कम खर्च करके अपने बच्चों की शिक्षा के लिये और बीमारी आदि के दिनों व बुढ़ापे के लिये बचत करता है, भयंकर मुद्रास्फीति के समय में स्वयं को निराशाजनक स्थिति में पाता है।

9) **सरकार:** एक मिश्रित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक श्रेत्र कीमत स्तर के उतार-चढ़ावों से प्रभावित होता है। जैसे-जैसे कीमतें बढ़ती हैं वैसे-वैसे सरकार को अपनी परियोजनाओं को पूरा करने के लिये वस्तुओं, सेवाओं और कच्चे माल पर अधिकाधिक व्यय करना होता है। अनुमानित व्यय में संशोधन करना होता है और कर बढ़ाने होते हैं।

10) **जनता का मनोबल:** मुद्रास्फीति के कारण व्यापारियों और ऋणियों के पक्ष में धन का मनमाने ढंग से पुनः वितरण होता है, इससे उपभोक्ताओं, ऋणदाताओं, और छोटे दुकानदारों, छोटे निवेशकों और नियत आय प्राप्त करने वालों को हानि होती है। इससे जनता का मनोबल गिरता है। अति मुद्रास्फीति के समय नैतिक स्तर और जनता का मनोबल बहुत अधिक गिर जाता है।

4.5 मुद्रा स्फीति का नियंत्रण

मुद्रास्फीति अति मुद्रास्फीति का रूप न ले इसके लिये शुरू से ही इस पर नियंत्रण करना आवश्यक है। मुद्रास्फीति के नियंत्रण के लिये मौद्रिक व राजकोषीय उपाय करने होते हैं जिनके द्वारा समग्र मांग के स्तर को घटाया जाता

है ताकि इसे अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार उत्पादन के बराबर किया जा सके। प्रत्यक्ष और परोक्ष करों की संख्या व दर तथा ब्याज की दर बढ़ा कर निवेश या उपभोग या दोनों के स्तर को घटाया जा सकता है। मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के उपायों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है: (1) मौद्रिक उपाय, (2) राजकोषीय उपाय, और (3) प्रत्यक्ष नियंत्रण तथा अन्य उपाय।

1) **मौद्रिक उपाय (monetary measures):** देश के केन्द्रीय बैंक के पास मुद्रा और साख की पूर्ति को नियंत्रित करने के जो तीन उपाय होते हैं उनकी सहायता से वह मुद्रास्फीति को रोक सकता है। ये तीन उपाय हैं - बैंक दर नीति, खुले बाजार की प्रक्रियाएं और सदस्य बैंकों पर नकद कोष अनुपात का प्रतिबन्ध। अल्पविकसित देशों में एक विकसित व संघठित मुद्रा बाजार के अभाव के कारण मौद्रिक नीति बहुत प्रभावशाली नहीं होती। अल्पविकसित देशों में सामान्य साख नियंत्रण की तुलना में चयनात्मक साख नियंत्रण को प्राथमिकता दी जाती है। चुनी हुई आर्थिक क्रियाओं में मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिये चयनात्मक साख नियंत्रण नीति का प्रयोग किया जाता है। इस नीति के अन्तर्गत जो विभिन्न उपाय किये जाते हैं वे हैं वाणिज्य बैंकों को कुछ निश्चित वस्तुओं के विरुद्ध उधार न देने के आदेश देना, या कुछ निश्चित वस्तुओं के विरुद्ध या निश्चित क्षेत्रों में बैंक द्वारा स्वीकृति दी जाने वाली कुछ साख सीमाओं को घटाना। तथापि, मौद्रिक नीति की अपनी कुछ सीमाएं हैं और केवल इसी नीति के द्वारा मुद्रास्फीति जैसी गम्भीर समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। भारत में रिजर्व बैंक की महंगी मुद्रा नीति (dear money policy), जिसका उद्देश्य बैंक साख को कम करना है, कीमत वृद्धि को नहीं रोक पाई।

2) **राजकोषीय उपाय (fiscal measures):** मौद्रिक उपायों की सीमाओं के कारण मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिये राजकोषीय उपायों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण हो जाता है। राजकोषीय उपायों में कराधान, सरकार व्यय और सार्वजनिक ऋण आते हैं। सरकार को कराधान के द्वारा उद्यमियों और निवेशकों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना अधिकाधिक क्रय शक्ति को समेट लेना चाहिये। सरकारी व्यय में कमी और सरकार के कुल राजस्व में वृद्धि यानि बचत का बजट (surplus budget) अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति को रोकने का एक सफल राजकोषीय उपाय है। एक अवरोही कर ढांचे (regressive tax structure) के साथ-साथ अनुत्पादक व्यय को कम करके अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति के प्रभाव को सफलतापूर्वक कम किया जा सकता है। एक ऐसी कर नीति बनाना, जिससे मांग तो कम की जा सके लेकिन उत्पादन निरुत्साहित न हो, एक अन्य राजकोषीय उपाय है जिससे मुद्रास्फीति को नियंत्रित किया जा सकता है। निजी बचतों का मुद्रास्फीति को रोकने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। सरकार को ऐसे उपाय करने चाहिये जिससे निजी बचतें बढ़ें। मुद्रास्फीति के समय सरकार को अपने पिछले ऋण वापस नहीं करने चाहिये जिससे कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि को रोका जा सके। केन्ज ने मुद्रास्फीति के नियंत्रण के लिये अनिवार्य बचत कार्यक्रम का सुझाव दिया था जैसे कि अस्थगित वेतन (deferred pay) बाध्य बचतें (forced saving)। आस्थगित वेतन का अर्थ है कि श्रमिकों के वेतन के एक भाग को उनके बचत खाते में क्रेडिट कर दिया जाए और ये उन्हें खर्च करने के लिये तब तक कि मुद्रास्फीति की स्थिति रहती है। ऐसी अनिवार्य बचत योजनाएं केवल युद्ध के समय या उसके बाद अति स्फीति के समय में ही व्यावहारिक होती है, शान्ति के समय में नहीं। खास तौर से लोकतंत्रीय समाज में तो ऐसा करना कठिन होता है।

3) **प्रत्यक्ष नियंत्रण:** बहुत से देश मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिये प्रत्यक्ष उपाय करते हैं। ये उपाय कीमत नियंत्रण और आवश्यक वस्तुओं की राशनिंग हैं। लेकिन राशनिंग और कीमत नियंत्रण जैसे उपाय अल्पविकसित देशों में बहुत प्रभावी सिद्ध नहीं हो पाए हैं क्योंकि ऐसे उपायों को कार्यान्वित करने के लिये इन देशों में सक्षम और ईमानदार प्रशासनिक व्यवस्था नहीं होती। इन देशों में ऐसे उपाय करने से बाजारों से बहुधा वस्तुएं गायब हो जाती हैं। जिससे काला-बाजारी, घूसखोरी और रिश्वत के अवसर बढ़ते हैं।

विलासिता की वस्तुओं के स्थान पर आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के उपाय करने चाहिये क्योंकि विलासिता की वस्तुओं की तुलना में आवश्यक वस्तुओं की कमी कीमतों को अधिक तेजी से बढ़ाती हैं। मजदूरी-कीमत उच्चक्र (wage-price spiral) को रोकने के लिये बहुधा मजदूरी को नियंत्रित करने का सुझाव दिया जाता है। द्रुत (galloping) मुद्रास्फीति की स्थिति में मजदूरी व लाभों को स्थिर करना आवश्यक हो सकता है। मजदूरी और लाभों पर नियंत्रण प्रयोज्य (disposable) आय को कम करता है और इससे वस्तुओं व सेवाओं की प्रभावी मांग का स्तर नीचा रहता है। अधिकाधिक विदेशी पूंजी प्राप्त करने के प्रयत्न करने चाहिये। विदेशी पूंजी से किया गया निवेश कम स्फीतिकारी होता है। उत्पादन बढ़ाने के लिये हर संभव प्रयत्न करना चाहिये। ऐसी परियोजनाओं में निवेश को प्राथमिकता देनी चाहिए जिनमें उत्पादन शीघ्र होता हो।

मुद्रास्फीति को शुरू की अवस्था में नियंत्रित करना सरल है। एक अवस्था के बाद यह अपने आप बढ़ने लगती है और स्फीतिकारी समस्या इतनी भयंकर हो जाती है कि इसे नियंत्रित करना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिये, अति मुद्रा स्फीति को दूर करने के लिये पुरानी करेंसी के स्थान पर नयी करेंसी लानी होती है। मुद्रास्फीति एक दैत्य के समान है जिससे लड़ने के लिये कई प्रकार के हथियारों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिये किसी भी एक उपाय पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

बोध प्रश्न ख

1) मुद्रास्फीति का उत्पादन पर क्या प्रभाव होता है?

.....

.....

.....

2) मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के मुख्य राजकोषीय उपाय बताइये।

.....

.....

.....

3) बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलत हैं:
   1) मुद्रास्फीति की स्थिति में लाभ प्राप्त करने वालों को कीमत पर मजदूरी अर्जित करने वालों को फायदा होता है।
   2) मुद्रास्फीति से ऋणियों को लाभ होता है और ऋणदाताओं को हानि।
   3) मुद्रास्फीति के दौरान गरीब और गरीब हो जाते हैं।
   4) मुद्रास्फीति से ईक्विटी शेयर होल्डरों को सामान्यता फायदा होता है और बौण्ड होल्डरों को हानि होती है।
   5) मुद्रा और साख की पूर्ति को सीमित करके मुद्रास्फीति को नियंत्रित किया जा सकता है।

4.6 सारांश

मुद्रास्फीति कीमतों में निरन्तर वृद्धि की स्थिति है। मुद्रास्फीति तब होती है जब अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति से अधिक होती है। केन्ज़ के अनुसार यथार्थ (true) मुद्रास्फीति केवल पूर्ण रोजगार के बाद ही शुरु होती है।

मुद्रास्फीति को इसकी गति, समय, प्रक्रिया और कीमत वृद्धि की मात्रा के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है।

मुद्रास्फीति मुख्यतः दो प्रकार की होती है अर्थात् मांगजन्य मुद्रास्फीति और लागतजन्य मुद्रास्फीति। जब समग्र मांग पूर्ण रोजगार उत्पादन स्तर से अधिक होती है तब मांगजन्य मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मांगजन्य मुद्रास्फीति मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण हो सकती है।.लागतजन्य मुद्रास्फीति की स्थिति में उत्पादन लागत में वृद्धि होने से कीमतें बढ़ जाती हैं। उत्पादन लागत मजदूरी में वृद्धि या कच्चे माल की लागत में वृद्धि या लाभ में वृद्धि से बढ़ सकती है। दूसरे शब्दों में, ऐसी मुद्रास्फीति की स्थिति पूर्ति की ओर से उत्पन्न होती है, मांग की ओर से नहीं और यह सारी अर्थव्यवस्था में फैल जाती है।

मुद्रास्फीति से ऋणियों को लाभ और ऋणदाताओं को हानि होती है। जब कीमतें बढ़ती हैं तो उत्पादकों, व्यापारियों और सट्टेबाजों को अप्रत्याशित लाभों के कारण फायदा होता है। यद्यपि मुद्रास्फीति से उत्पादन लागत भी बढ़ती है लेकिन उत्पादन लागत की तुलना में कीमत वृद्धि की दर अधिक तेज होती है। मुद्रास्फीति को नियंत्रित करना आवश्यक है और इसके लिये विभिन्न मौद्रिक और राजकोषीय उपाय किये जाते हैं। क्योंकि यह प्रभावी मांग के आधिक्य से होती है इसलिये इसे नियंत्रित करने के उपाय का आशय है कुल प्रभावी मांग को कम करना। ऊँची बैंक दर, खुली बाजार की प्रक्रियाएं और अन्य साख नियंत्रण के उपाय मौद्रिक उपाय कहलाते हैं और इनका प्रयोग साधारणतया देश का केन्द्रीय बैंक करता है। सरकारी व्यय, कर, सार्वजनिक ऋण, बचतें आदि राजकोषीय उपाय के अंतर्गत आते हैं। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण उपाय भी हैं जैसे कि उत्पादन का समायोजन, उपयुक्त मजदूरी नीति, कीमत नियंत्रण और राशनिंग। लेकिन ये उपाय मौद्रिक व राजकोषीय उपायों के पूरक मात्र ही हैं।

4.7 शब्दावली

लागत जन्य मुद्रास्फीति (Cost-push Inflation): मौद्रिक मजदूरी, कच्चे माल की कीमत और लाभ की गुंजाइश आदि में वृद्धि से उत्पादन लागत के बढ़ने के कारण होने वाली मुद्रास्फीति।

मांगजन्य मुद्रास्फीति (Demand-pull Inflation): समग्र मांग का आय व रोजगार के स्तर से अधिक होने के कारण होने वाली मुद्रास्फीति। मांग आधिक्य निजी क्षेत्रक या सार्वजनिक क्षेत्रक किसी में भी हो सकता है।

सरपट या अति मुद्रास्फीति (Galloping or Hyper Inflation): मुद्रास्फीति की वह स्थिति जिसमें कीमतें हर समय बढ़ती रहती हैं और कीमत वृद्धि की कोई सीमा नहीं होती।

मुद्रास्फीति (Inflation): सामान्य कीमत स्तर में निरंतर वृद्धि जो समग्र मुद्रा पूर्ति में ऊँची दर से वृद्धि के कारण होती है।

खुली मुद्रास्फीति (Open Inflation): मुद्रास्फीति की वह स्थिति जब कीमतें बिना किसी रुकावट के बढ़ती हैं।

दमित मुद्रास्फीति (Suppressed Inflation): वह स्थिति जब सरकार द्वारा कुछ नीतियों के अपनाने से कीमत वृद्धि को रोका जाता है।

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 4 i) गलत, ii) गलत, iii) सही, iv) सही, v) सही

ख 3 i) गलत, ii) सही, iii) गलत, iv) सही, v) सही।

4.9 स्वपरख प्रश्न

1) मुद्रास्फीति की परिभाषा दीजिये और स्फीतिकारी प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिये।

2) मांगजन्य मुद्रास्फीति और लागतजन्य मुद्रास्फीति की विशेषताएं बताइये।

3) एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में उत्पादन और वितरण पर मुद्रास्फीति के प्रभावों का विवेचन कीजिये।

4) मुद्रास्फीति को क्यों नियंत्रित करना चाहिये? इसे नियंत्रित करने के लिये अपनाये जाने वाले उपायों को स्पष्ट कीजिये।

5) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये:

   i) स्फीति अन्तराल

   ii) कीमत वृद्धि की मात्रा के आधार पर मुद्रास्फीति का वर्गीकरण

   iii) मुद्रास्फीति और श्रमिक

नोट: इन प्रश्नों से आपको इस इकाई को और अच्छी तरह से समझने में सहायता मिलेगी। उनके उत्तर देने का प्रयास कीजिए। लेकिन अपने उत्तर विश्वविद्यालय को मत भेजिए। ये सिर्फ आपके अपने अभ्यास के लिए दिए गए हैं।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

डा. एस के मिश्रः *मुद्रा एवं बैंकिंग अंतराष्ट्रीय व्यापार एवं लोक वित्त* (श्री महावीर बुक डिपो, दिल्ली, 1989 (अध्याय 1, 2, 8, 10)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

B.Com-D-4
मुद्रा बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएं

खंड

2

बैंकिंग सिद्धान्त और व्यवहार

इकाई 5

व्यापारिक बैंकिंग 5

इकाई 6

भारत में व्यापारिक बैंकिंग 19

इकाई 7

केन्द्रीय बैंकिंग 31

इकाई 8

भारतीय रिज़र्व बैंक 44

इकाई 9

भारतीय मुद्रा बाजार 57

खण्ड 2 बैंकिंग सिद्धान्त और व्यवहार

मुद्रा के विकास का बैंकिंग के विकास के साथ गहरा सम्बन्ध है। उन सभी व्यापारिक संस्थाओं में जिनके द्वारा आन्तरिक व बाह्य व्यापार किया जाता है, बैंक सबसे महत्वपूर्ण हैं। उचित बैंकिंग प्रणाली के अभाव में किसी भी देश का आर्थिक विकास नहीं हो सकता। इस खण्ड में बैंकिंग प्रणाली के विकास, संरचना और कार्य प्रणाली के सामान्य अध्ययन के साथ-साथ भारतीय बैंकिंग प्रणाली का भी अध्ययन करेंगे। इस खण्ड में 5 इकाइयाँ हैं।

इकाई 5 में बैंकिंग प्रणाली के विकास और संरचना तथा बैंकिंग के आर्थिक महत्व के बारे में बताया गया है। इसमें व्यापारिक बैंकों के कार्यों और उनके द्वारा साख निर्माण करने की विधियों का भी वर्णन किया गया है।

इकाई 6 में भारत में बैंकिंग संरचना पर विचार किया गया है। इसमें भारतीय स्टेट बैंक की भूमिका, बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने के कारणों और भारत में व्यापारिक बैंकों की समस्याओं पर भी विचार किया गया है।

इकाई 7 में केन्द्रीय बैंक की कार्य प्रणाली, इसका अर्थ व इसके कार्य, केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों में अन्तर तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाये जाने वाले साख नियंत्रण के अनेक उपाय समझाये गये हैं।

इकाई 8 भारतीय रिजर्व बैंक की कार्य प्रणाली, साख नियंत्रण की विभिन्न पद्धतियों और भारतीय रिजर्व बैंक की मुद्रा नीति को स्पष्ट करती है।

इकाई 9 भारतीय मुद्रा बाजार का वर्णन करती है। यह भारतीय मुद्रा बाजार की प्रकृति, संरचना व कमियों को भी स्पष्ट करती है।

इकाई 5 व्यापारिक बैंकिंग (Commercial Banking)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 बैंकिंग का विकास
  5.2.1 इंग्लैंड में बैंकिंग का विकास
  5.2.2 भारत में बैंकिंग का विकास
5.3 बैंकों की संरचना
  5.3.1 शाखा बैंकिंग
  5.3.2 इकाई बैंकिंग
  5.3.3 समूह बैंकिंग
  5.3.4 शृंखला बैंकिंग
5.4 व्यापारिक बैंकों के कार्य
  5.4.1 बैंक की परिभाषा
  5.4.2 प्राथमिक कार्य
  5.4.3 गौण कार्य
5.5 बैंकिंग का आर्थिक महत्व
5.6 साख निर्माण
  5.6.1 निवेश सूची के प्रबंध संबंधी नियम
  5.6.2 साख निर्माण
5.7 सारांश
5.8 शब्दावली
5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.10 स्वपरख प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- बैंकिंग के विकास के बारे में बता सकें
- बैंकों की संरचना का वर्णन कर सकें
- व्यापारिक बैंकों के कार्य बता सकें
- बैंकिंग के आर्थिक महत्व को स्पष्ट कर सकें
- व्यापारिक बैंकों द्वारा साख निर्माण की विधियों का वर्णन कर सकें।

5.1 प्रस्तावना

किसी भी देश के आर्थिक विकास में व्यापारिक बैंकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यापारिक बैंक का कार्य मुख्यतया जमा स्वीकार करना और अल्पकालीन ऋण देना होता है। इसके अतिरिक्त, व्यापारिक बैंक समाज के लिये बहुत से अन्य उपयोगी कार्य करते हैं। प्रत्येक व्यापारिक बैंक को कोष मुख्यतया तीन स्रोतों से प्राप्त होता है : शेयर पूंजी, आरक्षित कोष और आम जनता से जमा राशि। विश्व में बैंकिंग का विकास होने के साथ-साथ विभिन्न बैंकिंग प्रणालियाँ प्रचलन में आयीं। इस इकाई में आप बैंकिंग प्रणालियों के विकास, व्यापारिक बैंकों के कार्यों, बैंकिंग का आर्थिक महत्व और व्यापारिक बैंकों द्वारा साख निर्माण की विधि के बारे में पढ़ेंगे।

5.2 बैंकिंग का विकास

आधुनिक व्यापारिक बैंकिंग की शुरुआत तो प्राचीन काल में ही हो गयी थी। शुरू में व्यापारिक बैंकिंग का सम्बन्ध निजी क्षेत्र में मुद्रा परिवर्तन (money changing) से था। ग्रीस के डेल्फी और औलिम्पिया नाम के मशहूर मंदिर जमा स्वीकार करने और उधार देने के केन्द्र बने हुए थे। प्राचीन रोम में बैंकिंग का विकास ग्रीस वाली पद्धति पर ही हुआ। लेकिन सार्वजनिक उद्यम के रूप में बैंकिंग की शुरुआत इटली में बारहवीं शताब्दी के मध्य के आसपास हुई। बैंक ऑफ वेनिस की स्थापना 1157 में हुई और यह विश्व का प्राचीनतम बैंक माना जाता है। व्यापारिक क्रियाओं का विस्तार होने के साथ-साथ उत्तर यूरोप में बहुत-सी बैंकिंग संस्थाएँ स्थापित की गयीं।

5.2.1 इंग्लैंड में बैंकिंग का विकास

इंग्लैंड में बैंकिंग की शुरुआत का आधार सुनार थे। गृह युद्ध के दिनों इंग्लैंड में असुरक्षा और दुर्व्यवस्था का बोलबाला था। अपने पैसों की सुरक्षा के लिये लोग सुनारों के पास जाते थे जिनके पास अच्छे और मजबूत कोष-कक्ष होते थे। सुनार जो मुद्रा प्राप्त करते थे उसकी रसीद देने लगे और उस रसीद पर जमाकर्ता को पैसा वापस करने का वचन होता था। बाद में, इन रसीदों को बैंक नोटों का दर्जा मिल गया।

बाद में सुनारों ने देखा कि अपने पैसे का कुछ भाग उधार देना सुरक्षित व लाभकारी है। क्योंकि उधार देना लाभकारी सिद्ध हुआ अतः यह उनका नियमित कार्य बन गया। नियमित खाते रखे जाते थे और पास बुक भी दी जाती थी। यथा समय सुनारों ने सरकार को भी उधार दिया। इससें उन्हें अपने मुख्य कार्य को छोड़कर बैंकर का कार्य करने की प्रेरणा मिली। सुनारों द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में लाभ अर्जित करने से बहुत-सी फर्में और व्यापारी बैंकिंग व्यवसाय की ओर आकर्षित हुएं।

इस प्रगति को 1672 में एक धक्का लगा, लेकिन यह अस्थायी था। जल्दी ही सुनारों में विश्वास पुनः स्थापित हो गया। बैंक ऑफ इंग्लैंड की स्थापना 1694 में हुई। इंग्लैंड में स्थापित बैंकों की पद्धति पर ही यूरोप के बहुत से देशों में बैंक स्थापित किये गये और इससे आधुनिक बैंकिंग प्रणाली पूरे विश्व में फैल गयी। लेकिन संयुक्त पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों की शुरुआत इंग्लैंड में 1833 में बैंकिंग अधिनियम बनने के बाद ही हुई।

5.2.2 भारत में बैंकिंग का विकास

भारत में पैसा उधार देने का कार्य व्यवसाय के रूप में ईसा से 500 वर्ष पूर्व विकसित हुआ, लेकिन पहला आधुनिक बैंक मद्रास में 1688 में स्थापित किया गया था। भारत में अंग्रेजों द्वारा शुरू किये गये एजेन्सी हाउसेज (Agency houses) ने यहाँ संयुक्त पूंजी बैंकों की स्थापना के लिये रास्ता तैयार किया। बैंक ऑफ हिन्दुस्तान की स्थापना कलकत्ते में 1770 में की गयी। जनरल बैंक ऑफ इंडिया 1786 में स्थापित किया गया। तीन प्रेजीडेंसी बैंक, यानी बैंक ऑफ कलकत्ता (1806), बैंक ऑफ बम्बई (1840) और बैंक ऑफ मद्रास (1843) स्थापित किये गये। बाद में इन तीनों बैंकों का विलय हो गया और इससे 1921 में इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया बना, जिसका 1955 में राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक ऑफ इंडिया का नाम दे दिया गया।

बहुत से अन्य बैंक, जैसे कि इलाहाबाद बैंक (1865), पंजाब नेशनल बैंक (1894), बैंक ऑफ इंडिया (1906), इंडियन बैंक (1907), बैंक ऑफ बड़ौदा (1909), सैन्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया (1911) स्थापित किये गये। फिर भी भारतीय बैंकिंग में संकट का सिलसिला रहा और इसके फलस्वरूप बहुत से बैंक असफल हो गये। ऐसा प्रथम विश्व युद्ध के बाद के समय में अधिक हुआ। इसीलिये भारत में बैंकिंग प्रणाली को नियमित व नियंत्रित करने के लिये रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना की गयी।

5.3 बैंकों की संरचना (Structure of Banks)

बैंकिंग की संरचना अलग-अलग देशों में अलग-अलग है। यह संरचना बहुत से कारकों द्वारा निर्धारित होती है जैसे परम्पराएँ आर्थिक स्थिति, राजनैतिक स्थिति, जनता का दृष्टिकोण,

सरकार की नीतियाँ और स्थलाकृतिक अवस्थाएँ (topographical conditions)। विश्व में बैंकिंग के विकास के साथ विभिन्न बैंकिंग प्रणालियों का उदय हुआ। इनमें शाखा बैंकिंग, इकाई बैंकिंग, समूह बैंकिंग और शृंखला बैंकिंग महत्वपूर्ण हैं।

5.3.1 शाखा बैंकिंग (Branch Banking)

शाखा बैंकिंग का तात्पर्य उस बैंकिंग प्रणाली से है जिसमें एक ही स्वामित्व या प्रबन्ध के अन्तर्गत एक ही संस्था के रूप में दो या अधिक बैंकिंग कार्यालयों का संचालन किया जाता है। इस प्रकार प्रधान कार्यालय द्वारा व्यवसाय का संचालन पूरी दुनिया में बिछे शाखाओं के जाल के जरिये किया जाता है। इस प्रणाली में प्रत्येक बैंक का एक वैध अस्तित्व होता है और इनके अंशधारियों का एक ही समूह होता है और संचालक मंडल भी एक ही समूह का होता है। भारत और इंग्लैंड की बैंकिंग प्रणाली इसी श्रेणी में आती हैं।

भारत में सभी व्यापारिक बैंक (जैसे स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, बैंक ऑफ इंडिया आदि) शाखा बैंकिंग प्रणाली से कार्य करते हैं। इंग्लैंड में अधिकांश बैंकिंग व्यवसाय 5 बड़े बैंकों द्वारा किया जाता है यानि दी मिडलैंड, दी वेस्टमिनिस्टर, बार्कलेस, लायड्स और दी नेशनल प्रोविन्शियल। इन पाँच बैंकों की 12,000 से अधिक शाखाएँ हैं और देश के बैंकिंग व्यवसाय का 75 प्रतिशत से अधिक भाग इनके नियंत्रण में है।

लाभ

शाखा बैंकिंग की विस्तृत और असाधारण संवृद्धि इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली से मिलने वाले लाभों के कारण हुई है। ये लाभ निम्नलिखित हैं :

1) **बचतों की गतिशीलता** : कोषों को अतिरेक कोषों वाली शाखाओं से उन शाखाओं को आसानी से भेजा जा सकता है, जहाँ इनकी कमी है।

2) **प्रबंध में कुशलता** : शाखा बैंकिंग कुशल प्रबंध के लिये अधिक अवसर प्रदान करती है। इसके आकार के कारण विशेषज्ञों और कुशल कर्मचारियों को नियुक्त किया जा सकता है।

3) **बड़े पैमाने की किफायतें** : शाखा बैंकिंग को बड़े पैमाने की आंतरिक व बाह्य किफायतों का लाभ मिलता है, जैसे कि श्रम विभाजन, विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग, प्रौद्योगिकी नवप्रवर्तन, कम्प्यूटरीकरण आदि।

4) **जमाओं और अग्रिमों का विविधीकरण** : शाखा बैंकिंग विविध जमाओं और अग्रिमों के चयन के लिये विस्तृत क्षेत्र प्रदान करती है।

5) **सुरक्षित निधियों में किफायतें** : प्रत्येक ब्रांच नकद निधियों की कम मात्रा रख सकता है, क्योंकि कोषों को एक शाखा से दूसरी शाखा में हस्तांतरित किया जा सकता है।

6) **प्रेषण सुविधाएँ** : मुद्रा का एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रेषण अधिक सुविधापूर्वक और कम लागत पर हो जाता है।

7) **ब्याज दरों में एकरूपता** : शाखा बैंकिंग पूंजी की गतिशीलता में सहायक होती है और काफी बड़े क्षेत्र में ब्याज की दरों में एकरूपता लाती है।

8) **संचालन में लचीलापन** : शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में कार्य करती हैं, इसलिये शाखा बैंकिंग के लिये विभिन्न क्षेत्रों की स्थानीय आर्थिक व सामाजिक स्थितियों में विभिन्नताओं के अनुसार आवश्यक समायोजन करना संभव होता है।

9) **केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रभावी नियंत्रण** : शाखा बैंकिंग प्रणाली में देश में बैंकों की संख्या कम होती है। अतः देश का केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था के व्यापारिक बैंकिंग क्षेत्रक का सरलता व प्रभावपूर्ण तरीके से नियंत्रण कर सकता है।

10) **मंदी सहन करना** : शाखा बैंकिंग प्रणाली मंदी जैसी प्रतिकूल व्यापारिक स्थिति को सहन कर सकती है।

हानियाँ

शाखा बैंकिंग प्रणाली से कुछ हानियाँ भी हैं जो निम्नलिखित हैं :

1) **प्रबन्ध में कठिनाई** : संचालन के आकार और शाखाओं के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में फैलाव के कारण शाखा बैंकिंग में प्रभावी प्रबन्ध कठिन हो जाता है। अनावश्यक विस्तार के परिणाम कुप्रबन्ध व अयोग्यता आदि हैं।

2) **लाल फीताशाही** : शाखा बैंकिंग पर लाल फीताशाही और अत्यावश्यक मामलों को निपटाने में असामान्य देरी का दोष लगाया जाता है।

3) **कमजोर शाखाएँ** : शाखा बैंकिंग प्रणाली में कमजोर और अस्वस्थ शाखाएँ भी चलती रहती हैं। ये शाखाएँ अन्य शाखाओं के लाभ को व्यर्थ कर देती हैं।

4) **घातक प्रतिस्पर्धा** : शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत एक ही क्षेत्र में विभिन्न बैंकों द्वारा बहुत-सी शाखाएँ खोली जाती हैं। इससे घातक प्रतिस्पर्धा जैसी बुराइयाँ आ जाती हैं।

5) **व्यक्तिगत संपर्क और स्थानीय स्थितियों के संबंध में जानकारी की कमी** : शाखा मैनेजरों के बारंबार स्थानान्तरण के कारण उन्हें ग्राहकों के साथ व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करने और स्थानीय स्थितियों से भली-भांति परिचित होने के अवसर नहीं मिलते।

6) **कोषों का उपयोग** : कोषों के आसानी से हस्तांतरण किये जाने की सुविधा के कारण शाखा बैंकिंग में कोषों का स्थानीय उपयोग कम हो सकता है।

7) **एकाधिकार की शक्ति** : शाखा बैंकिंग से कुछ ही हाथों में एक प्रकार की एकाधिकार की शक्ति का निर्माण होता है। उदाहरण के लिये, इंग्लैंड के पाँच बड़े बैंक बैंकिंग व्यवसाय का 75% भाग नियंत्रित करते हैं और भारत में बैंकिंग व्यवसाय का 93% भाग सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों के नियंत्रण में है।

यद्यपि शाखा बैंकिंग की बहुत सी हानियाँ हैं लेकिन इसके लाभ अपेक्षाकृत अधिक हैं। इस कारण जिन देशों में इकाई बैंकिंग प्रणाली थी वे अब शाखा बैंकिंग प्रणाली को अपना रहे हैं।

5.3.2 इकाई बैंकिंग (Unit Banking)

इकाई बैंकिंग वह बैंकिंग प्रणाली है जिसमें बैंकिंग क्रियाएँ एक ही बैंक के नियंत्रण में विभिन्न शाखाओं द्वारा नहीं की जाती बल्कि एक ही कार्यालय द्वारा की जाती हैं। दूसरे शब्दों में, एक ही कार्यालय नियंत्रक और संचालक इकाई होता है। प्रत्येक बैंकिंग इकाई एक पृथक् कम्पनी होती है और उसका पृथक् अस्तित्व होता है। प्रत्येक बैंकिंग इकाई की अपनी पूँजी, शेयर होल्डर और निदेशक मण्डल होता है। शाखा बैंकिंग प्रणाली की तुलना में इकाई बैंकिंग प्रणाली में बैंक का आकार और कार्य क्षेत्र छोटा होता है। तथापि कुछ इकाई बैंकों की एक सीमित क्षेत्र में कुछ शाखाएँ हो सकती हैं। इस प्रकार इकाई बैंकिंग एक स्थानीयकृत बैंकिंग प्रणाली है।

लाभ

शाखा बैंकिंग प्रणाली की तुलना में इकाई बैंकिंग प्रणाली के निम्नलिखित लाभ हैं :

1) इकाई बैंक छोटे समुदायों की स्थानीय आवश्यकताओं को अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से पूरा कर सकते हैं, क्योंकि इनका कार्य क्षेत्र बहुत सीमित होता है। इसके अतिरिक्त, इस प्रणाली में ग्राहकों के साथ व्यक्तिगत संपर्क अधिक आसानी से स्थापित हो सकता है।

2) कुप्रबंध, अनियमितताओं और धोखेबाजी की संभावनाएँ कम होती हैं।

3) अनुकूलतम आकार से बड़े आकार के संचालन से होने वाले अलाभ नहीं हो सकते।

4) लाल फीताशाही के कारण कार्यों में होने वाली देरी की संभावनाएँ बहुत कम होती हैं।

5) कोषों का प्रयोग केवल भौगोलिक कार्य क्षेत्र में ही किया जाता है।

हानियाँ

इस प्रणाली से कुछ हानियाँ भी होती हैं, जो निम्नलिखित हैं :

1) इकाई बैंकिंग में बचतों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना कठिन होता है।

2) बैंकिंग क्रियाओं के छोटे आकार के कारण बड़े पैमाने की किफायतें नहीं मिल सकतीं। इसके अतिरिक्त छोटे आकार के कारण विशेषज्ञों की नियुक्ति भी नहीं की जा सकती।

3) इकाई बैंकिंग में प्रति बैंक संस्थापन लागत अधिक होती है।

4) बैंकों की संख्या अधिक होने से इन पर केन्द्रीय बैंक का नियंत्रण भी कम प्रभावी हो जाता है।

5) इकाई बैंक इतना छोटा होता है कि यह प्रतिकूल व्यापारिक स्थितियों का सामना नहीं कर सकता।

इकाई बैंकिंग प्रणाली से होने वाली इन हानियों के कारण समूह बैंकिंग और शृंखला बैंकिंग प्रणालियों का विकास हुआ।

5.3.3 समूह बैंकिंग (Group Banking)

समूह बैंकिंग में दो या अधिक बैंकों का स्वामित्व व संचालन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक निगम के हाथ में होता है। समूह को एक मुख्य बैंक के इर्द-गिर्द संघटित किया जाता है और यह मुख्य बैंक एक नियंत्रक कम्पनी द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

इस बैंकिंग प्रणाली से शाखा बैंकिंग और इकाई बैंकिंग दोनों ही प्रणालियों के लाभ मिलते हैं। तथापि, इसमें कुछ कमियाँ हैं जैसे कि संघटकों पर कम प्रत्यक्ष नियंत्रण, पर्यवेक्षण और नियंत्रण में कठिनाई और एक सदस्य की असफलता का दूसरों पर प्रभाव।

5.3.4 शृंखला बैंकिंग (Chain Banking)

शृंखला बैंकिंग समूह बैंकिंग का ही एक अन्य रूप है। वास्तव में इन दोनों में भेद करना कठिन है। शृंखला बैंकिंग एक ऐसी प्रणाली है जिसमें दो या अधिक बैंकों का नियंत्रण किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा स्टॉक के स्वामित्व के जरिये या अन्यथा किया जाता है। इस प्रकार इस प्रणाली में व्यवस्था समूह बैंकिंग की तुलना में कम औपचारिक होती है। यह प्रणाली इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये अमेरिका में विकसित की गयी। इस बैंकिंग प्रणाली से शाखा बैंकिंग और इकाई बैंकिंग दोनों को ही लाभ मिलते हैं।

बोध प्रश्न क

1 विभिन्न प्रकार की बैंकिंग प्रणालियों की सूची बनाइये।

.....

.....

2 शाखा बैंकिंग प्रणाली और इकाई बैंकिंग प्रणाली में भेद कीजिये।

.....

.....

.....

.....

3 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन-सा सही है और कौन-सा गलत।

i) भारत में शाखा बैंकिंग प्रणाली है।

ii) जिन शाखाओं में अतिरेक कोष हैं वहाँ से बचतों को उन शाखाओं में नहीं भेजा जा सकता जहाँ कोषों की कमी है।

iii) शाखा बैंकिंग काफी बड़े क्षेत्र में ब्याज-दरों में एकरूपता लाती है।

iv) इकाई बैंकिंग प्रणाली प्रतिकूल व्यापारिक स्थितियों का सामना ज्यादा अच्छी तरह से कर सकती है।

v) इकाई बैंकिंग में प्रति बैंक संस्थापन लागत कम होती है।

5.4 व्यापारिक बैंकों के कार्य

बैंक की प्रकृति और इसका महत्व इसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों की विविधता और आकार से जाना जा सकता है। 'बैंक' शब्द की परिभाषा देना बहुत कठिन है क्योंकि सामाजिक व आर्थिक स्थितियों, सरकारी नीतियों और प्राथमिकताओं आदि में होने वाले परिवर्तनों के कारण इस संकल्पना में भी तेजी से परिवर्तन हो रहा है। तथापि, कुछ परिभाषाएँ बैंकिंग की प्रकृति को समझने में सहायक होंगी।

5.4.1 बैंक की परिभाषा

हर्बर एल. हार्ट के अनुसार, "**बैंकर वह है जो व्यापार की सामान्य प्रक्रिया में उन चैकों का भुगतान करता है जो उस पर उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं जिनसे या जिनके लिये उसने चालू खाते में पैसा प्राप्त किया है।**"

बैंकिंग विनियमन अधिनियम, 1949 की धारा 5 के अनुसार, "**बैंकिंग कम्पनी का अर्थ है कोई भी ऐसी कम्पनी जो बैंकिंग व्यवसाय करती है। बैंकिंग का अर्थ है ऋण देने के लिये या निवेश के लिये जनता से मुद्रा की जमाराशियों को स्वीकार करना, जो माँगे जाने पर या अन्यथा देय हों और जो चैक, ड्राफ्ट या किसी अन्य प्रकार से निकाली जा सकें।**"

यह बैंकिंग की काफी संतोषजनक परिभाषा है। फिर भी, यह परिभाषा भी इतनी व्यापक नहीं है कि इसमें आधुनिक बैंक के सभी कार्य शामिल हो गये हों। बैंक के मुख्य कार्यों को दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं : 1) प्राथमिक कार्य, और 2) गौण कार्य।

5.4.2 प्राथमिक कार्य (Primary Functions)

शुरू में व्यापारिक बैंक का मुख्य कार्य जमाओं का संग्रहण और अग्रिम देना हुआ करता था। लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्र में साख निर्माण और विदेशी विनिमय लेन-देन भी बैंक के प्रमुख कार्य माने जाते हैं।

जमाओं का संग्रहण

एक व्यापारिक बैंक का सबसे महत्वपूर्ण प्राथमिक कार्य जमाओं का संग्रहण है। ये जमाएँ विभिन्न रूपों में प्राप्त की जा सकती हैं जैसे कि 1) सावधि जमाएँ, 2) बचत बैंक जमाएँ, 3) चालू जमाएँ, और 4) आवर्ती जमाएँ।

1) **सावधि जमाएँ (Fixed deposits) :** जब कोई ग्राहक किसी बैंक के पास एक निश्चित अवधि के लिये एक निर्दिष्ट राशि जमा करता है तो इसे सावधि जमा कहते हैं। सावधि जमा करने वाले को उस अवधि के लिये ब्याज मिलता है। लेकिन यदि वह नियत अवधि से पहले पैसा निकालता है तो उसे पूरा ब्याज या उसका एक बड़ा भाग खोना पड़ता है। साधारणतया सावधि जमाओं पर ब्याज की दर अन्य प्रकार की जमाओं पर ब्याज की दर से अधिक होती है। इस प्रकार की जमाओं पर ब्याज की दर सबसे ऊँची होती है।

2) **बचत खाता जमाएँ (Saving bank deposits) :** बचत जमा खाता थोड़ी-सी राशि से खोला जा सकता है। हालांकि बचत खाते से जब चाहे राशि निकाल सकते हैं फिर भी प्रति सप्ताह कितनी बार राशि निकाल सकते हैं, इस पर कुछ पाबन्दियाँ होती हैं। इस प्रकार की जमा पर ब्याज की दर चालू जमा पर ब्याज की दर से अधिक होती है लेकिन सावधि जमाओं पर दी जाने वाली ब्याज की दर से कम होती है। लोगों की एक बड़ी संख्या से बचत जमाओं के जरिये छोटी-छोटी राशियाँ एकत्रित करके बैंक सामान्यतया बहुत बड़ा कोष एकत्रित कर लेते हैं।

3) **चालू खाता जमाएँ (Current account deposits) :** इसे माँग जमा (demand deposit) भी कहते हैं। बैंक यह खाता शुरू में कम से कम 100 रु. जमा कराने पर ही खोलता है लेकिन बैंक खाता खोलने से पहले ग्राहक की साख के बारे में स्वयं को संतुष्ट कर लेता है। जमा की जाने वाली राशि और बैंक से कितनी बार राशि निकाली जा सकती है इन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। सामान्यतया चालू जमाओं पर कोई ब्याज नहीं दिया जाता।

4) **आवर्ती जमाएँ (Recurring deposits) :** अभी हाल ही में शुरू की गयी एक अन्य प्रकार की जमाएँ आवर्ती जमाएँ हैं। जमाकर्ता को निश्चित वर्षों तक प्रति माह एक निश्चित राशि जमा करानी होती है। उस निश्चित अवधि की समाप्ति पर जमाकर्ता को मूलधन के साथ ब्याज दिया जाता है। इन जमाओं पर दी जाने वाली ब्याज की दर साधारणतया वही होती है जो सावधि जमाओं पर होती है।

ऋण और अग्रिम राशि

सामान्यतया व्यापारिक बैंक (1) व्यवसाय और व्यापार, (2) उद्योग, (3) कृषि और सम्बद्ध कार्यों, और (4) निर्यात व आयात व्यापार को अल्पकालीन ऋण और अग्रिम राशि देते हैं। आइये, ऐसे ऋणों और अग्रिम राशियों की प्रकृति को समझें।

1) **व्यवसाय और व्यापार को ऋण :** व्यापारिक बैंक अल्पकाल के लिए ऋण देते हैं। व्यावसायिक ऋणों को (i) ओवरड्राफ्टों, (ii) नकदी ऋण, (iii) प्रत्यक्ष ऋण, और (iv) भुनाए गए

बिल, इन चार भागों में बाँटते हैं।

i) **ओवरड्राफ्ट** : यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा ऋण लेने वाले को उसके खाते में जमा राशि से अधिक राशि निकालने दी जाती है। यह सुविधा संपार्श्विक (collateral) जमानत पर ही दी जाती है। जमा राशि से जितनी अधिक राशि निकाली जाती है उस पर ब्याज लिया जाता है।

ii) **नकद ऋण** (Cash credit) : यह वस्तुओं की जमानत पर या प्रमुख ऋण लेने वाले के अलावा एक या अधिक व्यक्तियों की व्यक्तिगत जमानत पर दी जाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ग्राहक जितनी राशि का प्रयोग करता है उसे उसी पर ब्याज देना होता है।

iii) **प्रत्यक्ष ऋण** : ये चल सम्पत्तियों की जमानत पर दिये जाते हैं। ऋण लेने वाले को ऋण की पूरी राशि पर ऋण लेने के दिन से भुगतान करने के दिन तक की अवधि का ब्याज देना होता है।

iv) **भुनाए गए बिल** (Bills discounted) : यदि बैंक व्यापारिक विनिमय पत्रों पर बट्टा काटकर भुगतान करता है तो इसे बिलों का भुनाना कहते हैं। पश्चिमी देशों में विनिमय बिलों का भुनाना एक अत्यन्त लोकप्रिय विधि है।

2) **उद्योग को ऋण** : बैंक उद्योग को उनकी कार्यशील पूँजी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये ऋण व अग्रिम राशि प्रदान करता है। ये उद्योगों को ओवरड्राफ्ट, नकद ऋण और प्रत्यक्ष ऋणों के रूप में ऋण देते हैं।

3) **कृषि और सम्बन्धित कार्यों के लिये ऋण** : बैंक कृषि को और उससे सम्बन्धित कार्यों के लिये फसल ऋण, सिंचाई के लिये ऋण, भू-विकास, पशु खरीदने आदि के रूप में अल्पकालीन ऋण देते हैं।

4) **आयात-निर्यात व्यापार** : व्यापारिक बैंक निर्यात व आयात व्यापार के लिये भी ऋण और अग्रिम धन देते हैं। इसके लिये वे प्रत्यक्ष ऋण आस्थगित भुगतानों के लिये गारंटी और बिलों पर बट्टा काटकर भुगतान करते हैं।

5.4.3 गौण कार्य (Secondary Functions)

ग्राहकों की सुविधा के लिये बैंक बहुत से गैर-बैंकिंग कार्य भी करता है जिन्हें गौण कार्य कहते हैं। इन कार्यों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : (क) एजेन्सी सेवाएँ, और (ख) जनोपयोगी सेवाएँ।

एजेन्सी सेवाएँ

ग्राहक की ओर से बैंक द्वारा एजेन्ट के रूप में किये जाने वाले विभिन्न कार्यों को एजेन्सी सेवाएँ कहते हैं। इन एजेन्सी सेवाओं में चैकों/ड्राफ्टों की उगाही भुगतान, प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय, ट्रस्टी निष्पादक और अटार्नी के कार्य तथा पत्र व्यवहार शामिल होते हैं।

1) **उगाही** : बैंक अपने ग्राहकों की ओर से एजेन्टों के रूप में प्रतिज्ञा पत्रों, चैकों, विनिमय पत्रों, लाभांश, अभिदान, किराये आदि की उगाही करते हैं। बैंक ग्राहकों से इन सेवाओं के लिये सेवा शुल्क लेते हैं।

2) **भुगतान** : बैंक समय-समय पर अपने ग्राहकों की ओर से बीमा प्रीमियम, किराया, कर, बिजली के बिलों आदि के भुगतान करने की जिम्मेवारी भी लेते हैं। इसके लिये वे कमीशन लेते हैं।

3) **प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय** : ग्राहक कभी-कभी बैंकों को अपनी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करने के लिये भी कहते हैं। इन सेवाओं के लिये भी बैंक कमीशन लेते हैं।

4) **ट्रस्टी और अटार्नी के कार्य** : बैंक अपने ग्राहकों की ओर से ट्रस्टी, निष्पादक और अटार्नी के रूप में भी कार्य करते हैं। ट्रस्टी के रूप में बैंक ग्राहक के कोषों की देखभाल और ट्रस्ट की उचित व्यवस्था करता है निष्पादक के रूप में बैंक मृतक ग्राहक द्वारा छोड़े गये वसीयतनामे के अनुसार उसकी इच्छाओं को पूरा करता हैं। अटार्नी के रूप में बैंक ग्राहक की ओर से हस्तांतरण फार्मों और प्रलेखों पर हस्ताक्षर करता है।

5) **संपर्ककर्ता** : बैंक अपने ग्राहकों को उनके प्रतिनिधि, एजेंट या संपर्ककर्ता (correspondents) के रूप में सेवा प्रदान करते हैं।

ये उनके लिये पासपोर्ट, यात्रा टिकट आदि प्राप्त करते हैं। ऊपर बतायी गयी सेवाएँ एजेंसी सेवाएँ

कहलाती हैं, क्योंकि ये सेवाएँ प्रदान करने में बैंक अपने ग्राहकों के एजेंटों के रूप में कार्य करते हैं।

सामान्य उपयोगी सेवाएँ

एजेन्सी सेवाओं के अलावा व्यापारिक बैंक विभिन्न अन्य सेवाएँ प्रदान करते हैं जो ग्राहकों के लिये उपयोगी होती हैं। इन सेवाओं में साख-पत्र, ड्राफ्ट सुविधाएँ, अभिगोपन, आस्थगित भुगतानों के लिये गारंटी, लॉकर सुविधाएँ, प्रमाणन, व्यावसायिक व सांख्यिकीय सूचना और विदेशी विनिमय के लेन-देन शामिल हैं।

1) **साख-पत्र** : बैंक अपने ग्राहकों को साख-पत्र देते हैं। ये साख-पत्र व्यापारियों के लिये विदेशों से उधार पर माल खरीदने में उपयोगी होते हैं।

2) **ड्राफ्ट सुविधाएँ** : बैंक ग्राहकों को ड्राफ्ट भी देते हैं और इस प्रकार वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर कोषों का हस्तांतरण सुविधापूर्वक कर सकते हैं।

3) **अभिगोपन** : बैंक सरकार, संयुक्त पूँजी कम्पनियों आदि द्वारा एकत्र की जाने वाली शेयर पूँजी और ऋणपत्र पूँजी का अभिगोपन भी करते हैं।

4) **आस्थगित भुगतानों के लिये गारण्टी** : आयातक जब अपने आयातों के लिये तुरन्त भुगतान करने की स्थिति में नहीं होते तो निर्यातक उन्हें भविष्य में भुगतान करने की अनुमति दे सकते हैं लेकिन यह अनुमति वे केवल तब देते हैं जब भुगतान की गारण्टी दी गयी हो। ऐसी स्थिति में बैंक आस्थगित भुगतानों के लिये गारण्टी दे सकते हैं।

5) **लॉकर सुविधाएँ** : बैंक अपने ग्राहकों को मूल्यवान चीजें जैसे कि प्रतिभूतियाँ, जेवर, प्रलेख आदि रखने के लिये लॉकर की सुविधा प्रदान करते हैं।

6) **प्रमाणक** : बैंक अपने ग्राहकों की वित्तिय स्थिति, व्यावसायिक साख और जिम्मेवारी के प्रमाणक के रूप में भी सेवा करते हैं।

7) **व्यावसायिक और सांख्यिकीय सूचना** : बैंक व्यापार, वाणिज्य और उद्योग की संभावनाओं के बारे में सूचना एकत्रित करते हैं और इसे वर्गीकृत करते हैं तथा इन्हें अपने ग्राहकों को प्रदान करते हैं। कुछ बैंक आम जनता के उपयोग के लिये सूचना बुलेटिन भी प्रकाशित करते हैं।

बोध प्रश्न ख

बैंक क्या होता है?

.....

.....

.....

2 बैंक के दो मुख्य कार्य बताइये।

.....

.....

3 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन-सा सही है और कौन-सा गलत :

i) सावधि जमाओं को निर्दिष्ट अवधि की समाप्ति से पहले नहीं निकाला जा सकता।

ii) बचत खाते में जमाओं पर दी जाने वाली ब्याज की दर चालू खाते में जमाओं पर ब्याज की दर से अधिक होती है।

iii) चालू खाते में जमाओं के लिये जमा राशि और निकासियों की संख्या पर कोई प्रतिबंध नहीं होता।

iv) व्यापारिक बैंक आयात व निर्यात व्यापार के लिये ऋण व अग्रिम राशि नहीं देते।

v) बैंक कमीशन एजेण्टों के रूप में भी कार्य करते हैं।

vi) बैंक अपने ग्राहकों की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं को पूरा करने में भी सहायता करते हैं।

5.5 बैंकिंग का आर्थिक महत्व (Economic Significance of Banking)

किसी देश के आर्थिक विकास में आधुनिक बैंक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतीत में बैंकर केवल मुद्रा का लेन-देन किया करते थे। लेकिन आज ये आर्थिक संवृद्धि के नेता की भूमिका अदा करते हैं। बैंकर सभी प्रकार के ग्राहकों को सेवाएँ प्रदान करते हैं। बैंक जनता को न केवल अपनी अधिशेष आय की सुरक्षा की जोखिम और चिन्ता से मुक्त करते हैं बल्कि बचत और निवेश करने की सुविधाएँ भी प्रदान करते हैं, लोगों में बैंकिंग आदतों को बढ़ावा देते हैं, समाज के धन के अलाभकारी उपयोग को निरुत्साहित करते हैं और समाज की निष्क्रिय पूँजी को कम करते हैं। बैंक इन कोषों को उन व्यापारियों, उद्योगपतियों और उद्यमियों को देते हैं जिन्हें अपने व्यवसाय को चलाने और विकसित करने के लिये कोषों की आवश्यकता होती है। श्री बी.आर. राव के शब्दों में, "बैंक की तिजोरियों में प्रवाहित होने वाले पूँजी के छोटे-छोटे नाले नदी बन जाते हैं और ये नदियाँ राष्ट्रीय वित्त के समुद्र में गिरती हैं जो वाणिज्य के जहाज़ को और उद्योग के पहियों को चलाता है।" बैंकों की साख निर्माण करने की सामर्थ्य के द्वारा राष्ट्रों के लिये बहुत बड़ी धन राशि की व्यवस्था हो जाती है। बैंकों के आर्थिक महत्व का विश्लेषण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :

1) **व्यापार और उद्योग के विकास में मदद देता है :** आधुनिक अर्थव्यवस्था में व्यापार और उद्योग के क्षेत्र की बहुविध-संवृद्धि केवल तभी संभव है जब समय पर और आवश्यक मात्रा में वित्त उपलब्ध हो। बैंक नये उद्यमियों को प्रोत्साहित करने के लिये विभिन्न प्रकार के ऋण देते हैं और मौजूदा उद्योगपतियों को अपनी औद्योगिक क्रियाओं में विविधता लाने के लिये वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। इस प्रकार व्यापार और उद्योग को मदद अधिकतर बैंकों द्वारा दी जाती है।

2) **कृषि क्षेत्रक के विकास में मदद देना :** अल्प विकसित देशों के आर्थिक विकास में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका है। लेकिन कोषों की कमी इस क्षेत्र के विकास में बाधक है। बैंक कृषि और इससे सम्बन्धित कार्यों जैसे मुर्गीपालन, मत्स्य पालन, सूअर-पालन आदि में वित्तीय और तकनीकी परामर्श प्रदान करके सहायता करते हैं।

3) **सेवा क्षेत्र के विकास में मदद देना :** बैंक विभिन्न सेवाओं जैसे परिवहन, शिक्षा आदि के लिये भी वित्त प्रदान करते हैं और इसके द्वारा अर्थव्यवस्था के आधारिक संरचना को सुदृढ़ बनाने में योगदान देते हैं।

4) **संतुलित संवृद्धि के लिये योगदान देते हैं :** बैंक उन उद्योगों की प्रकृति, स्तर और स्थान का पता लगाते हैं जिन्हें विशेष देख-रेख की आवश्यकता है। इससे अर्थव्यवस्था की संतुलित संवृद्धि में सहायता मिलती है। बैंक उन भौगोलिक क्षेत्रों का भी पता लगाते हैं जो पिछड़े हुए हैं। उन औद्योगिक इकाइयों को वित्त प्रदान करके जो इन पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास में योगदान देती हैं, बैंक संतुलित क्षेत्रीय विकास में और पूरी अर्थव्यवस्था की संतुलित संवृद्धि में सहायता करते हैं।

5) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये प्रोत्साहन :** आयात व निर्यात के लिये साख सुविधाएँ और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बारे में आवश्यक सूचना और आँकड़े प्रदान करके बैंक वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाहों को प्रोत्साहित करते हैं।

6) **समाज सेवा :** बैंक विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायता करते हैं जैसे कि स्वरोजगार, ग्राम अंगीकरण (village adoption), शैक्षिक सहायता, गंदी बस्ती हटाना आदि योजनाओं को शुरू करके गरीबों की सहायता करना।

7) **मौद्रिक नीति का कार्यान्वयन :** सुदृढ़ आर्थिक विकास के लिये एक समुचित मौद्रिक नीति की आवश्यकता होती है। एक अच्छी तरह विकसित बैंकिंग प्रणाली देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा बनायी गयी मौद्रिक नीति को क्रियान्वित करके अर्थव्यवस्था की सहायता करती है।

5.6 साख निर्माण (Creation of Credit)

5.6.1 निवेश सूची प्रबंध संबंधी नियम (Principles of Portfolio Management)

साख निर्माण की संकल्पना को समझने के लिये निवेश सूची प्रबंध संबंधी नियमों का संक्षिप्त

परिचय आवश्यक है। बैंकों को अपनी निवेश सूची (परिसम्पत्तियों और देयताओं) की इस प्रकार व्यवस्था करनी होती है कि खर्चे पूरे करने के लिये लाभ का प्रबन्ध हो जाए, जमाकर्ताओं की माँगों को पूरा करने के लिये तरलता सुनिश्चित हो जाए और शोधन-क्षमता बनाए रखने के लिये कोषों की सुरक्षा आश्वासित हो जाए।

तरलता (Liquidity)

तरलता का अर्थ है जमाकर्ताओं के माँग करने पर उनकी राशि का नकद भुगतान करने की बैंकर की क्षमता। सेयरस के शब्दों में, "तरलता वह शब्द है जिसका प्रयोग बैंकर जमाओं के बदले नकदी की माँग को पूरा करने की क्षमता का वर्णन करने के लिये करता है।" जनता का विश्वास बनाये रखने के लिये तरलता आवश्यक है और यह निम्नलिखित बातों से प्रभावित होती है।

1) अर्थव्यवस्था की प्रकृति यानि यह विकसित है या विकासशील।

2) मुद्रा बाजार के विकास की अवस्था।

3) देश/क्षेत्र में लोगों की बैंकिंग आदतें।

4) देश में बैंकिंग संरचना अर्थात् इकाई बैंकिंग, शाखा बैंकिंग।

5) व्यावसायिक स्थितियों की प्रकृति अर्थात् मुद्रा स्फीति या मंदी।

6) सामयिक आवश्यकताएँ—मुद्रा की आवश्यकता के लिये मंदा और व्यस्त समय।

7) न्यूनतम नकद कोष का अनुपात।

8) जमाकर्ताओं की माँग।

लाभकारिता (Profitability)

बैंक एक व्यावसायिक इकाई है जिसका उद्देश्य लाभ कमाना है ताकि वह संचालन व्यय पूरा कर सके; जमाओं पर ब्याज दे सके और स्वामियों के लिये लाभांश घोषित कर सके। अत: बैंक को अपने कोषों का इस तरह निवेश करना होता है कि उसे अधिकतम संभव लाभ अर्जित हो। बैंक की लाभकारिता बहुत से कारकों से प्रभावित होती है, जैसे निवेश का स्वरूप, निवेश पर प्रतिफल की दर, संचालन लागत आदि।

सुरक्षा (Security)

बैंक की सुरक्षा या शोधन-क्षमता परिसम्पतियों और देयताओं के संबंध पर निर्भर करती है। यदि किसी बैंक की परिसम्पत्तियों का मूल्य उसके देयताओं के मूल्य के बराबर या उससे अधिक हो तो बैंक को शोधनक्षम कहा जाता है।

निवेश सूची (परिसम्पत्तियों और देयताओं) के प्रबन्ध के ये तीन नियम परस्पर विरोधी हैं। परिसम्पत्तियों और देयताओं के सुदृढ़ प्रबन्ध के लिये बैंक को इन तीनों में संतुलन स्थापित करना होता है।

5.6.2 साख निर्माण

जब बैंक नकद राशि स्वीकार करता है और जमा खाता खोलता है तो इस जमा को प्राथमिक जमा कहते हैं। बहुत से जमाकर्ता बैंक में राशि जमा कराते हैं। एक जमाकर्ता सामान्यतया बैंक से अपनी पूरी राशि के तुरन्त भुगतान की माँग नहीं करता। इसी तरह, किसी भी एक समय पर सभी जमाकर्ता बैंक से अपनी पूरी जमा राशि वापस करने की माँग नहीं करते। अत: बैंकर के पास जमा का कुछ भाग ऋण देने और उससे लाभ कमाने के लिये बच जाता है। बैंकर को जमाओं का एक निश्चित भाग तरल रूप में रखना होता है ताकि वह जमाकर्ताओं की माँगों को पूरा कर सके। कोषों का यह भाग या प्रतिशत नकदी रिजर्व अनुपात (Cash reserve ratio) कहलाता है।

नकदी रिज़र्व अनुपात की शर्त को पूरा करने के बाद बैंक के पास प्राथमिक जमाओं का जो भाग बचता है उसे वह ऋण के रूप में दे देता है। सामान्यतया बैंक द्वारा स्वीकृत ऋण लेने वाले को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिया जाता बल्कि इस राशि को उसके खाते में क्रेडिट कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक बैंक साख समान राशि की बैंक जमा का निर्माण करती है। इस प्रकार के जमाओं को गौण जमा या व्युत्पन्न जमा कहते हैं। बैंक इन व्युत्पन्न जमाओं का भी एक निश्चित प्रतिशत नकद रिज़र्व अनुपात के रूप में रखकर शेष ज़मा राशि को फिर उधार देता है। साख देने की इस सुविधा से साख निर्माण होता है।

साख निर्माण जमाओं के निर्माण के द्वारा बैंकों की ऋणों और अग्रिमों को कई गुना बढ़ाने की शक्ति है। न्यूलिन के अनुसार, साख निर्माण का तात्पर्य, "व्यापारिक बैंकों की या तो ऋण देने के उद्देश्य के जरिये या प्रतिभूतियों में निवेश के जरिये गौण जमाओं के विस्तार की शक्ति से है।"

इस प्रकार बैंक एक दी हुई नकद राशि (या प्राथमिक जमा) से कई गुना व्युत्पन्न जमाओं या साख का निर्माण कर सकते हैं। बैंक की कुल व्युत्पन्न जमाओं और प्राथमिक जमाओं का अनुपात साख गुणक (Credit multiplier) कहलाता है।

एक बैंक द्वारा साख निर्माण

मान लीजिये एक जमाकर्ता केनरा बैंक में 2,000 रु. जमा (यानि प्राथमिक जमाए) करता है और नकदी रिज़र्व अनुपात 10% है। केनरा बैंक 200 रु. रिज़र्व (2000 रु. का 10%) के रूप में रखकर किसी व्यक्ति को उसके खाते में 1,800 रु. की राशि क्रेडिट करके यह राशि उधार दे सकता है। बैंक फिर 1620 रु. (180 रु. रखकर यानि 1800 रु. का 10% रखकर) का उधार किसी दूसरे व्यक्ति को दे सकता है और यह उधार वह इस राशि को उसके खाते में क्रेडिट करके देता है। इसके बाद बैंक इस 1620 रु. का 10% यानि 162 रु. कोष के रूप में रखकर किसी तीसरे व्यक्ति को 1458 रु. (1620 रु. – 162 रु.) का उधार दे सकता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक 2000 रु. की प्राथमिक जमाओं और 1,800 रु. के शुरू के आधिक्य कोषों से 1,800 रु. + 1620 रु. + 1458 रु. + ... + ... = 18,000 रु. की व्युत्पन्न जमाएँ न हो जाएँ। कुल प्राथमिक और व्युत्पन्न जमाएँ 18,000 रु. + 2,000 रु. = 20,000 रु. होंगी। साख गुणक नकद रिजर्व अनुपात का व्युत्क्रम (reciprocal) होता है। इस उदाहरण में साख गुणक 10 (1 ÷ 1/10 = 10) है और साख निर्माण (कुल व्युत्पन्न जमाएँ) 18,000 रु. का होगा जो शुरू के आधिक्य कोष का 10 गुना है। इस प्रकार साख गुणक और प्राथमिक जमाओं के आधिक्य कोष का गुणनफल (यानि 10 × 18,00 रु. = 18,000 रु.) ही बैंक की साख निर्माण क्षमता है।

साख गुणक की मान्यताएँ

1) साख निर्माण की पूरी प्रक्रिया में नकदी रिजर्व अनुपात स्थिर रहता है।

2) साख निर्माण प्रक्रिया में कोई लीकेज नहीं है।

3) देश में एक सुविकसित बैंकिंग प्रणाली है।

4) देश के लोगों में बैंकिंग आदतें हैं।

5) केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंत्रण नहीं किया जाता।

6) देश में व्यापारिक स्थितियाँ सामान्य हैं।

बैंकिंग प्रणाली द्वारा बहुगुणित साख निर्माण

सामान्यतया किसी भी देश/क्षेत्र में एक से अधिक बैंक होते हैं और एक बैंक से ऋण लेने वाला उस बैंक से राशि निकाल कर किसी अन्य बैंक में जमा करा सकता है और ऐसी स्थिति में यह दूसरा बैंक साख निर्माण कर सकता है। बैंकिंग प्रणाली में ही नकद राशि के हस्तांतरण से प्राथमिक जमाओं का निर्माण होता है, जिससे व्युत्पन्न जमाओं का निर्माण करने का अवसर मिलता है। प्राथमिक और व्युत्पन्न जमाओं के जरिये साख निर्माण की प्रक्रिया को बैंकिंग प्रणाली द्वारा बहुगुणित साख निर्माण (multiple credit creation) कहते हैं।

आइये, एक उदाहरण द्वारा बहुगुणित साख निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन करें। मान लीजिये एक जमाकर्ता केनरा बैंक में 2,000 रु. जमा करता है और नकदी रिजर्व अनुपात 10% है। बैंक किसी व्यक्ति को 1,800 रु. (2,000 रु. – 200 रु.) का ऋण उसके खाते को इतनी राशि से क्रेडिट करके दे सकता है। यदि वह व्यक्ति माल के सप्लायर को 1,800 रु. चैक द्वारा देता है और वह सप्लायर इस 1,800 रु. की राशि को स्टेट बैंक ऑफ इंडिया में जमा कर देता है तो यह स्टेट बैंक ऑफ इंडिया के लिये प्राथमिक जमा होगी। अब स्टेट बैंक ऑफ इंडिया 10% नकद रिजर्व रखकर 1,620 रु. (1,800 रु. – 180 रु.) का किसी अन्य व्यक्ति को ऋण दे सकता है। यदि यह व्यक्ति यह राशि अपने लेनदारों को दे देता है और वे इसे सिंडीकेट बैंक में जमा कर देते हैं तो यह 1,620 रु. की राशि सिंडीकेट बैंक के लिये प्राथमिक जमा होगी। फिर सिंडीकेट बैंक इसमें से 10% नकद कोष रखकर 1,458 रु. (1,620 रु. – 162 रु.) का ऋण दे सकता है जो फिर किसी अन्य बैंक में जमा कराया जा सकता है। इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रह सकता है जब तक कि बैंकिंग प्रणाली द्वारा कुल साख निर्माण या व्युत्पन्न जमाओं का निर्माण 18,000 रु. (1,800 रु. + 1,620 रु. + 1,458 रु. + ... = 18,000 रु.) यानि शुरू के आधिक्य कोष का 10 गुना नहीं हो जाता। अतः साख गुणक 10 होगा।

साख निर्माण की सीमाएँ

अलग-अलग बैंक या पूरी बैंकिंग प्रणाली ऊपर बतायी गयी प्रक्रिया से साख निर्माण तो कर सकती है। लेकिन व्यवहार में इसमें बहुत-सी समस्याएँ आती हैं जिन्हें साख-निर्माण की सीमाएँ कहते हैं। ये निम्नलिखित हैं :

1) बैंक की साख निर्माण करने की सामर्थ्य नकद राशि पर निर्भर करती है। यदि बैंक के पास ज्यादा नकद राशि होगी तो वह ज्यादा साख निर्माण कर सकता है और यदि नकद राशि कम होगी तो कम साख निर्माण कर सकेगा।

2) नकद रिजर्व अनुपात भी साख निर्माण को प्रभावित करता है। यह अनुपात जितना कम होगा बैंक की साख निर्माण करने की सामर्थ्य उतनी ही अधिक होगी।

3) साख निर्माण प्रक्रिया में होने वाली लीकेज के कारण वैंक अपनी सामर्थ्य के अनुसार साख निर्माण नहीं कर सकते। ये लीकेज आधिक्य कोषों में कमी या लोगों की बैंक से पैसा निकालकर अपने पास नकद रूप में रखने की प्रवृत्ति होने के रूप में हो सकते हैं।

4) बैंकिंग प्रणाली जितनी साख का निर्माण कर सकती है उसके लिये जितने विश्वसनीय ऋण लेने वाले चाहिये उतने नहीं भी हो सकते।

5) ऋण लेने के लिये जमानत के रूप में जितनी और जिस तरह की प्रतिभूतियाँ बैंक को देनी आवश्यक हैं वे उपलब्ध न हों।

6) केन्द्रीय बैंक की साख नीति नकद रिज़र्व अनुपात को प्रभावित करती है।

7) देश के लोगों की अपेक्षित बैंकिंग आदतें न हों।

8) व्यापारिक स्थितियाँ जैसे मुद्रा स्फीति, मंदी आदि भी साख निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं।

9) सभी बैंकों की साख निर्माण और वितरण संबंधी नीति और कार्यक्रम एक-सा न हो।

बोध प्रश्न ग

1 बैंकों के आर्थिक महत्व से संबंधित दो प्रमुख लक्षण क्या हैं?

.....

.....

.....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में से कौन-सा सही है और कौन-सा गलत :

i) नये उद्यमियों को प्रोत्साहित करने के लिये बैंक विभिन्न प्रकार के ऋण देते हैं।

ii) बैंक उन औद्योगिक इकाइयों को वित्त प्रदान करके, जो पिछड़े क्षेत्रों के विकास में योगदान देती हैं, अर्थव्यवस्था की संतुलित संवृद्धि में सहायता करते हैं।

iii) बैंक वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को प्रोत्साहित नहीं करते।

iv) एक बैंक की साख निर्माण सामर्थ्य उपलब्ध नकद राशि की मात्रा पर निर्भर करती है।

v) नकद रिजर्व अनुपात केन्द्रीय बैंक की साख नीति से प्रभावित नहीं होता।

5.7 सारांश

बैंकिंग की संरचना अलग-अलग देशों में अलग-अलग है। यह बहुत से कारकों से निर्धारित होती है। दुनियाँ में बैंकिंग के विकास होने के साथ-साथ विभिन्न बैंकिंग प्रणालियाँ प्रचलन में आयीं। इनमें कुछ महत्वपूर्ण प्रणालियाँ हैं। (1) शाखा बैंकिंग, (2) इकाई बैंकिंग, (3) समूह बैंकिंग, और (4) शृंखला बैंकिंग।

बैंक का महत्व और प्रकृति उसके कार्यों की मात्रा और विविधता से जानी जा सकती है। इन कार्यों को जिन दो भागों में बाँटा जाता है वे हैं : (1) प्राथमिक कार्य, और (2) गौण कार्य। मुद्रा बाजार में व्यापारिक बैंक संस्थागत साख के सबसे प्रमुख स्रोत हैं। व्यापारिक बैंकों का व्यवसाय मुख्यतया जमा स्वीकार करना और ऋण देना है।

विभिन्न देशों के आर्थिक विकास में व्यापारिक बैंकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में व्यापारिक बैंकों के विकास के बिना इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति नहीं हो सकती थी। एक अच्छी व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली के बिना अल्पविकसित देश विकसित देशों की श्रेणी में नहीं आ सकते। इसका कारण यह है कि औद्योगिक विकास के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है और बैंकों के बिना यह पूँजी उपलब्ध नहीं हो सकती।

व्यापारिक बैंक अपनी परिसम्पत्तियों और देयताओं की व्यवस्था करते समय जिन तीन बातों को ध्यान में रखते हैं वे हैं : तरलता, लाभप्रदता और सम्पन्नता। निवेश सूची (परिसम्पत्तियों और देयताओं) के प्रबन्ध सम्बन्धी ये तीन नियम परस्पर विरोधी हैं। परन्तु बैंक के लिये इनमें सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक है।

साख निर्माण व्यापारिक बैंकों का प्रमुख कार्य है। जब बैंक ऋण देता है तो बैंकिंग प्रणाली में साख का बहुगुणित विस्तार होने की प्रवृत्ति होती है। प्राथमिक जमाएँ व्युत्पन्न जमाओं के निर्माण यानि साख निर्माण का आधार होती हैं। इससे मुद्रा पूर्ति भी बढ़ती है। लेकिन बैंकों द्वारा साख निर्माण करने की कुछ सीमाएँ भी हैं।

कुल मिलाकर बैंकों की प्रत्येक आधुनिक अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका है। विकास की प्रक्रिया में एक कुशल और विस्तृत बैंकिंग प्रणाली एक महत्वपूर्ण कारक है। इस प्रकार एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली का विकास करना और उसमें सुधार करना तेजी से आर्थिक संवृद्धि के लिये आवश्यक है।

5.8 शब्दावली

शाखा बैंकिंग (Branch Banking) : वह बैंकिंग प्रणाली जिसमें एक स्वामित्व और प्रबन्ध के अन्तर्गत दो या अधिक बैंकिंग इकाइयाँ एक संस्था के रूप में कार्य करती हैं।

नकद रिज़र्व अनुपात (Cash Reserve Ratio) : जमा राशि का वह भाग जो बैंकर को तरल कोष के रूप में रखना होता है।

शृंखला बैंकिंग (Chain Banking) : वह बैंकिंग प्रणाली जिसमें दो या अधिक बैंकों पर एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का स्टॉक के स्वामित्व के जरिये या अन्यथा नियंत्रण होता है।

साख निर्माण (Credit Creation) : जमाओं का निर्माण करके ऋणों को कई गुना करने की बैंकों की शक्ति।

साख गुणक (Credit Multipler) : बैंक की कुल व्युत्पन्न जमाओं और कुल प्राथमिक जमाओं का अनुपात।

समूह बैंकिंग (Group Banking) : वह बैंकिंग प्रणाली जिसमें दो या अधिक बैंकों का संचालन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में एक निगम के हाथ में होता है।

तरलता (Liquidity) : जमाकर्ताओं की राशि को उनके मांग करने पर नकद लौटाने की बैंक की सामर्थ्य।

ओवरड्राफ्ट (Overdraft) : वह व्यवस्था जिसके द्वारा एक ऋणी को उसके खाते में जमाराशि से अधिक राशि निकालने की अनुमति दी जाती है।

प्राथमिक जमा (Primary Deposit) : जनता से नकद राशि स्वीकार करके बैंक द्वारा खोला गया जमा खाता।

इकाई बैंकिंग (Unit Banking) : वह बैंकिंग प्रणाली जिसमें बैंकिंग क्रियाएँ केवल एक कार्यालय द्वारा की जाती हैं।

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1 i) शाखा बैंकिंग ii) इकाई बैंकिंग iii) समूह बैंकिंग iv) शृंखला बैंकिंग
3 i) सही ii) गलत iii) सही iv) गलत v) गलत

ख 2 i) प्राथमिक कार्य ii) गौण कार्य

3 i) गलत ii) सही iii) सही iv) गलत v) सही vi) सही

ग 2 i) सही ii) सही iii) गलत iv) सही v) गलत

5.10 स्वपरख प्रश्न

1 इंग्लैंड और भारत में बैंकिंग के विकास की तुलना कीजिये।

2 शाखा बैंकिंग क्या होती है? इसके लाभ व हानि बताइये।

3 इकाई बैंकिंग की संकल्पना को स्पष्ट कीजिये। इसके गुण व दोष बताइये। इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोषों को दूर करने के उपाय सुझाइये।

4 'बैंक' शब्द की परिभाषा दीजिये। एक व्यापारिक बैंक के प्राथमिक कार्य बताइये।

5 व्यापारिक बैंकों के गौण कार्यों व सामान्य उपयोगी सेवाओं को स्पष्ट कीजिये।

6 एक देश के आर्थिक विकास में व्यापारिक बैंकों का क्या योगदान होता है?

7 साख निर्माण, तरलता, लाभप्रदता व सुरक्षा, इन संकल्पनाओं को स्पष्ट कीजिये।

8 साख निर्माण क्या होता है? बैंक साख निर्माण कैसे करते हैं? साख निर्माण की सीमाएँ क्या हैं?

नोट : ये प्रश्न/अभ्यास इस इकाई को बेहतर ढंग से समझने में आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अपने अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 6 भारत में व्यापारिक बैंकिंग

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 भारत में बैंकिंग संरचना
6.3 स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की भूमिका
  6.3.1 स्थापना
  6.3.2 उद्देश्य
  6.3.3 प्रगति
6.4 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण
  6.4.1 राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क
  6.4.2 राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क
  6.4.3 राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य
6.5 राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकिंग का विकास
6.6 भारत में व्यापारिक बैंकों की समस्याएँ
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
6.10 स्वपरख प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- भारत में बैंकिंग संरचना के मूल संघटकों का वर्णन कर सकें
- स्टेट बैंक आफ इंडिया के उद्देश्य बता सकें
- स्टेट बैंक आफ इंडिया का योगदान बता सकें
- भारत में बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने के कारण बता सकें
- भारत में व्यापारिक बैंकों की समस्याएँ बता सकें।

6.1 प्रस्तावना

इकाई 5 में आपने बैंकिंग प्रणाली के विकास, व्यापारिक बैंकों के कार्य और व्यापारिक बैंकों द्वारा साख निर्माण की पद्धतियों के बारे में पढ़ा था। अब आपको भारत में बैंकिंग प्रणाली के बारे में पढ़ना है। इस इकाई में आप भारत में बैंकिंग संरचना, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की भूमिका, व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण और भारत में व्यापारिक बैंकों की समस्याओं के बारे में पढ़ेंगे।

6.2 भारत में बैंकिंग संरचना

भारत में बैंकिंग संरचना जिस रूप में सामने आयी वह बहुत से कारकों का परिणाम है। जैसे कि भारत की आर्थिक प्रणाली, आर्थिक उद्देश्य, नीतियाँ और कार्यक्रम और विभिन्न क्षेत्रकों को वित्तीय प्रवाह की आवश्यकता, जैसे कि आयात-निर्यात क्षेत्रक, लघु व बड़े उद्योग क्षेत्रक, कृषि और ग्रामीण क्षेत्रक आदि।

भारत में बैंकिंग संरचना को मोटे तौर पर सात श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :

1) केन्द्रीय बैंक, 2) विकास बैंकिंग, 3) व्यापारिक बैंकिंग, 4) सहकारी बैंकिंग, 5) ग्रामीण बैंकिंग, 6) निर्यात-आयात बैंकिंग, और 7) आवास बैंकिंग

1) **केन्द्रीय बैंक** : भारत का केन्द्रीय बैंक रिज़र्व बैंक आफ इंडिया है। यह केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य करता है जैसे कि नोट-निर्गमन, बैंकरों का बैंक (Bankers' bank), समाशोधन-गृह (Clearing house) और साख नियंत्रण। इसके अतिरिक्त यह देश के आर्थिक विकास में भी सहायता करता है।

2) **विकास बैंकिंग** : विकास बैंक विशेष रूप से उद्योगों को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करते हैं। ये कम्पनियों के पूँजी निर्गमनों का अभिगोपन करते हैं और ईक्विटी शेयरों, पूर्वाधिकार शेयरों व ऋण पत्रों में निवेश करते हैं। भारत में विकास बैंकों में भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, राज्य वित्त निगम तथा भारतीय औद्योगिक साख एवं निवेश निगम शामिल किये जाते हैं।

3) **व्यापारिक बैंकिंग** : व्यापारिक बैंक व्यापार, व्यवसाय, उद्योग, कृषि, यातायात क्षेत्रक तथा आवास और निर्यात व आयात क्षेत्रकों को अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं। भारत में इन्हें मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है : 1) सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंक, 2) निजी क्षेत्रक के बैंक और 3) विदेशी बैंक। सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों में स्टेट बैंक ऑफ इंडिया व इसके सहायक (subsidiary) बैंक और बीस राष्ट्रीयकृत बैंक आते हैं। निजी क्षेत्रक के बैंक वे हैं जो राष्ट्रीयकृत नहीं है जैसे कि व्यास बैंक लि., कर्नाटक बैंक लि. आदि। ग्रिण्डलेस बैंक, बैंक ऑफ अमेरिका, बैंक ऑफ इंडिया टोक्यो, ब्रिटिश बैंक ऑफ मिडिल ईस्ट आदि जैसे विदेशी बैंक विदेशों में निगमित व्यापारिक बैंकों की शाखाएँ हैं।

4) **सहकारी बैंकिंग** : सहकारी बैंक एक ऐसी संस्था है जो सहकारिता के नियमों के आधार पर स्थापित की जाती है और सामान्य बैंकिंग व्यापार करती है। इसमें औद्योगिक सहकारी बैंक, राज्य सहकारी बैंक, जिला केन्द्रीय सहकारी बैंक, प्राथमिक सहकारी बैंक आदि आते हैं।

5) **ग्रामीण बैंकिंग** : ग्रामीण बैंक सभी प्रकार की कृषि और ग्रामीण क्रियाओं के लिये वित्त प्रदान करते हैं। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक ऐसी विशिष्ट संस्थाएँ हैं जिनकी स्थापना केवल ग्रामीण क्रियाओं को वित्त प्रदान करने के लिये की जाती है। राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक [National Bank of Agriculture and Rural Development (NABARD)] ग्रामीण बैंकिंग का शिखर बैंक है। यह बैंक व्यापारिक बैंकों और ग्रामीण बैंकों को वित्त प्रदान करता है ताकि वे कृषि व अन्य ग्रामीण क्रियाओं के लिये प्रत्यक्ष रूप से वित्त प्रदान कर सकें।

6) **निर्यात-आयात बैंक** : निर्यात-आयात बैंक केवल विदेशी व्यापार के लिये वित्त प्रदान करते हैं। भारतीय निर्यात-आयात बैंक की एक शिखर बैंक के रूप में स्थापना निर्यातकों व आयातकों को व्यापारिक बैंकों के जरिये वित्त प्रदान करने के लिये की गयी।

7) **आवास बैंकिंग** : आवास बैंक वे बैंक हैं जो मकान बनाने के लिये, जमीन के लिये व मरम्मत आदि के लिये वित्त प्रदान करते हैं। राष्ट्रीय आवास बैंक की एक शिखर बैंक के रूप में स्थापना, व्यापारिक बैंकों व अन्य एजेन्सियों के माध्यम से आवास वित्त प्रदान करने के लिये, की गयी।

6.3 स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की भूमिका

इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया 1921 में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के प्रेसीडेंसी बैंकों के समामेलन के द्वारा स्थापित किया गया था।

भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना से पहले इम्पीरियल बैंक ही सरकार के एक मात्र बैंकर, सरकारी कोषों के अभिरक्षक (custodian), बैंकरों को बैंक, समाशोधन गृह आदि के रूप में कार्य करता था। 1935 में भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद इसकी स्थिति और कार्य क्षेत्र में परिवर्तन हुआ। यह एक व्यापारिक बैंक रह गया। इसके पास बड़ी मात्रा में साधनों, बड़ी संख्या में शाखाओं और अधिक व्यापार के कारण इसका बैंकिंग उद्योग में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। 1954 के अन्त तक इसके पास सभी अनुसूचित बैंकों की जमाओं का लगभग 24.5% था। जहाँ भारतीय रिज़र्व बैंक की शाखाएँ नहीं थी वहाँ यह उसके एजेन्ट के रूप में भी कार्य करता था।

6.3.1 स्थापना

सरकार ने 20 दिसम्बर, 1954 को इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण करने का एक ऐतिहासिक निर्णय लिया। यह निर्णय भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण (All

India Rural Credit Survey) पर नियुक्ति की गयी कमेटी की सिफारिशों के आधार पर लिया गया था। इसने स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना की सिफारिश की थी जिसे सरकार ने मान लिया और 1 जुलाई, 1955 को इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना की गयी। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया (सहायक बैंक) अधिनियम, 1959 में पारित किया गया और कुछ समय बाद विभिन्न राज्यों से जुड़े 8 बड़े बैंक इस मुख्य बैंक में इसके सहायक के रूप में शामिल कर लिये गये। ये बैंक थे सौराष्ट्र बैंक, पटियाला बैंक, बीकानेर बैंक, जयपुर बैंक, राजस्थान बैंक, इंदौर बैंक, बड़ौदा बैंक, मैसूर बैंक, हैदराबाद स्टेट बैंक और ट्रावनकोर बैंक।

6.3.2 उद्देश्य

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का एक मुख्य उद्देश्य पूरे देश में शाखाओं की स्थापना करके बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करना था। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया अधिनियम के अनुसार बैंक पर पहले 5 वर्षों में ग्रामीण, अर्ध-शहरी और उन क्षेत्रों में जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ नहीं थी, 400 नयी ब्रांचें खोलने का विधिक दायित्व था। इस सम्बन्ध में बैंक ने एक विशेष कोष का निर्माण किया जिसे 'एकीकरण और विकास कोष' (integration and development fund) कहते हैं और जिसका प्रयोग अधिनियम के पालन करने में स्थापित की गयी अतिरिक्त शाखाओं को होने वाली हानियों को पूरा करने व भारतीय रिज़र्व बैंक के परामर्श से केन्द्रीय बैंक द्वारा अनुमोदित अन्य हानियों व व्ययों को पूरा करने के लिये करना था। इस कोष का निर्माण भारतीय रिज़र्व बैंक को देय लाभांशों तथा भारतीय रिज़र्व बैंक और केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये योगदानों से किया गया था।

स्टेट बैंक ऑफ इंडिया से यह अपेक्षा की गई थी कि वह अपनी क्रियाओं का संचालन सरकार की मुख्य आर्थिक नीतियों के अनुरूप करेगा। **बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य कृषि वित्त को बढ़ावा देना और कृषि वित्त की वर्तमान प्रणाली की समस्याओं को हल करना था।** इसके अतिरिक्त बैंक का उद्देश्य बैंक के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये और सहकारी बैंकिंग की जानकारी प्रदान करने के लिये विशेष सुविधाएँ प्रदान करना था।

स्टेट बैंक ऑफ इंडिया से यह भी अपेक्षा थी कि यह भारतीय रिज़र्व बैंक की साख नीतियों में सहायता करेगा और मुद्रा बाजार में मौद्रिक असंतुलन का नियंत्रण करने में उसकी सहायता करेगा।

6.3.3 प्रगति

स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना के समय इस पर दो मुख्य जिम्मेवारियाँ डाली गयी थीं।

1) लाभ प्रेरित व्यापारिक बैंकिंग को देश की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित संस्था में परिवर्तित करना।
2) इसे ऐसे विकासात्मक कार्य करने थे जो सामान्यतया व्यापारिक बैंकों के व्यापार में शामिल नहीं किये जाते।

पिछले 35 वर्षों में (मार्च, 1990 तक) स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह बैंकिंग उद्योग का पथ-प्रदर्शक बन गया है और देश में अन्य सभी व्यापारिक बैंकों के लिये एक आदर्श बैंक के रूप में विकसित हुआ है। अब इसकी महत्वपूर्ण उपलब्धियों पर विचार किया जाएगा।

1) **शाखा विस्तार (Branch expansion) :** इसकी स्थापना पर इसका उद्देश्य पहले 5 वर्षों में 400 शाखाएँ खोलना था। बैंक ने समय से पहले ही यह लक्ष्य पूरा कर लिया। तब से यह ग्रामीण, अर्द्धशहरी और ऐसे क्षेत्रों में शाखाएँ खोलता रहा है जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ बिल्कुल ही नहीं थी या कम थीं। भारत में शाखाओं की संख्या जून, 1955 के अन्त में 466 से बढ़कर मार्च, 1990 के अन्त तक 8,422 हो गयी।
2) **जमा का संग्रहण (Deposit mobilisation) :** स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने संग्रहण के लिये कई नई-नई योजनाएँ बनायी। इसके अतिरिक्त इसकी शाखाओं के विशाल जाल ने जमाओं के संग्रहण को बहुत बढ़ावा दिया। बैंक की कुल जमाएँ जून, 1955 में 188 करोड़ रु. से बढ़कर अक्टूबर, 1990 के अन्त तक 37,666 करोड़ रु. हो गयीं। इन जमाओं की एक बहुत बड़ी राशि ग्रामीण और अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों से एकत्र की गयी।
3) **अग्रिम राशि (Advances) :** 1955 के अन्त में बैंक की कुल अग्रिम राशि 99 करोड़ रु. थी। इसकी और इसके सहयोगी बैंकों की अग्रिम राशि (सरकारी प्रतिभूतियों में निवेश को छोड़कर) अक्टूबर, 1990 तक बढ़कर 25,322 करोड़ रु. हो गयी।

यह बैंक एक प्रमुख वित्तीय संस्था बन गया है जो कृषि, लघु उद्योगों, मध्यम और बड़े उद्योगों, समाज के कमजोर वर्गों आदि को अल्प अवधि और मध्य अवधि के लिये वित्त प्रदान करता है। सामान्यतया व्यापारिक बैंकों को मध्य अवधि के लिये वित्त प्रदान करने की अनुमति नहीं दी जाती लेकिन स्टेट बैंक ऑफ इंडिया को उद्योगों को मध्यावधि वित्त प्रदान करने की अनुमति दी गयी। स्टेट बैंक द्वारा अधिकांश ऋण लोहा और इस्पात, इंजीनियरी, उर्वरक और रासायनिक उद्योगों तथा लघु उद्योगों को दिया गया।

4) **निर्यात वित्त (Export finance) :** निर्यात संवर्धन के क्षेत्र में बैंक की भूमिका में निर्यात वित्तीयन तथा भारतीय निर्यातों, परंपरागत और गैर-परंपरागत दोनों ही के लिये नये बाजारों का पता लगाना और विकास करना शामिल है। बैंक ने विभिन्न वस्तुओं की निर्यात संभावनाओं के बारे में अपने ग्राहकों के लिये सूचना सेवा आरम्भ की है। यह बैंक भारतीय निर्यातकों और आयातकों को सूचनाएँ भी भेजता रहता है। इसने 1970 में बम्बई में अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाग स्थापित किया। यह प्रभाग बहुत तरह की सूचनाएँ प्रदान करने के अलावा भारतीय निर्यातकों और विदेशी आयातकों के बीच सम्पर्क स्थापित कराने का भी प्रयत्न करता है। बैंक विदेशी मुद्रा में ऋण प्राप्त करने में भी सहायता करता है।

5) **अग्रणी बैंक योजना (Lead bank scheme) :** इस योजना के अन्तर्गत स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और इसके सहयोगी बैंकों तथा 20 राष्ट्रीयकृत बैंकों को जिले बाँट दिये गये और उन्हें इन जिलों में अगुवा कार्य करने को कहा गया। जिलों का आबंटन करने में जो मापदण्ड अपनाये गये थे वे बैंक का आकार, कार्य की मात्रा को संभालने के लिये इसके संसाधनों की पर्याप्तता, जिलों का सामीप्य, बैंकों का प्रादेशिक महत्व, प्रत्येक राज्य के क्षेत्र में एक से अधिक अग्रणी बैंक के कार्य करने की वांछनीयता और जहाँ तक संभव हो एक बैंक का एक से अधिक राज्य में कार्य करना आदि। इस प्रकार इस योजना के अन्तर्गत अग्रणी बैंक देश के सभी जिलों में बैंकिंग संभावना का सर्वेक्षण करने और उनका विकास करने की जिम्मेवारी में सहभागी हैं। इस योजना के अन्तर्गत 90 जिले स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और इसके सहयोगी बैंकों को आबंटित किये गये। इस बैंक ने लगभग इन सभी जिलों के लिये विस्तृत सर्वेक्षण रिपोर्टें तैयार कर ली हैं। बैंक अपने अग्रणी जिलों में सभी सामुदायिक विकास खण्डों में विभिन्न अध्ययनों का कार्य भी कर रहा है।

6) **लघु उद्योग (Small industries) :** अपनी स्थापना के तुरंत बाद स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने लघु उद्योगों को वित्त प्रदान करने की एक योजना बनायी। 1960 में इस योजना का क्षेत्र बढ़ा दिया गया और स्थायी परिसम्पत्तियों के क्रय के लिये मध्यावधि ऋण प्रदान करना भी इसमें शामिल कर दिया गया। इसके साथ-साथ बैंक ने ऋण देने की शर्तों को भी उदार बना दिया है।

बैंक ने 1967 में एक **उद्यमी योजना** भी शुरू की। इस योजना में उद्यमी की योग्यता और परियोजना की तकनीकी व आर्थिक व्यवहार्यता को महत्व दिया गया। बैंक ने छोटे कारीगरों की सहायता करने के लिये 1969 में ग्रामीण उद्योग परियोजना भी शुरू की। सरकार द्वारा शिक्षित बेरोजगारों के लिये शुरू किए गये 5 लाख नौकरी कार्यक्रम के साथ भी यह बैंक सक्रिय रूप से जुड़ा रहा। 1975 से बैंक ने लघु उद्योग वित्त के सभी पहलुओं पर अपनी अध्ययन टीमों की सिफारिशों को कार्यान्वित करना शुरू किया और वित्त प्रदान करने और कार्यान्वित करने के गुणात्मक पहलुओं को सुधारने का प्रयत्न किया।

बैंक द्वारा 1956 में लघु उद्योगों को 10 लाख रु. की सहायता दी गई थी। मार्च, 1990 के अन्त तक यह रकम बढ़कर 3,412 करोड़ रु. (सहायक बैंकों को शामिल करके) हो गयी और इससे 13.51 लाख लघु इकाइयों को लाभ पहुँचा।

7) **कृषि वित्त (Agricultural credit) :** बैंक किसानों को सभी कृषि क्रियाओं के लिये प्रत्यक्ष अग्रिम मुख्यतया किसानों की प्रगतिशीलता और योजनाओं की आर्थिक व्यवहार्यता के आधार पर देता है।

बैंक ने 1969 में लघु कृषक योजना और कृषि स्नातक योजना शुरू की। पहली योजना के अन्तर्गत बैंक ने मुख्यतया छोटे किसानों की सामूहिक गारंटी पर जोर दिया और किसी अन्य प्रकार की जमानत पर जोर नहीं दिया। दूसरी योजना के अन्तर्गत तकनीकी योग्यता प्राप्त लोगों, खास तौर से कृषि, डेरी विज्ञान आदि के स्नातकों को साख प्रदान करने की कोशिश की गयी।

स्टेट बैंक ऑफ इंडिया समूह की कृषि को कुल प्रत्यक्ष सहायता 1975 के अन्त में 176 करोड़ रु. से जून 1986 के अन्त तक बढ़कर 2,757 करोड़ रु. हो गयी। इसी प्रकार बैंक द्वारा

प्रदान किया गया। अप्रत्यक्ष वित्त 1975 के अन्त में 65 करोड़ रु. से जून, 1986 के अन्त तक बढ़कर 511 करोड़ रु. हो गया। मार्च, 1990 के अन्त तक कृषि को दी गयी कुल अग्रिम राशि 3,168 करोड़ रु. थी।

1971 में स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने ऋणों के फैलाव के स्थान पर क्षेत्र नीति अपनायी। इसके अन्तर्गत चुने हुए क्षेत्रों पर ही अधिक ध्यान दिया गया। इस नीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता गहन केन्द्रों को चुनना था और इसमें पिछड़े क्षेत्रों को प्राथमिकता देनी थी। ऐसे केन्द्रों में कृषि विकास शाखाएँ (ADB) स्थापित की गयीं। 1977 के अन्त तक बैंक ने 314 कृषि विकास शाखाएँ शुरू कर दी थीं और प्रत्येक शाखा कृषकों को फसल ऋणों व निवेश ऋणों के रूप में और क्षेत्र की अन्य आवश्यकताओं के लिये साख प्रदान करती थी। प्रत्येक क्षेत्र में लगभग 100 गाँव थे। कृषि से सम्बद्ध कार्यों जैसे पशु पालन, मुर्गीपालन आदि के लिये और गोदामों के बनाने के लिये, परिवहन सुविधाओं तथा फसल के विपणन के लिये भी वित्त प्रदान किया जाता है।

स्टेट बैंक ने एक ग्राम अंगीकरण योजना (village adoption scheme) बनायी। इस योजना के अनुसार एक शाखा कुछ गाँवों को अपना लेती है ताकि वहाँ के किसानों की विभिन्न ऋण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये गहन और समन्वित वित्त प्रबन्ध किया जा सके। यह वित्त प्रबन्ध खेतों के आकार, ऋण की प्रकृति और मात्रा पर ध्यान दिये बिना किया जाता है। अक्षम किसानों के लिये समूह गारंटी की प्रणाली शुरू की गयी।

किसानों को प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त बैंक प्राथमिक साख संस्थाओं के जरिये अप्रत्यक्ष रूप से भी वित्त प्रदान करता है।

भूमि बंधक बैंकों को वित्त : यह बैंक भूमि बंधक बैंकों की तीन रूप से सहायता करता है।

1) केन्द्रीय भूमि बंधक बैंकों द्वारा निर्गमित ऋणपत्रों में अभिदान करके;
2) ऐसे ऋणपत्रों की जमानत पर अग्रिम देकर; तथा
3) सरकार की गारंटी पर केन्द्रीय भूमि बंधक बैंकों को अन्तरिम वित्तीय सहायता का प्रावधान करके।

8) **लघु व्यापार को वित्त** : बैंक ने उन छोटे ऋणियों की साख आवश्यकताओं को पूरा करने की नीतियाँ भी बनाई हैं जो वितरण, परिवहन आदि आर्थिक कार्य करते हैं।

9) **रोजगार-अभिमुखी ऋण (Employment-oriented lending)** : यह कार्यक्रम 1971 में शुरू किया गया। यह पहला बैंक था जिसने इस प्रकार की योजना शुरू की। इसके अन्तर्गत तकनीकी योग्यता वाले या अनुभवी व्यक्तियों को लघु औद्योगिक इकाइयाँ लगाने के लिये रियायती शर्तों पर वित्त प्रदान किया जाता है। इसी तरह की एक योजना कृषि स्नातकों के लिये भी शुरू की गयी। डाक्टरों/दंत चिकित्सों, इंजीनियरों, स्नातकों आदि के लिये नयी योजनाएं बनाने के अतिरिक्त, उद्यमी-योजना, कृषि स्नातक योजना, कृषि सेवा केन्द्रों के बारे में योजना आदि को अधिक उत्साहपूर्वक कार्यान्वित किया गया। शुरू में स्वरोजगार पर अधिक जोर दिया गया। लेकिन बाद में इसमें स्वरोजगार/अतिरिक्त रोजगार को जो विस्तार के कारण हो और अल्प/अंशत: रोजगार को दूर करना भी शामिल कर लिया गया।

10) **विभेदक ब्याज दर योजना (Differential interest rate scheme)** : यह योजना अगस्त, 1972 में शुरू की गयी। इस योजना के अन्तर्गत स्टेट बैंक और इसके समूह द्वारा दी गयी अग्रिम राशि दिसम्बर,1973 में 3.9 करोड़ रु. से मार्च,1990 में बढ़कर 1,361 करोड़ रु. हो गयी। इस योजना से लाभकारी आर्थिक क्रियाएँ शुरू हुई। इसके अन्तर्गत उचित शर्तों पर ऋण दिया जाता है। इस योजना से जून,1966 के अन्त तक कुल 18.45 लाख व्यक्तियों को लाभ पहुँचा।

11) **व्यापारिक बैंकिंग विभाग (Merchant banking division)** : स्टेट बैंक ने 1972 में यह विभाग शुरू किया। यह ग्राहकों को सेवा प्रदान करने के अतिरिक्त उन लघु व मध्यम उद्यमियों की सहायता करता है जो औद्योगिक इकाइयाँ लगाना चाहते हैं और पहली बार पूँजी बाजार में प्रवेश करना चाहते हैं। यह उन तकनीकी विशेषज्ञों और नये उद्यमियों की सहायता करता है जो वित्तीय नियोजन, पूँजी संरचना, सार्वजनिक निर्गमन आदि के बारे में व्यवस्था करना नहीं जानते।

बोध प्रश्न क

1 भारत में बैंकिंग संरचना की 7 श्रेणियाँ बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

2 रिक्त स्थानों को भरिये :

i) ..... की स्थापना के बाद इम्पीरियल बैंक की स्थिति और कार्यों में मूल परिवर्तन हो गए।

ii) एकीकरण और विकास कोष का निर्माण स्टेट बैंक ऑफ इंडिया द्वारा ..... विस्तार की नीति का पालन करने में सहायता करने के लिये किया गया।

iii) विकास बैंक दीर्घावधि वित्त प्रदान करते हैं, खासतौर से ..... को।

iv) स्टेट बैंक ऑफ इंडिया को व्यापारिक बैंकिंग को लाभ-अर्जन से ..... दायित्वों की ओर अभिमुख करना था।

3 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

i) स्टेट बैंक से ऐसी नीतियों का अनुसरण करने की अपेक्षा थी जो देश की व्यापक आर्थिक नीतियों के अनुरूप हों।

ii) स्टेट बैंक ने औद्योगिक वित्त के स्थान पर निर्यात वित्त को प्राथमिकता दी।

iii) सर्वाधिक प्रयत्नों के बावजूद स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ग्रामीण वित्त पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने में सफल नहीं हुआ।

iv) स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ही एक मात्र में ऐसा व्यापारिक बैंक है जिसे मध्यावधि ऋण देने की अनुमति दी गयी है।

6.4 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण

राष्ट्रीयकरण से पहले व्यापारिक बैंक कृषि क्षेत्रक, लघु उद्योग, निर्यात क्षेत्रक और समाज के कमजोर वर्ग आदि की उपेक्षा करते थे। मार्च, 1967 में कुल साख का केवल 2.1% कृषि को दिया गया था जबकि उद्योग को 64.3% और व्यापार को 19.4% दिया गया था। व्यापारिक बैंक सामाजिक दायित्वों और आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर रहे थे।

इसलिये सरकार को बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण लगाना पड़ा ताकि एकाधिकारी प्रवृत्ति, आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण और आर्थिक संसाधनों के दुर्निदेशन को रोका जा सके। इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण का मूल उद्देश्य बैंकों को सार्वजनिक स्वामित्व में लिये बिना सामाजिक उद्देश्यों को पूरा करना था।

इसके फलस्वरूप, 22 दिसम्बर, 1967 को राष्ट्रीय साख नियंत्रण परिषद् (National Credit Control Council) की स्थापना की गयी जिससे कि साख के उपलब्ध संसाधनों का समय-समय पर मूल्यांकन किया जा सके और इनका विभिन्न क्षेत्रों में न्यायसंगत व उद्देश्यपूर्ण वितरण सुनिश्चित किया जा सके। इस परिषद् से अपेक्षा थी कि यह बैंक साख की मांग का मूल्यांकन करेगा, ऋण देने में प्राथमिकताएँ निर्धारित करेगा और व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी बैंकों की ऋण देने व निवेश की नीतियों का समन्वय करेगा। लेकिन बहुतों को ऐसी व्यवस्था संतोषजनक नहीं लगी। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष में राय और तर्क जारी रहे।

6.4.1 राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क

राष्ट्रीयकरण के समर्थकों ने निम्नलिखित तर्क दिये :

i) भारत में बैंकों पर स्वामित्व व नियंत्रण कुछ बड़े अंशधारियों व उद्योगपतियों का है। वे ही बैंक साख के आबंटन के स्वरूप को प्रभावित करते हैं

ii) बैंक जनता से एकत्रित किये गये जमाओं में से केवल निदेशकों को ऋण दिया करते हैं।

iii) बैंक लाभों को अधिकतम करने के लिये सट्टेबाजी और असामाजिक क्रियाओं में भाग लिया करते हैं।

iv) बैंक बड़े उद्योगों को साख प्रदान करते हैं और लघु उद्योगों की पूर्णतया उपेक्षा करते हैं।

v) बैंक कृषि और उससे सम्बद्ध क्रियाओं के लिये वित्त प्रदान नहीं करते यद्यपि भारतीय अर्थव्यवस्था मूलतः कृषि अर्थव्यवस्था है।

vi) बैंकों का साख प्रवाह सरकार की नीतियों और पंचवर्षीय योजनाओं की प्राथमिकताओं के अनुरूप नहीं हैं।

vii) जमाकर्ताओं के पैसों की पूर्ण सुरक्षा नहीं है।

6.4.2 राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क

कुछ लोगों ने राष्ट्रीयकरण की आलोचना की। उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिये :

i) बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इनकी कार्यकुशलता घटेगी जैसा कि देश में अन्य राष्ट्रीयकृत उद्योगों में हुआ है।

ii) राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग उद्योग में एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होंगी जिन्हें नियंत्रित करना संभव नहीं हैं।

iii) अनाचारों को समाप्त करने के लिये बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने के बजाय अन्य बहुत से उपाय हैं।

iv) क्योंकि बैंकों के राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य कृषि समाज के कमजोर वर्गों आदि को वित्त प्रदान करना है, इससे जमाकर्ताओं के कोषों को कोई सुरक्षा नहीं मिलेगी।

v) राष्ट्रीयकरण से अंशधारियों की क्षतिपूर्ति करने के रूप में बहुत बोझ पड़ेगा।

vi) राष्ट्रीयकरण का परिणाम समाजवाद नहीं होगा बल्कि इससे राज्य-पूँजीवाद आएगा।

आखिरकार यह महसूस किया गया कि सामाजिक नियंत्रण के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। सामाजिक नियंत्रण के उद्देश्य निम्नलिखित थे :

i) कुछ थोड़े से लोगों द्वारा नियंत्रण को हटाना,

ii) कृषि, लघु उद्योग और निर्यात को पर्याप्त साख का प्रावधान,

iii) बैंक प्रबन्ध को व्यावसायिक मोड़ देना, और

iv) नये उद्यमियों को प्रोत्साहन देना।

19 जुलाई,1969 की रात को एक अध्यादेश जारी किया गया जिसके द्वारा उन 14 प्रमुख अनुसूचित बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया जिनकी जमाएँ 50 करोड़ रु. से अधिक थी। ये 14 राष्ट्रीयकृत बैंक हैं : इलाहाबाद बैंक, बड़ौदा बैंक, महाराष्ट्र बैंक, केनरा बैंक, बैंक ऑफ इंडिया, सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया, देना बैंक, इंडियन बैंक, इंडियन ओवरसीज बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, सिण्डीकेट बैंक, यूनाइटेड बैंक ऑफ इंडिया, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक और यूनियन बैंक ऑफ इंडिया। बाद में 15 अप्रैल,1980 को सरकार ने 6 और वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया। ये बैंक हैं : आंध्रा बैंक, कारपोरेशन बैंक, न्यू बैंक ऑफ इंडिया, ओरियेन्टल बैंक ऑफ कामर्स, पंजाब ऐंड सिंध बैंक और विजया बैंक।

6.4.3 राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य

भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे :

i) लोगों की बचतों को अधिकतम संभव सीमा तक एकत्रित करना और उत्पादक उद्देश्यों के लिये उसका प्रयोग करना;

ii) यह सुनिश्चित करना कि बैंकों का संचालन सामाजिक उद्देश्य से निर्देशित हो और इन पर सार्वजनिक नियंत्रण हो;

iii) यह सुनिश्चित करना कि निजी क्षेत्र के बड़े और छोटे सभी प्रकार के उद्योग और व्यापार की उचित साख आवश्यकताएँ पूरी की जाएँ;

iv) यह सुनिश्चित करना कि उत्पादक क्षेत्र की विशेष रूप से कृषि, लघु उद्योग और स्वनियोजित व्यवसायियों की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें;

v) नये और प्रगतिशील उद्यमियों के वर्ग के विकास को प्रोत्साहित करना और देश के विभिन्न भागों में अब तक उपेक्षित क्षेत्रों और पिछड़े क्षेत्रों के लिये नये अवसरों का निर्माण करना;

vi) बैंक साख का सट्टेबाजी और अन्य अनुत्पादक उद्देश्यों के लिये प्रयोग पर रोक लगाना।

6.5 राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकिंग का विकास

19 जुलाई, 1969 को किये गये बैंकों के राष्ट्रीयकरण ने भारत में व्यापारिक बैंकिंग के स्वरूप और आयाम दोनों को ही बदल दिया। इसने भौगोलिक और कार्यात्मक विविधता की गति को तीव्र करने में सहायता की। नये आयामों से व्यापारिक बैंकों की जिम्मेवारियाँ बढ़ गयीं। जैसे कि बहुत व्यापक स्तर पर दूर-दूर के ग्रामीण क्षेत्रों और ऐसे क्षेत्रों में बैंक शाखाओं का विस्तार करना जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ नहीं थी तथा निर्यात क्षेत्रक, कृषि क्षेत्रक, लघु क्षेत्रक, कुटीर व ग्रामीण उद्योगों, स्वरोजगार व्यक्तियों, कारीगरों, समाज के कमजोर वर्गों और छोटे व्यापारियों आदि की साख आवश्यकताएँ पूरी करना।

1) **शाखा विस्तार** : देश के सामाजिक व आर्थिक लक्ष्यों को पूरा करने के लिये व्यापारिक बैंकों की शाखाओं का विस्तार बहुत महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकों का शहरी केन्द्रों के इर्द-गिर्द परम्परागत संकेन्द्रण कम हुआ है। शाखाओं का अर्द्ध-शहरी, ग्रामीण एवं पिछड़े हुए क्षेत्रों में और वहाँ जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ नहीं थी, व्यापक फैलाव हुआ है। राष्ट्रीयकरण के 18 वर्षों के दौरान यानि जून, 1987 तक बैंकों ने 53,890 शाखाएँ खोली। यह अपने आप में एक रिकार्ड है। जून, 1969 से जून, 1987 तक ग्रामीण शाखाओं की संख्या 1832 से बढ़कर 30,201 हो गयी। ग्रामीण क्षेत्रों, कम बैंकिंग सुविधा वाले क्षेत्रों और बिना बैंकिंग सुविधा वाले क्षेत्रों में बहुत बड़े पैमाने पर शाखा विस्तार से बैंकिंग सुविधाओं का क्षेत्रीय असंतुलन कम हुआ।

2) **जमाओं की संवृद्धि** : बैंक की प्रगति का अन्य क्षेत्र जमाओं में तीव्र वृद्धि है। बैंकों द्वारा किये गये व्यापक प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जून,1969 से नवम्बर,1990 की अवधि में जमाएँ, 4,645 करोड़ रु. से बढ़कर 1,81,260 करोड़ रु. हो गयीं। यह असाधारण वृद्धि थी। इस अवधि में कुल जमाओं में सावधि जमाओं का अनुपात भी बढ़ा।

3) **साख विस्तार** : राष्ट्रीयकरण के बाद की अवधि में बैंकों द्वारा दी गयी साख में भी महत्वपूर्ण सुधार हुआ। कुल साख 1969 में 3,599 करोड़ रु. से बढ़कर नवम्बर, 1990 में 1,06,603 करोड़ रु. हो गयी।

4) **कृषि साख संवृद्धि** : राष्ट्रीयकरण के बाद व्यापारिक बैंक कृषि क्षेत्र की ओर विशेष ध्यान देते रहे हैं। कृषि क्षेत्र को साख प्रदान करने के लिये बहुत से कार्यक्रम लागू किये गये जैसे अग्रणी बैंक योजना, क्षेत्र नीति, विभेदक ब्याज दर योजना, ग्राम अंगीकरण योजना, छोटे किसानों की विकास एजेन्सी, सीमान्त किसानों और कृषि श्रमिकों की एजेन्सी, सहकारी समितियों के द्वारा वित्तीयन कृषक सेवा संस्थाओं का संगठन और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का प्रायोजन।

   बैंक अल्पावधि फसल ऋणों तथा बैलों, बैलगाड़ियों, कृषि उपकरणों को खरीदने, कुएं खोदने और भूमि विकास आदि के लिये सावधि ऋणों के रूप में कृषकों को प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान करते हैं। ये कृषि से सम्बद्ध क्रियाओं जैसे दुग्धशाला, मुर्गी पालन, मछली पालन, मधु-मक्खी पालन आदि के लिये भी ऋण प्रदान करते हैं। 1969 से 1986 की अवधि में कृषि साख का अनुपात 5.4% से बढ़कर 18.3% हो गया।

5) **लघु उद्योग को वित्त** : हमारी अर्थव्यवस्था में लघु उद्योग एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। व्यापारिक बैंक लघु उद्योगों के वित्त प्रबन्ध के बारे में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चल रहे हैं। भारतीय रिजर्व बैंक ने लघु उद्योगों की तीन श्रेणियाँ बनायी हैं : (क) शिल्प व ग्राम्य कुटीर उद्योग, (ख) बहुत छोटे लघु उद्योग, और (ग) बड़े आकार की लघु इकाइयाँ। व्यापारिक बैंकों की लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता 1969 से 1986 की अवधि में 251 करोड़ रु. से बढ़कर 7,636 करोड़ रु. हो गयी।

6) **अन्य प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रकों को वित्तीय सहायता** : व्यापारिक बैंक अन्य प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रकों को भी साख प्रदान करता है। ये क्षेत्रक हैं : स्वनियोजित व्यक्ति, वाहन चालक तथा खुदरे व छोटे व्यापारी। ये बैंक शिक्षा व आवास आदि के लिए सहायता भी देते हैं। जून, 1967 से जून,1986 की अवधि में इन क्षेत्रकों को दिया गया ऋण 28 करोड़ रु. से बढ़कर 4,719 करोड़ रु. हो गया।

7) **निर्यात साख** : राष्ट्रीयकरण के बाद से बैंक प्राथमिकता के आधार पर और रियायती शर्तों पर निर्यात क्षेत्र को साख प्रदान कर रहे हैं। इस क्षेत्र को दिये गये ऋण जून,1986 में 2,377 करोड़ रु. थे।

8) **कमजोर वर्गों को ऋण :** राष्ट्रीयकृत बैंक कमजोर वर्गों के लोगों को भी ऋण व अग्रिम प्रदान करते हैं। इसमें छोटे व सीमान्त किसान, भूमिहीन श्रमिक, काश्तकार, बटाईदार, कारीगर, ग्रामीण व कुटीर उद्योग, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लाभभोगी, अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ और विभेदक ब्याज दर योजना के लाभभोगी आते हैं।

बोध प्रश्न ख

1 बैंक राष्ट्रीयकरण क्या है?

.....

.....

.....

.....

2 भारत में राष्ट्रीयकृत बैंकों की सूची बनाइये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत।

i) व्यापारिक बैंक के राष्ट्रीयकरण ने अपने उद्देश्यों को पूरा कर लिया है।

ii) राष्ट्रीयकरण से पहले भारत में व्यापारिक बैंकों का सम्बन्ध सामान्यतया केवल लाभों को अधिकतम करने से था।

iii) राष्ट्रीयकरण से व्यापारिक बैंकों की कार्यकुशलता बढ़ी है।

iv) भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण को ग्रामीण क्षेत्र और समाज के कमजोर वर्ग तक साख सुविधा पहुँचाने की आवश्यकता ने प्रेरित किया था।

4 रिक्त स्थानों को भरिये।

i) भारत में 14 बड़े बैंकों का 19 जुलाई ..... को राष्ट्रीयकरण किया गया।

ii) 15 अप्रैल, 1980 को ..... अन्य बैंकों को भारत के राष्ट्रीयकृत बैंकों की सूची में जोड़ा गया।

iii) 1969 और 1986 के बीच कृषि को साख का प्रतिशत ..... से बढ़कर ..... हो गया।

iv) ग्रामीण क्षेत्रों, कम बैंकिंग सुविधा वाले क्षेत्रों और बिना बैंकिंग सुविधा वाले क्षेत्रों में शाखा विस्तार से बैंकिंग सुविधाओं में क्षेत्रीय ..... कम हुआ है।

6.6 भारत में व्यापारिक बैंकों की समस्याएँ

यद्यपि व्यापारिक बैंकों ने शाखा विस्तार, जमा संग्रहण तथा प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रकों और समाज के कमजोर वर्गों को ऋण देने के रूप में काफी प्रगति की, फिर भी ये अभी बहुत-सी समस्याओं का सामना कर रहे हैं। ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं :

1) **शाखा विस्तार में समस्याएँ :** बैंकों को उन ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ खोलने को कहा गया जहाँ न्यूनतम संरचनात्मक सुविधाएँ जैसे सड़कें, संचार, यातायात,

शिक्षा, बैंकिंग संचालन के लिये सुरक्षित भवन उपलब्ध नहीं हैं। कुछ स्थानों पर तो बैंक कर्मचारियों की सुरक्षा की समस्या भी है।

2) **जमा संग्रहण में समस्याएँ** : सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों में जमा संग्रहण के संबंध में तीव्र प्रतिस्पर्धा रही है क्योंकि ये सभी एक ही प्रकार की सेवाएँ प्रदान करते हैं। जमाओं को एकत्र करने में इन्हें राष्ट्रीय बचत संगठनों, गैर-बैंकिंग कम्पनियों, भारतीय यूनिट ट्रस्ट, म्यूचुअल फंड्स आदि से भी प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। यह महसूस किया जाता है कि बैंकों के जमा संग्रहण प्रयत्न वर्तमान आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। यह भी कहा जाता है कि बैंकों की जमा संग्रहण योजनाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में संभावित जमाकर्ताओं की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं हैं।

3) **समन्वय का अभाव** : वित्त प्रदान करने के लिये बहुत-सी वित्तीय एजेंसियाँ हैं जैसे कि व्यापारिक बैंक, सहकारी बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक और राज्य वित्त निगम। इनमें आपस में समन्वय का अभाव है। इससे कुछ व्यक्ति एक से अधिक एजेंसियों से ऋण ले लेते हैं, जिससे उन्हें आवश्यकता से अधिक वित्त प्राप्त हो जाता है। इससे अल्प-वित्तीयन की समस्या भी उत्पन्न होती है।

4) **कृषि को अपर्याप्त ऋण** : यद्यपि व्यापारिक बैंकों ने कृषि क्षेत्रक व उससे सम्बद्ध क्रियाओं की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने में शानदार प्रयत्न किये हैं, फिर भी और अधिक प्रयत्नों की जरूरत है। व्यापारिक बैंकों द्वारा कृषि क्षेत्र को दी गयी कुल सहायता उनकी आवश्यकताओं का 10% भी नहीं है।

5) **ग्रामीण क्षेत्रों में अपर्याप्त बैंकिंग सुविधाएँ** : ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाओं की आवश्यकता की तुलना में इन क्षेत्रों में बैंकों की संख्या अपर्याप्त है। बैंक 5% गाँवों में ही हैं, यह तथ्य इस बात की पुष्टि करता है।

6) **क्षेत्रीय असंतुलन** : यद्यपि व्यापारिक बैंकों ने अपनी शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में फ़ैलायी हैं लेकिन इनका पूरे देश में समान वितरण नहीं है। भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार लगभग आधी शाखाएँ दक्षिण और पश्चिम क्षेत्रों में ही हैं। असम, जम्मू और कश्मीर, मनीपुर, नागालैंड, उड़ीसा, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल जैसे राज्यों को अल्प बैंकिंग सुविधा वाले क्षेत्र कहा जा सकता है।

7) **कम लाभकारिता** : प्राथमिकता क्षेत्रों को वित्त प्रदान करने, ग्रामीण व बिना बैंकिंग सुविधा वाले तथा पिछड़े क्षेत्रों में शाखाएँ खोलने, कमजोर वर्गों को कम ब्याज दर पर ऋण देने तथा वेतन व संगठन की लागत में वृद्धि के कारण भारत में अधिकांश व्यापारिक बैंकों की लाभकारिता दर कम हुई है। इसके अन्य कारण हैं, लागतों में वृद्धि, अकुशलता, नौकरशाही दृष्टिकोण, प्रभावी लागत नियंत्रण का अभाव, वैधानिक तरलता अनुपात और नकद रिजर्व अनुपात आदि में वृद्धि।

8) **कम कार्यकुशलता** : बैंकों के राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग उद्योग में सार्वजनिक क्षेत्र के सभी दोष आ गये हैं, जैसे कि मैनेजरों का नौकरशाही दृष्टिकोण, पहलशक्ति का अभाव, लाल-फीताशाही, अनावश्यक विलंब, प्रतिबद्धता और जिम्मेवारी का अभाव तथा काम के प्रति उदासीनता आदि। इन सबके कारण बैंकों की कार्यकुशलता घटती है।

9) **राजनीतिक दबाव** : बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इनके प्रत्येक स्तर पर राजनीतिक हस्तक्षेप होता है और राजनीतिक दबाव डाला जाता है। राजनीतिक दबाव के कारण घाटिया किस्म की नियुक्तियाँ होती हैं और ऐसे व्यक्तियों को ऋण व अग्रिम दिये जाते हैं जो इनके योग्य नहीं हैं।

10) **उदार साख नीति की समस्याएँ** : कमजोर वर्गों और कृषि-क्षेत्र आदि की साख आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये एक उदार साख नीति आवश्यक तो है लेकिन इससे बैंक कोष और अन्त में जमाकर्ताओं का पैसा असुरक्षित हो जाता है। इस नीति के कारण कोषों की वसूली भी ठीक से नहीं हो पाती और बैंक के कोषों का चक्रीय प्रवाह नहीं होता।

11) **अनुचित प्रतिस्पर्धा** : बहुत से राष्ट्रीयकृत बैंकों की एक ही क्षेत्र में शाखाएँ हैं। इसलिये प्रत्येक को जमाएँ एकत्र करने में अनुचित व अनावश्यक प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है।

12) **लघु उद्योग के वित्त प्रबन्ध में समस्याएँ** : लघु औद्योगिक इकाइयों के साथ जुड़ी हुई बहुत पुरानी समस्या इन इकाइयों की बढ़ती हुई बीमारी है जिसके कारण इनके शेष भुगतान बढ़ते चले जाते हैं और वसूली कम हो जाती है।

1 राष्ट्रीयकरण के बाद की अवधि में व्यापारिक बैंक जिस क्षेत्र में डगमगाए हैं वे हैं :

i) निर्यात वित्त

ii) कृषि अग्रिम

iii) बड़े पैमाने के उद्योग

iv) जमा एकत्रीकरण

v) समाज के कमजोर वर्ग

2 व्यापारिक बैंकों की निम्नलिखित में से सबसे गंभीर समस्या कौन-सी है?

i) कर्मचारियों की कमी

ii) कोषों की सुरक्षा

iii) शाखा वितरण में क्षेत्रीय असंतुलन

iv) कम कार्यकुशलता

3 निम्नलिखित में से बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य कौन-से हैं?

i) व्यापार को अधिकतम साख सुविधाएँ प्रदान करना

ii) अल्प बैंकिंग और बिना बैंकिंग क्षेत्रों को पर्याप्त साख सुविधाएँ सुनिश्चित करना

iii) नये उद्यमियों के आगे आने में सहायता करना

iv) ग्राहकों को संतुष्ट करना।

6.7 सारांश

भारत में बैंकिंग संरचना केन्द्रीय बैंकों, व्यापारिक बैंकों, विकास बैंकों, सहकारी बैंकों, निर्यात-आयात बैंकों, ग्रामीण बैंकों और आवास बैंकों से बनी है।

स्टेट बैंक ऑफ इंडिया भारत का सबसे पुराना, सबसे बड़ा और प्रमुख व्यापारिक बैंक है। यह मुख्यतया सामाजिक आवश्यकताओं की ओर अभिमुख है जैसे कि शाखा विस्तार, जमा संग्रहण, कृषि, उद्योग और निर्यात को अग्रिम, ग्रामीण क्षेत्रों, लघु उद्योगों व कमजोर वर्गों के लिये विशेष वित्तीय योजनाएँ। यद्यपि स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने इन आवश्यकताओं को पूरा करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है फिर भी प्रभावी होने के लिये इसे अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

बैंकिंग को देश की सामाजिक व विकासात्मक आवश्यकताओं की ओर अभिमुख करने के लिये और बड़े उद्योगपतियों के नियंत्रण को कम करने के लिये भारत सरकार ने 19 जुलाई, 1969 को 14 प्रमुख व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया। इस श्रेणी में 15 अप्रैल, 1980 को 6 और बैंक जोड़ दिये गये। इसमें कोई संदेह नहीं कि राष्ट्रीयकृत बैंकों ने अपेक्षित कार्य किया है। शाखाओं का महत्वपूर्ण विस्तार हुआ है और जमा संग्रहण तथा अग्रिम में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। लघु उद्योग, कृषि व इससे सम्बद्ध क्रियाओं, ग्रामीण क्षेत्रक तथा आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों को दिये गये ऋणों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। तथापि इन बैंकों को बहुत-सी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, जैसे कि राजनीतिक दबाव, ऐसे क्षेत्रों में शाखाएँ खोलना जहाँ आधारिक संरचना का अभाव है, कम लाभकारिता व कुशलता और अनुचित प्रतिस्पर्धा।

6.8 शब्दावली

व्यापारिक बैंक (Commercial banks) : वे बैंक जो अल्पावधि ऋण व अग्रिम प्रदान करते हैं।

सहकारी बैंक (Cooperative banks) : वह बैंकिंग संस्था जो सहकारिता के नियमों के आधार पर स्थापित की जाती है और चलायी जाती है।

विकास बैंक (Development banks) : वे बैंक जो मध्यावधि व दीर्घावधि ऋण प्रदान करते हैं।

निर्यात-आयात बैंक (Export-Import banks) : वे बैंक जो केवल विदेशी व्यापार के लिय वित्त प्रदान करते हैं।

अग्रणी बैंक योजना (Lead bank scheme) : बैंकों को विशेष जिलों को गहन विकास के लिये अपनाना चाहिये।

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1 केन्द्रीय बैंकिंग, विकास बैंकिंग, व्यापारिक बैंकिंग, ग्रामीण बैंकिंग, निर्यात-आयात बैंकिंग, आवास बैंकिंग और सहकारी बैंकिंग।

2 i) भारतीय रिजर्व बैंक, ii) शाखा, iii) उद्योग, iv) सामाजिक

3 i) सही, ii) गलत, iii) सही, iv) सही

ख 3 i) गलत, ii) सही, iii) गलत, iv) सही

4 i) 1969, ii) 6, iii) 5.4; 18.3, iv) असंतुलन

ग 1 ii) और iii)

2 iii) और iv)

3 ii) और iii)

6.10 स्वपरख प्रश्न

1 भारत में बैंकिंग संरचना स्पष्ट कीजिये।

2 भारत में व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिये।

3 भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने के क्या उद्देश्य थे।

4 भारत में राष्ट्रीयकृत व्यापारिक बैंक किस हद तक राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हुए हैं?

5 स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना, संरचना और कार्यों का विवेचन कीजिये।

6 स्टेट बैंक ऑफ इंडिया के विकास और उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।

7 भारत में व्यापारिक बैंक के विकास का विवेचन कीजिये।

नोट : ये प्रश्न/अभ्यास इस इकाई को बेहतर ढंग से समझने में आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अपने अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 7 केन्द्रीय बैंकिंग (Central Banking)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 केन्द्रीय बैंक क्या है?
7.3 केन्द्रीय बैंक के कार्य
  7.3.1 परम्परागत कार्य
  7.3.2 प्रवर्तन कार्य
7.4 मुद्रा पूर्ति और साख के नियंत्रक के रूप में केन्द्रीय बैंक की भूमिका
7.5 साख नियंत्रण
  7.5.1 मात्रात्मक विधियाँ
  7.5.2 गुणात्मक विधियाँ
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
7.9 स्वपरख प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- केन्द्रीय बैंक की परिभाषा दे सकें
- केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक में मुख्य अन्तर बता सकें
- केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कार्यों की सूची बना सकें
- केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रयोग किये जाने वाले साख नियंत्रण के विभिन्न उपायों की क्षमता बता सकें।

7.1 प्रस्तावना

केन्द्रीय बैंक किसी देश की मौद्रिक व वित्तीय प्रणाली की शिखर संस्था है। इसकी देश में व्यापारिक बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं के संगठन में उन्हें चलाने में, उनका पर्यवेक्षण करने में, और उन्हें नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मौद्रिक व साख नीतियों की रूपरेखा बनाना व उनका संचालन करना इसकी विशेष जिम्मेवारियाँ हैं। अतः केन्द्रीय बैंक आधुनिक अर्थव्यवस्था के संतुलित विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस इकाई में आप केन्द्रीय बैंक के अर्थ, उसके कार्यों, इसमें और व्यापारिक बैंकों में अन्तर और केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंत्रण के लिये प्रयोग किये जाने वाले उपायों तथा उनकी क्षमता के बारे में पढ़ेंगे

7.2 केन्द्रीय बैंक क्या है?

सभी विकसित देशों और अधिकांश विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक हैं। लेकिन अधिकाँश देशों में केन्द्रीय बैंक 20वीं शताब्दी की एक वित्तीय संस्था है। बैंक ऑफ इंग्लैंड दुनियां का सबसे पुराना केन्द्रीय बैंक है। इसकी स्थापना एक संयुक्त पूँजी कम्पनी के रूप में पार्लियामेंट के अधिनियम द्वारा 1694 में हुई थी। अमेरिका में फेडरेल रिजर्व बैंक 1913 में स्थापित किया गया। भारत में भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना 1 अप्रैल, 1935 को भारतीय रिज़र्व बैंक अधिनियम, 1934 के अन्तर्गत की गयी।

प्रत्येक देश की मौद्रिक व बैंकिंग संरचना में केन्द्रीय बैंक का केन्द्रीय (pivotal) स्थान होता है।

यह उच्चतम मौद्रिक संस्था है और देश की वित्तीय प्रणाली का अग्रणी है। तथापि, इसकी कोई सही और परिशुद्ध परिभाषा देना कठिन है। केन्द्रीय बैंक की परिभाषा इसके कार्यों के आधार पर ही दी जाती है। क्योंकि अलग-अलग देशों में और अलग-अलग समय पर इसके कार्य भी अलग-अलग रहे हैं इसलिये केन्द्रीय बैंक की परिभाषा भी अलग-अलग हैं।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। डब्ल्यू.ए. शाह की राय में, "**केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो साख का नियंत्रण करता है।**" हाट्रे का मत है कि "**केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता है।**" बैंक फॉर इंटरनेशनल सेटलमैंट्स के अधिनियमों में केन्द्रीय बैंक की यों परिभाषा दी गयी हैं, "**किसी देश का वह बैंक जिसे देश में मुद्रा और साख की मात्रा को नियमित करने का कार्य सौंपा गया हो।**" किन्च और एलकिन के अनुसार केन्द्रीय बैंक "**वह बैंक है जिसका मुख्य कर्तव्य मौद्रिक मान की स्थिरता बनाये रखना है।**" आर.पी. केन्ट के अनुसार, केन्द्रीय बैंक, "**एक ऐसी संस्था है जिस पर सामान्य सार्वजनिक कल्याण के हित में मुद्रा की मात्रा के विस्तार और संकुचन की व्यवस्था करने की जिम्मेवारी डाली गयी हो।**"

इन सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने जो परिभाषा दी हैं वे इस बात पर आधारित हैं कि उन्होंने इसके विभिन्न कार्यों, जैसे साख नियंत्रण, अंतिम ऋणदाता, नोटों को जारी करने, मुद्रा और साख नियमन और सार्वजनिक कल्याण के हित में मुद्रा के मूल्य की स्थिरता को अधिक महत्वपूर्ण माना है। **अतः हम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि केन्द्रीय बैंक किसी देश की वह उच्चतम वित्तीय संस्था है जिसका मुख्य कार्य मौद्रिक और बैंकिंग संरचना को नियमित, समन्वित व संघटित करना तथा उसका पथ-प्रदर्शन करना है जिससे कि राष्ट्रीय और सार्वजनिक कल्याण के निश्चित अपेक्षित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।**

बैंकिंग प्रणाली कुशलतापूर्वक कार्य केवल तभी कर सकती है जब इसकी क्रियाओं को निदेशित और समन्वित करने के लिये शिखर पर एक संस्था हो। ऐसा न होने पर पूरी बैंकिंग प्रणाली केवल असम्बद्ध इकाइयों का एक समूह होगी जिसमें प्रत्येक अपनी स्वतंत्र नीति का अनुसरण करेगी जो बहुधा परस्पर विरोधी होंगी। आजकल मुश्किल से ही कोई ऐसा देश होगा जिसने अपना केन्द्रीय बैंक स्थापित न किया हो। सरकार उस व्यापक नीति निर्धारण में, जिसके अन्तर्गत बैंक को कार्य करना होता है, सक्रिय भाग लेकर, प्रत्यक्ष रूप से बैंक की कार्यप्रणाली और उसकी नीतियों को प्रभावित करने का प्रयत्न करती है। सरकार बैंक के निदेशकों, गवर्नर और अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति के द्वारा भी अप्रत्यक्ष रूप से इसे प्रभावित कर सकती है।

केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों में अन्तर

केन्द्रीय बैंक की क्रियाओं के क्षेत्र को जानना और केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों के कार्यों और उद्देश्यों में भेद करना उपयोगी होगा। इन दोनों के बीच कुछ प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं :

1) व्यापारिक बैंकों का मुख्य उद्देश्य अपने अंशधारियों के लिये अधिकतम लाभ अर्जित करना है लेकिन केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य देश का आर्थिक हित है, लाभ को अधिकतम करना नहीं। केन्द्रीय बैंक बैंकिंग प्रणाली को नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है और सरकार की आर्थिक नीतियों का समर्थन करता है।

2) केन्द्रीय बैंक साधारणतया सरकार का एक अंग होता है। इसलिये इसके कार्यों को सरकार के अन्य विभागों के कार्यों के साथ भली भाँति समन्वित किया जाता है, खासतौर से वित्त, उद्योग और विदेशी व्यापार विभागों के कार्यों के साथ। लेकिन व्यापारिक बैंक जब तक राष्ट्रीयकृत न किये गये हों, तब तक वे संयुक्त पूँजी बैंक होते हैं, जिन पर निजी स्वामित्व होता है और जिनकी निजी व्यवस्था की जाती है।

3) एक वास्तविक केन्द्रीय बैंक से अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसे बैंकिंग लेन-देन नहीं करेगा जो व्यापारिक बैंकों द्वारा किये जाते हैं उदाहरण के लिए, जनता से जमाएँ स्वीकार करना और नियमित व्यापारिक ग्राहकों की छूट या अग्रिम से सहायता करना। ऐसी परिस्थितियों को छोड़कर जिनमें सामान्य जनता के साथ प्रत्यक्ष लेन-देन नितान्त आवश्यक हो जाए, यह बैंक साधारणतया जनता के साथ लेन-देन केवल अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक बैंकों और मुद्रा बाजार के माध्यम से करता है।

4) केन्द्रीय बैंक के पास करेंसी नोटों के निर्गमन और देश की व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली की कार्यप्रणाली का नियमन करने का एकाधिकार होता है। व्यापारिक बैंकों के पास ऐसा कोई अधिकार नहीं होता। उन्हें तो केन्द्रीय बैंक के पर्यवेक्षण के अन्तर्गत और उसके नीति ढांचे में कार्य करना होता है।

5) साधारणतया एक देश में कई व्यापारिक बैंक होते हैं और केवल एक केन्द्रीय बैंक होता है। अमेरिका ही एक ऐसा देश है जहाँ 12 फेडरल रिज़र्व बैंकों का एक समूह है जो केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करता है।

बोध प्रश्न क

1 बताइये निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

i) व्यापारिक बैंक एक शिखर बैंकिंग संस्था है।

ii) बैंक ऑफ इंग्लैंड 1894 में स्थापित किया गया।

iii) केन्द्रीय बैंक को सामान्यतया देश में मुद्रा और साख की मात्रा के नियमन की जिम्मेवारी सौंपी जाती है।

iv) केन्द्रीय बैंक का प्रमुख उद्देश्य लाभ को अधिकतम करना होता है।

v) केन्द्रीय बैंक के पास नोट निर्गमन का एकाधिकार होता है।

2 रिक्त स्थानों को भरिये :

i) साधारणतया देश में कई ..... बैंक होते हैं लेकिन ..... बैंक एक ही होता है।

ii) ..... बैंक बैंकिंग प्रणाली को नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है।

iii) मौद्रिक और साख नीतियों की रूपरेखा बनाना और उनका संचालन करना ..... बैंक की विशेष जिम्मेवारियाँ हैं।

7.3 केन्द्रीय बैंक के कार्य

केन्द्रीय बैंक के अधिकार और कार्य क्षेत्र के बारे में कोई सर्वसम्मति नहीं है। इनमें समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं और विभिन्न देशों में भी इनमें अन्तर हैं। तथापि हम केन्द्रीय बैंक के कार्यों को मोटे तौर से दो व्यापक श्रेणियों में वर्गीकृत कर सकते हैं :

1) परम्परागत कार्य; और
2) प्रवर्तन कार्य।

7.3.1 परम्परागत कार्य (Traditional Functions)

डी कॉक के अनुसार एक केन्द्रीय बैंक को आवश्यक रूप से निम्नलिखित सात कार्य, जिन्हें अब परम्परागत कार्य समझा जाता है, करने चाहिये :

1) **नोट निर्गमन का एकाधिकार** : एक आधुनिक केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि यह करेंसी नोटों का निर्गमन करता है। नोटों के निर्गमन पर इसका एकाधिकार है। यह कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि 20वीं शताब्दी के शुरू तक केन्द्रीय बैंक को निर्गमन के बैंक के रूप में जाना जाता था। बैंकिंग के शुरू के दिनों में व्यापारिक बैंकों को भी नोट निर्गमन का अधिकार हुआ करता था। लेकिन यह प्रथा बाद में बन्द कर दी गयी और करेंसी नोटों के निर्गमन का अधिकार निम्नलिखित कारणों से केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया गया।

i) यह नोट निर्गमन में एकरूपता लाता है, जिससे भ्रम दूर होता है जो व्यापार व उद्योग के लिये बहुत महत्वपूर्ण है।

ii) यह अर्थव्यवस्था में मुद्रा की उचित पूर्ति सुनिश्चित करता है और अलग-अलग बैंकों द्वारा अति-निर्गमन की संभावना को दूर करता है।

iii) यह व्यापारिक बैंकों द्वारा अनुचित साख विस्तार पर नियंत्रण की प्रकृति उत्पन्न करता है।

iv) यह नोट निर्गमन में बेहतर लोच सुनिश्चित करता है। व्यापारिक बैंक लापरवाही से मुद्रा का विस्तार कर सकते हैं। सरकार भी अपने राजस्व को करेंसी नोटों के अति-निर्गमन द्वारा बढ़ाने के लिये आकर्षित हो सकती है जिससे अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति हो सकती है।

अतः एकरूपता, सुरक्षा और लोच के लिये आवश्यक है कि नोट निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के पास ही होना चाहिये।

2) **राज्य का बैंकर, एजेंट और वित्तीय सलाहकार** : केन्द्रीय बैंक सरकार के कोषों के संरक्षक के रूप में कार्य करता है। सरकार के बैंकर के रूप में यह सरकार की ओर से जमाएँ स्वीकार करता है और सरकारी विभागों और सरकारी उद्यमों के बैंकिंग खाते रखता है। यह करों के संग्रहण की प्रत्याशा में या सार्वजनिक ऋण की प्रत्याशा में सरकार को अल्पावधि ऋण देता है। यह मंदी, युद्ध या किसी अन्य राष्ट्रीय आपत्काल में असाधारण अग्रिम भी देता है। सरकार के एजेंट के रूप में, यह सरकार की ओर से उन लेन-देनों को करता है जिनमें विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय, राष्ट्रीय ऋण का प्रबन्ध और सरकारी प्रतिभूतियों का खुले बाजार में क्रय-विक्रय शामिल होते हैं। वित्तीय सलाहकार के रूप में केन्द्रीय बैंक आर्थिक नीति से संबंधित मामलों पर सरकार को सलाह देता है। उदाहरण के लिये, भारतीय रिज़र्व बैंक कीमत स्थिरता, राष्ट्रीय ऋण के निधीयन, घाटे की वित्त व्यवस्था की राशि जैसी विभिन्न आर्थिक नीतियों के मामलें में भारत सरकार को पिछले दो दशकों से सलाह देता रहा है।

3) **बैंकरों का बैंक (Bankers' bank)** : केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के बैंकर के रूप में कार्य करता है। प्रथा या कानून के द्वारा सभी व्यापारिक बैंकों को अपने नकदी कोषों का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास रखना होता है। वास्तव में यह व्यवस्था कई कारणों से बैंकिंग प्रणाली के लिये उपयोगी है। (1) यह केन्द्रीय बैंक को इस योग्य बनाती है कि वह उन सदस्य बैंकों को अतिरिक्त कोष प्रदान कर सके जो अस्थायी वित्तीय कठिनाई में हैं। (2) यह अति तरल और अति लोचदार साख संरचना का आधार बनाती है। (3) यह व्यापारिक बैंकों द्वारा साख निर्माण पर केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रभावी नियंत्रण रखने में उसकी सहायता करती है। (4) यह जनता के बैंकिंग प्रणाली में अधिक विश्वास को सुनिश्चित करती है और केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित नोटों को प्रतिष्ठा प्रदान करती है। (5) यह वित्तीय संकट या सामान्य आपत्काल के समय कोषों का अनुकूलतम उपयोग करने में सहायता करती है।

4) **स्वर्ण और विदेशी मुद्रा कोषों का संरक्षक (Custodian of gold and foreign currency reserves)** : आज दुनियां के अधिकांश केन्द्रीय बैंक देश के स्वर्ण व विदेशी मुद्रा कोषों के संरक्षक के रूप में कार्य करते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध से पहले भी केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा के निर्गमन के लिये स्वर्ण व विदेशी विनिमय के कोष रखने होते थे और यह कागजी मुद्रा उन दिनों संपरिवर्तनीय होती थी। इस अधिकार से केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा कोषों पर उचित नियंत्रण रख सकता है जो देश की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति को एक सुरक्षित स्तर पर रखने के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, इससे केन्द्रीय बैंक को विदेशी मुद्राओं के रूप में देश की मुद्रा के मूल्य को स्थिर बनाने में सहायता मिलती है। केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय बाजार में अपने देश की मुद्रा उस समय खरीद सकता है जब इसका मूल्य घट रहा हो। इसी प्रकार वह विदेशी विनिमय बाजार में देश की मुद्रा को उस समय बेच सकता है जब इसका मूल्य बढ़ रहा हो। स्वर्ण व विदेशी विनिमय कोष होने से देश को अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय लेन-देन करने में बहुत शक्ति मिलती है क्योंकि स्वर्ण भगतान का अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम है।

5) **साख नियंत्रक (Controller of credit)** : आजकल व्यापारिक बैंकों की साख क्रियाओं का नियंत्रण केन्द्रीय बैंक का शायद सबसे महत्वपूर्ण कार्य बन गया है। इसका कारण यह है कि साख, मुद्रा से भी अधिक महत्वपूर्ण बन गयी है हालाँकि पूरी साख प्रणाली का आधार मुद्रा ही है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंत्रण के महत्व पर जोर देते हुए एम.एच.डी. काक ने कहा है कि **इस कार्य के द्वारा ही केन्द्रीय बैंक के अन्य सभी कार्य संगठित हो जाते हैं और सामान्य उद्देश्य को पूरा करते हैं। डब्ल्यू.ए. शाह साख नियंत्रण को केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य मानते हैं क्योंकि साख के विस्तार या संकुचन से अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति या अव-स्फीति की स्थितियाँ पैदा होती हैं।** साख की मात्रा में अनुचित उतार-चढ़ाव मुद्रा की क्रय शक्ति में बहुत उतार-चढ़ाव पैदा करते हैं जिससे बहुत बड़ी सामाजिक और आर्थिक उथल-पुथल हो जाती है। अतः व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण क्रिया का नियमन और नियंत्रण करने के लिये किसी प्राधिकरण का होना बहुत महत्वपूर्ण है।

6) **केन्द्रीय समाशोधन,निपटारे और अन्तरण का बैंक (Bank of central clearance settlements and transfer)**:आजकल समाशोधन कार्य केन्द्रीय बैंक का एक आवश्यक कार्य माना जाता है। क्योंकि केन्द्रीय बैंक सभी व्यापारिक बैंकों के नकद शेष रखता है, इसलिये सदस्य बैंकों के लिये केन्द्रीय बैंक की पुस्तकों में एक दूसरे के दावों का समायोजन करना बहुत सरल है। समाशोधन, निपटारे और आपसी दावों के अन्तरण का यह कार्य बैंक ऑफ इंग्लैंड में 1854 में शुरू हुआ जिसे बाद में पूरी दुनियां में केन्द्रीय बैंक के सामान्य कार्य के रूप में स्वीकृति मिली। क्योंकि व्यापारिक बैंक अपने अधिशेष कोषों को केन्द्रीय बैंक के पास

जमाओं के रूप में रखते हैं, इसलिये उनके आपसी दावों का, केन्द्रीय बैंक में रखी गयी उनकी लेखा पुस्तकों में अंतरण प्रविष्टियाँ करके, समाशोधन और निपटारा करना सरल हो जाता है। यदि प्रत्येक बैंक अन्य बैंकों के साथ अलग-अलग समाशोधन और निपटारे का कार्य करें तो यह कार्य बहुत कठिन और परिश्रमी हो जाएगा। इसके अतिरिक्त, ऐसी व्यवस्था से मुद्रा के प्रयोग में मितव्ययता होती है और वे उस असुविधा से बच जाते हैं जो समाशोधन व निपटारे की व्यक्तिगत प्रणाली में होती है।

7) **अन्तिम ऋणदाता (Lender of the last resort)** : शिखर बैंक होने के नाते केन्द्रीय बैंक को अन्तिम ऋणदाता के रूप में भी कार्य करना होता है। इसका यह अर्थ है कि व्यापारिक बैंकों की कठिनाई और वित्तीय आपातकाल के समय में केन्द्रीय बैंक उनकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सभी उचित मांगों को पूरा करने की जिम्मेवारी लेता है। 1873 में वाल्टर बैगहाट ने अपनी पुस्तक 'लाम्बार्ड स्ट्रीट' में केन्द्रीय बैंक के अन्तिम ऋणदाता के कार्य पर जोर दिया। इस पुस्तक में उन्होंने बैंक ऑफ इंग्लैंड का किसी भी योग्य ऋणी की संकट के समय सहायता करने की ओर ध्यान दिलाया। इस सुविधा के अभाव में व्यापारिक बैंकों को ऐसे संकट का सामना करने के लिये अपने पास बहुत अधिक नकदी कोष रखना पड़ा।

7.3.2 प्रवर्तन कार्य (Promotional Functions)

ऊपर बताये गये परम्परागत कार्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक कई विकासात्मक और प्रवर्तन काय भी करता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद केन्द्रीय बैंक का कार्य क्षेत्र विस्तृत हुआ है, खासतौर से विकासशील देशों में जहाँ तीव्र आर्थिक विकास को ऊँची प्राथमिकता दी जाती है और यह अत्यावश्यक हो गया है। अत:, हमारे जैसे विकासशील देश में आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने आर निम्नलिखित तरीकों से विकास प्रक्रिया में सहायता करने में केन्द्रीय बैंक की जिम्मेवारी हो गयी है :

1) यह देश में कृषि वित्त की विशिष्ट संस्थाओं का निर्माण व विकास करने में सहायता करता है। भारत में, भारतीय रिज़र्व बैंक ने सहकारी समितियों और कृषि सहकारी बैंकों की, उनकी अंशपूँजी में अभिदान करके, स्थापना में सहायता की है जिससे कि किसानों को उचित समय और उचित ब्याज दरों पर वित्तीय सहायता मिले।

2) उद्योगों को पर्याप्त कोषों की सप्लाई सुनिश्चित करने के लिये, कुछ विकासशील देशों के केन्द्रीय बैंकों ने औद्योगिक वित्त की विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना करने में सक्रिय भाग लिया है। इसके अतिरिक्त इसने यह भी सुनिश्चित किया है कि लघु और बहुत छोटे उद्योगों और निर्यातकों को अपेक्षाकृत कम ब्याज दरों पर पर्याप्त साख सुविधाएँ मिलें।

3) बैंकिंग संस्थाओं के पर्यवेक्षण और नियमन के अतिरिक्त विकासशील देशों के केन्द्रीय बैंकों ने बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार, खासतौर से ग्रामीण और अर्ध शहरी क्षेत्रों में, की जिम्मेवारी भी ली है क्योंकि यह विस्तार अर्थव्यवस्था की क्षेत्रीय संवृद्धि के लिये बहुत महत्वपूर्ण है।

4) मुद्रा बाज़ार और पूँजी बाजार की अच्छी तरह व्यवस्थित व समन्वित संस्थाओं और एजेंसियों का प्रवर्तन अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य बन गया है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार और पूँजी बाजार के उन संस्थानात्मक अन्तरो को दूर करने का प्रयत्न करता है जो आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया में बाधा डालते हैं।

5) इन सब कार्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार और पूँजी बाजार की प्रवृत्तियों को दर्शाने के लिये अर्थव्यवस्था के बैंकिंग व वित्तीय क्षेत्रों के बारे में सांख्यिकी आंकड़ों का संग्रहण, संकलन और प्रकाशन करने का कार्य भी करता है। इससे राज्य को विशेष स्थितियों, जैसे कि आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों का नियंत्रण करने, काले धन पर काबू पाने, के संबंध में उचित आर्थिक निर्णय लेने में सहायता मिलती है।

बोध प्रश्न ख

1 केन्द्रीय बैंक के सात परम्परागत कार्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत।

i) करेंसी नोटों के निर्गमन का अधिकार केवल देश के केन्द्रीय बैंक के पास होता है।

ii) केन्द्रीय बैंक सरकार का विभाग है।

iii) केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य साख नियंत्रण के कार्य के जरिये जुड़े हुए होते हैं।

iv) केन्द्रीय बैंक की ग्रामीण और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में बैंकिंग का विस्तार करने की प्रवर्तन भूमिका भी है।

7.4 मुद्रा पूर्ति और साख नियंत्रक के रूप में केन्द्रीय बैंक की भूमिका

देश का केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में मुद्रा पूर्ति और बैंक साख को ध्यान में रखता है। ऐसा करते हुए यह सुनिश्चित करने का प्रयत्न करता है कि किसी भी समय कुल मुद्रा पूर्ति और बैंक साख अर्थव्यवस्था के सर्वोत्तम हित में हैं। नियोजित अर्थव्यवस्थाओं में केन्द्रीय बैंकों को ऐसी मौद्रिक नीतियों का विकास करना होता है जो योजना की रूपरेखा और लक्ष्यों के साथ अच्छी तरह समन्वित हो सकती हों। आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में व्यवस्थित कागजी मुद्रा प्रणाली के आने से केन्द्रीय बैंक पर अतिरिक्त मुद्रा निर्गमन करते समय संयमन रखने की अतिरिक्त जिम्मेवारी पड़ गयी है। जब अर्थव्यवस्था में प्रबल मुद्रास्फीति प्रवृतियाँ हों तो अर्थव्यवस्था में मुद्रा पूर्ति और साख की व्यवस्था करने में केन्द्रीय बैंक की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। वास्तव में, केन्द्रीय बैंक बहुधा बहुत से प्रतिस्पर्धी लक्ष्यों का समाधान करने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिये, आर्थिक क्रियाओं के सुचारू रूप से क्रियाशील होने और उनके विस्तार के लिये, मुद्रा पूर्ति और साख में वृद्धि आवश्यक है। लेकिन इसके साथ ही ऐसी वृद्धि से अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी प्रवृतियाँ उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक द्वारा अनुसरण की जाने वाली मौद्रिक नीतियों को इस प्रकार बनाना होता है कि ये वितरक न्याय को प्रतिकूल रूप में प्रभावित किये बिना ही आर्थिक संवृद्धि को तीव्र करें।

अपने विविध लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये, केन्द्रीय बैंक मुद्रा पूर्ति और साख को नियंत्रित करने के लिये विभिन्न विधियों का प्रयोग कर सकता है। इनके बारे में आप इस इकाई में ही आगे चलकर पढ़ेंगे।

7.5 साख नियंत्रण (Control of Credit)

केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति और साख की मात्रा को नियंत्रित करने के लिये कई उपाय अपना सकता है। मोटे तौर पर, इन विधियों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

1) मात्रात्मक विधियाँ या साख नियंत्रण के सामान्य उपकरण।

2) गुणात्मक विधियाँ, जिन्हें चयनात्मक साख नियंत्रण भी कहते हैं।

मात्रात्मक नियंत्रण सामान्यत: बैंक साख की मात्रा और लागत के बारे में होते हैं और इसमें इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता कि आर्थिक क्रियाओं के किस क्षेत्र में साख का उपयोग किया जाएगा। चयनात्मक नियंत्रण (गुणात्मक नियंत्रण) साख की मात्रा व लागत के साथ-साथ उस उद्देश्य को भी प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं जिसके लिये व्यापारिक बैंकों द्वारा साख दिया जा रहा है।

7.5.1 संख्यात्मक विधियाँ (Quantitative Methods)

इस श्रेणी में चार प्रमुख विधियाँ हैं : (1) बैंक दर नीति, (2) खुले बाजार की क्रियाएं, (3) परिवर्ती विधिक नकद कोष अनुपात, और (4) गौण कोष अपेक्षाएँ।

बैंक दर नीति (Bank Rate Policy) : बैंक दर ब्याज की वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों की उपयुक्त प्रतिभूतियों पर उस समय पुनर्बट्टा काटता है जब ये बैंक अपने तरल कोषों को बढ़ाने के लिये केन्द्रीय बैंक के पास सहायता के लिये जाते हैं। व्यापारिक बैंकों को अपने ग्राहकों को साख सुविधाओं के विस्तार के लिये इन कोषों की आवश्यकता होती है, सामनौर में व्यस्त

अवधि के दौरान। इसीलिये बैंक दर को पुनर्बट्टा दर भी कहते हैं। बैंक दर नीति निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित होती है :

i) व्यापारिक बैंकों की उधार देने की दरें ब्याज दर के साथ निकट से संबंधित होती हैं। बैंक दर में वृद्धि से जब बैंक अपनी उधार पर ब्याज दरें बढ़ाते हैं तो व्यापारी कम उधार लेंगे और कम निवेश करेंगे।

ii) बैंक अपने पास केवल न्यूनतम नकद कोष रखते हैं और इसलिये उन्हें जब भी अतिरिक्त नकदी की आवश्यकता पड़ती है तो उन्हें केन्द्रीय बैंक के पास जाना पड़ता है।

iii) बैंकों के पास उपयुक्त प्रतिभूतियाँ पर्याप्त मात्रा में होती हैं।

iv) कीमतें, रोजगार, मजदूरी और उत्पादन ये सभी इतने लचीले होते हैं कि उद्योगपतियों व व्यापारियों के उधार व निवेश में परिवर्तन के अनुसार ये विस्तारित या संकुचित हो जाएँ।

बैंक दर नीति की कार्यप्रणाली : केन्द्रीय बैंक, बैंक दर में उचित परिवर्तन लाकर व्यापारिक बैंकों की उधार की ब्याज दरों को प्रभावित करता है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से साख की मात्रा को नियंत्रित करता है। जब अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी स्थिति होती है तो यह अत्यधिक साख निर्माण की स्थिति को दर्शाती है। इसलिये मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिये केन्द्रीय बैंक, बैंक दर बढ़ा देता है। बैंक दर में वृद्धि से व्यापारिक बैंकों के ऋण की ब्याज दर बढ़ जाती है। बैंक ऋणों की लागत में वृद्धि ऋण लेने वालों को अधिक ऋण लेने से निरुत्साहित करेगी और इससे व्यापारिक बैंकों द्वारा अत्यधिक साख निर्माण पर रोक लग जाएगी। दूसरी ओर व्यापारी अपने ऋणों को चुकाने के लिये अपने माल के कुछ स्टॉक को बेच सकते हैं। इससे बाजार में वस्तुओं की सप्लाई बढ़ेगी जिससे कीमतों के बढ़ने की प्रवृत्ति पर रोक लगेगी। अवस्फीति की स्थिति में केन्द्रीय बैंक, बैंक दर को घटा देता है और इससे उधार लेना सस्ता हो जाता है जिससे कि निवेश बढ़ता है। लेकिन, हाल के वर्षों में बैंक दर नीति का महत्व बहुत कम हो गया है। बैंक दर नीति निम्नलिखित स्थितियों में कम प्रभावशाली हो जाती है :

1) जब व्यापारिक बैंकों के पास पर्याप्त नकद कोष हो और इसलिये उन्हें अतिरिक्त नकद राशि के लिये केन्द्रीय बैंक के पास जाने की आवश्यकता ही न हो।

2) यह संभव है कि बैंक अन्य स्रोतों से कोष एकत्र कर सकें और उन्हें केन्द्रीय बैंक के पास सहायता के लिये जाने की जरूरत ही महसूस न हो।

3) जब व्यापारिक बैंकों के पास प्रथम श्रेणी की अनुमोदित बिलें और प्रतिभूतियाँ पर्याप्त मात्रा में न हों जिन्हें वे केन्द्रीय बैंक द्वारा पुनर्बट्टा लगवा सकें।

4) अल्पविकसित देशों में एक बहुत बड़ा क्षेत्र असंगठित होता है इसलिये वहाँ यह संभव है कि बैंक दर के बढ़ने से उधार की ब्याज दरें न बढ़ें।

5) जब अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी स्थितियों के कारण निवेश की लाभदायकता बहुत ऊँची होती है तो बैंक दर में वृद्धि से केवल उधार लेने की लागत बढ़ेगी और यह संभव है कि इससे निवेश के लिये कोषों की मांग प्रभावित न हो। उदाहरण के लिये, भारत में ब्याज दरों के बढ़ने के बावजूद बैंक साख की मांग लगातार बढ़ रही है।

बैंक दर नीति को साख नियंत्रण की एक अप्रत्यक्ष विधि माना जाता है और इसकी सफलता के लिये यह आवश्यक है कि या तो वे मान्यताएँ सही हों जिन पर यह आधारित होती है या इसका प्रयोग साख नियंत्रण के किसी अन्य उपकरण जैसी खुली बाजार क्रियाओं के साथ किया जाए।

खुली बाजार क्रियाएँ (Open market operations) : खुली बाजार क्रियाओं के साथ किया जाए। द्वारा साख की मात्रा को नियंत्रित करने के लिये मुद्रा बाजार में प्रत्यक्ष रूप से जान बूझकर प्रतिभूतियों और बिलों पत्रों का क्रय-विक्रय।

खुली बाजार क्रियाओं की कार्यप्रणाली : जब अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी स्थितियाँ होती हैं तो केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियाँ बेचता है। इससे बैंकों के नकद कोष प्रत्यक्ष रूप से उतने कम हो जाते हैं जितनी राशि की वे ये प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं। इसके अलावा, इससे ग्राहकों की व्यापारिक बैंकों के पास जमा राशियाँ भी उस हद तक कम हो जाती हैं जितनी राशि की वे केन्द्रीय बैंक द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं। अत: केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार में प्रतिभूतियों का विक्रय व्यापारिक बैंकों के साख निर्माण करने के आधार को कम कर देता है और इससे साख का संकुचन हो जाता है तथा मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है। इससे वस्तुओं और सेवाओं की बढ़ती हुई मांग को रोकने में सहायता मिलती है, जिससे उनकी कीमतों में बढ़ने की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने में सहायता मिलती है। विलोमत:, अवस्फीति की स्थिति का सामना

करने के लिये केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नकद कोष बढ़ाने के लिये प्रतिभूतियों को खरीदता है ताकि साख की मात्रा बढ़ायी जा सके। साख नियंत्रण की यह विधि बैंक दर नीति से ज्यादा अच्छी मानी जाती है क्योंकि यह बैंकों के नकद कोषों को प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तित करके उनकी साख निर्माण सामर्थ्य को प्रभावित करती है। तथापि, इस विधि की भी कुछ सीमाएँ हैं जो कभी-कभी इस उपकरण को भी कम प्रभावी बनाती हैं। ये सीमाएँ निम्नलिखित हैं :

1) खुली बाजार क्रियाएँ केवल तब सफल होती हैं जब एक विस्तृत, ठोस और सक्रिय प्रतिभूति बाजार हो। लेकिन भारत जैसे अल्पविकसित देश में ऐसे बाजार का अभाव हो सकता है जिसके कारण यह नीति प्रभावहीन हो जाती है।
2) प्रतिभूतियों की बिक्री व्यापारिक बैंकों की तरलता को प्रतिकूल रूप से प्रभावित न करे क्योंकि वे केन्द्रीय बैंक द्वारा दी जाने वाली पुनर्बट्टा सुविधाओं के द्वारा अपने कोषों को फिर से बढ़ा सकते हैं।
3) अवस्फीति को नियंत्रित करने में खुली बाजार क्रियाएँ प्रभावी सिद्ध न हो सकती हैं क्योंकि यदि केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियों का क्रय करके अधिक मुद्रा संचलन में डाल भी दे तो भी घटती हुई कीमतों की स्थिति में ऋण लेने वालों को अधिक ऋण लेने और निवेश करने के लिये केन्द्रीय बैंक मजबूर नहीं कर सकता क्योंकि अवस्फीति की स्थिति में निवेश से हानि होती है।

इन सीमाओं के कारण यह उपकरण सामान्यतया बैंक दर नीति के पूरक के रूप में प्रयोग किया जाता है। अतः ये दोनों विधियाँ प्रभावी साख नियंत्रण के लिये एक दूसरे की पूरक हैं।

परिवर्ती विधिक नकद कोष अनुपात (Variable legal cash reserve ratio) : परिवर्ती नकद कोष अनुपात केन्द्रीय बैंकों द्वारा साख नियंत्रण की एक अपेक्षाकृत नयी विधि है। इसे पहली बार अमेरिका की फेडरल रिज़र्व प्रणाली ने अपनाया था। जिन देशों में मुद्रा बाजार असंगठित व अल्पविकसित होता है वे अब साख नियंत्रण की इस विधि का अधिकाधिक प्रयोग कर रहे हैं।

आजकल प्रत्येक बैंक के लिये कानूनन या प्रथा द्वारा अपने कुल जमा दायित्वों का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास न्यूनतम विधिक नकद कोष के रूप में रखना आवश्यक है। इस कोष अनुपात में परिवर्तन से व्यापारिक बैंकों के पास तरलता की मात्रा परिवर्तित होने की बहुत संभावना होती है और इसके परिणामस्वरूप उनकी ऋण देने की सामर्थ्य परिवर्तित हो जाती है। **जब साख संकुचन वांछित हो तो केन्द्रीय बैंक नकद कोष अनुपात को बढ़ा देता है और जब साख विस्तार करना होता है तो केन्द्रीय बैंक इसे घटा देता है।** यह विधि अधिक प्रत्यक्ष है और इसका व्यापारिक बैंकों द्वारा निर्माण की जाने वाली साख की मात्रा पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है। बैंक की नकद निर्माण सामर्थ्य नीचे दिये गये सूत्र की सहायता से निकाली जाती है :

$$AD = C \times \frac{1}{r}$$

इसमें : AD = कुल जमाओं में परिवर्तन
c = नकद जमाएँ
r = न्यूनतम नकद कोष अनुपात

उदाहरण के लिये, यदि नकद कोष अनुपात 10% हो और बैंक के पास नकद जमाएँ 100 करोड़ हों तो उनकी ऋण देने की सामर्थ्य दस गुना यानि 1000 करोड़ रु. $\left(AD = 100 \times \frac{1}{\frac{10}{100}} \right)$ होगी।

लेकिन यदि नकद कोष अनुपात बढ़ाकर 20% कर दिया जाए तो यह सामर्थ्य केवल 5 गुना रह जाएगी यानि 500 करोड़ रु. (5 × 100 करोड़)।

यह विधि साख नियंत्रण का एक शक्तिशाली उपकरण तो है लेकिन इसकी भी कुछ सीमाएँ हैं जो निम्नलिखित हैं :

1) इसका बारंबार प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे व्यापारिक बैंकों को बहुत अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है।
2) यह प्रतिभूति बाजार पर निराशाजनक प्रभाव डालता है और इस प्रकार यह निवेश को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करके आर्थिक विकास की प्रक्रिया में बाधा डालता है।
3) यह विभेदी प्रकृति का है क्योंकि यह गैर-बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थों पर लागू नहीं होता।
4) यदि बैंकों के पास पहले से ही अतिरिक्त कोष है तो यह प्रभावहीन सिद्ध होता है।

5) न्यूनतम नकद कोष अनुपात में न्यूनतम परिवर्तन ही किये जा सकते हैं क्योंकि इसमें कोई भी बड़ा परिवर्तन व्यापारिक बैंकों के लिये शीघ्र समायोजन करने में कठिनाइयाँ पैदा कर देगा।

गौण कोष अपेक्षाएँ (Secondary Reserve Requirements) : केन्द्रीय बैंकों को अब यह अधिकार है कि वे व्यापारिक बैंकों के लिये न केवल न्यूनतम नकद कोष अनुपात निश्चित कर सकते हैं बल्कि कुल परिसम्पत्तियों में तरल परिसम्पत्तियों का अनुपात भी निश्चित कर सकते हैं। इससे उनकी साख निर्माण करने की सामर्थ्य और सीमित हो जाती है। इसका आधार यह है कि व्यापारिक बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों और अन्य तरल परिसम्पत्तियों को व्यापारिक ऋणों और अग्रिमों में परिवर्तित करने की स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिये। एक ऊँची गौण कोष अपेक्षा का अर्थ दीर्घावधि के लिये कम ऋण व अग्रिम है जो कि स्फीतिकारक सिद्ध होते हैं। भारत सहित बहुत से देशों ने मुद्रा स्फीति की स्थिति पर काबू पाने के लिये इसका प्रयोग किया है। इसके द्वारा व्यापारिक बैंकों की ऋण देने की सामर्थ्य पर नियंत्रण किया गया। डी काक का विश्वास है कि इस उपकरण की असाधारण स्फीतिकारक दबावों की स्थिति को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। सामान्यतया इस विधि का प्रयोग न्यूनतम नकद कोष अनुपात में परिवर्तनों के साथ किया जाता है ताकि इसे अधिक प्रभावी बनाया जा सके।

साख नियंत्रण के सामान्य उपायों के ऊपर दिये गये विवेचन से तीन तथ्य सामने आते हैं : (1) साख नियंत्रण की कोई भी एक विधि वास्तव में प्रभावी नहीं हो सकती जब तक कि इसके साथ अन्य किसी विधि का प्रयोग न किया जाए, (2) ये विधियाँ मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिये तो उपयोगी हो सकती हैं लेकिन अवस्फीति को नियंत्रित करने की सामर्थ्य इनमें से किसी में भी नहीं है, (3) ये विधियाँ अर्थव्यवस्था के उन प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के साथ अनुकूल व्यवहार करने में असफल हैं जिनकी बैंक साख की आवश्यकताएँ अधिक आवश्यक और सामाजिक रूप मे वांछनीय होती हैं।

7.5.2 गुणात्मक विधियाँ (Qualitative Methods)

साख नियंत्रण की गुणात्मक विधियों को साख नियंत्रण की चयनात्मक विधियाँ भी कहते हैं। चयनात्मक साख नियंत्रणों को साख नियंत्रण की सामान्य विधियों से बेहतर समझा जाता है क्योंकि ये न केवल साख की कुल मात्रा को नियंत्रित करने की ओर लक्ष्य करते हैं बल्कि उन उपयोगों को भी निर्दिष्ट करते हैं जिनके लिये साख दिया जाता है। वास्तव में चयनात्मक नियंत्रण उन वांछनीय और आवश्यक उपयोगों तथा अवांछनीय तथा अनावश्यक उपयोगों में भेद करते हैं जिनके लिये साख दिया जाता है। इसका उद्देश्य अवांछनीय उपयोगों से साख के प्रवाह को अधिक महत्वपूर्ण, वांछनीय और उत्पादक उपयोगों की ओर कर देना है। चयनात्मक नियंत्रणों में निम्नलिखित उपाय आते हैं।

1) **सीमान्त अन्तर अपेक्षाओं में परिवर्तन (Variation in margin requirements) :** सीमान्त अन्तर की प्रथा को बैंकों ने उधार लेने वालों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाली संपार्श्विक जमानत (collateral security) का ऋण मूल्य निर्धारित करने के लिये अपनाया है। जमानत का ऋण मूल्य उसके बाजार मूल्य में से सीमान्त अन्तर को घटाकर निकाला जाता है। उदाहरण के लिये, एक शेयर जिसका बाजार मूल्य 125 रु. है उसका 20% सीमान्त अन्तर अपेक्षा पर ऋण मूल्य 100 रु. (125 रु.–125 रु. का 20%) होगा। अतः बैंक इस जमानत पर 100 रु. से अधिक ऋण नहीं देगा।

केन्द्रीय बैंक को विभिन्न प्रकार के जमानतों (ऋणाधारों) के लिये सीमान्त अन्तर निश्चित करने का अधिकार है और इस प्रकार वह ऋण की अधिकतम सीमा को प्रभावित कर सकता है। सीमान्त अन्तर में वृद्धि एक ऋणाधार पर दिये जाने वाले ऋण की मात्रा को घटा देगी। इससे साख की मात्रा कम होगी और मुद्रास्फीति को रोकने में मदद मिलेगी। सीमान्त अन्तर अपेक्षाओं में परिवर्तन सट्टेबाजी क्षेत्रों में साख के नियमन करने का एक प्रभावी उपाय है और इससे अन्य उत्पादकों व वांछनीय क्षेत्रों में साख की उपलब्धता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त, यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से सहयोग प्राप्त कर सके तो इस विधि को प्रभावी रूप में आसानी से लागू किया जा सकता है।

2) **उपभोक्ता साख का नियमन (Regulation of consumer credit) :** साख नियंत्रण की इस विधि का पहली बार अमरीका में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान उन वस्तुओं की मांग को सीमित करने के लिये प्रयोग किया गया जिनकी सप्लाई कम थी। इस विधि का महत्व उन देशों में है जहाँ किश्तों में भुगतान और अवक्रय (hire purchase) के द्वारा बड़े स्तर पर उपभोक्ता साख प्रणाली प्रचलित है। इस विधि का अर्थ है तुरन्त भुगतान की न्यूनतम राशि और किश्तों की संख्या निश्चित करना। **केन्द्रीय बैंक अनुमोदित टिकाऊ उपयोग वस्तुओं के उपभोक्ताओं को व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋण की अधिकतम सीमा**

निश्चित करके उपभोक्ता साख का नियमन करता है। मुद्रास्फीति के समय उपभोक्ता साख को सीमित करने के लिये केन्द्रीय बैंक तुरन्त भुगतान की राशि को बढ़ाने और किश्तों की संख्या कम करने का आदेश देता है जिससे कि वस्तुओं की मांग को सीमित किया जा सके और कीमतों को नियंत्रित किया जा सके। लेकिन उन अल्पविकसित देशों में इस विधि का अर्थव्यवस्था के मौद्रिक प्रबन्ध में बहुत सीमित महत्व है जहाँ अवक्रय प्रणाली अभी इतनी लोकप्रिय नहीं हुई है।

3) **साख की राशनिंग (Rationing of credit) :** इस विधि की वित्तीय साधनों को उन क्षेत्रों में ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है जो योजना प्राधिकरण द्वारा निश्चित किये जाते हैं। **साख राशनिंग एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक ऋणों और अग्रिमों की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का प्रयत्न करता है और कुछ विशेष मामलों में निर्दिष्ट श्रेणी के ऋणों व अग्रिमों के लिये भी सीमा निर्धारित करता है।** इस तरह यह गैर प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में साख को सीमित करने का प्रयत्न करता है जिससे कि साख की उपलब्धता को अर्थव्यवस्था के वांछित क्षेत्रों में ले जाया जा सके। लेकिन सदस्य बैंक इस विधि को बहुधा पसंद नहीं करते क्योंकि यह उनकी स्वतंत्रता को कम करने का प्रयत्न करती है।

4) **निदेशों द्वारा नियंत्रण (Issue of directives) :** हाल के वर्षों में केन्द्रीय बैंकों ने व्यापारिक बैंकों से अपनी मौद्रिक नीति के प्रभावी कार्यान्वयन में सहयोग और सहायता प्राप्त करने के लिये उन्हें निदेश देने शुरू कर दिये हैं। **निदेश जबानी या लिखित हो सकते हैं तथा निवेदन या चेतावनी के रूप में हो सकते हैं और ये विशेष रूप से व्यक्तिगत साख संरचनाओं को नियंत्रित करने और ऋण की कुल मात्रा को सीमित करने के लिये दिये जाते हैं।** निदेशों की सफलता व्यापारिक बैंकों की केन्द्रीय बैंक के साथ सहयोग करने की इच्छा पर निर्भर करती है। यद्यपि निदेशों का उल्लंघन करना दण्डनीय नहीं है लेकिन व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के साथ सहयोग करते हैं क्योंकि अपने कार्य संचालन के संबंध में उन्हें केन्द्रीय बैंक पर बहुत अधिक निर्भर रहना होता है। निदेशों के साथ प्रायः साख नियंत्रण की कुछ अन्य विधियाँ भी अपनायी जाती हैं।

5) **नैतिक आग्रह (Moral suasion) : इसका अर्थ है केन्द्रीय बैंक का व्यापारिक बैंकों से देश की सामान्य मौद्रिक नीति का अनुसरण करने के लिये आग्रह या प्रार्थना करना।** मुद्रास्फीति के समय व्यापारिक बैंकों को सट्टेबाजी और अनावश्यक कार्यों के लिये ऋण सुविधाओं पर रोक लगाने के लिये समझाया जाता है। अवस्फीति के समय व्यापारिक बैंकों से उन घटिया ऋणाधारों पर भी ऋण व अग्रिम प्रदान करने की प्रार्थना की जा सकती है जिन्हें वे सामान्यतया स्वीकार नहीं करते। इस विधि में व्यापारिक बैंकों का सहयोग प्राप्त करने के लिये उन पर केवल नैतिक दबाव डाला जाता है क्योंकि इस विधि में कोई डर या कानूनी दण्ड नहीं होता। तथापि, भारत में भारतीय रिज़र्व बैंक ने इस विधि का प्रभावी और सफल प्रयोग किया है। बैंक ऑफ इंग्लैंड ने भी इस विधि का काफी हद तक सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।

6) **प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action) :** इसका तात्पर्य केन्द्रीय बैंक द्वारा गलती करने वाले बैंक के विरुद्ध निम्नलिखित में से किसी भी रूप में दण्डनीय कार्यवाही करने से है :

   i) केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों द्वारा निर्धारित सीमा से अधिक मांग की गयी साख के लिये बैंक दर के अलावा दण्ड-स्वरूप और भी ब्याज भी ले सकता है।

   ii) केन्द्रीय बैंक उन व्यापारिक बैंकों को पुनर्बट्टा काटने की सुविधाएँ प्रदान न करे जिनकी साख नीति सामान्य मौद्रिक नीति के अनुरूप नहीं है।

   iii) जिन व्यापारिक बैंकों के उधार उनकी पूँजी और नकद कोषों से अधिक हों उन्हें केन्द्रीय बैंक और साख सुविधाएँ देने से मना कर सकता है।

परन्तु व्यवहार में, केन्द्रीय बैंक के लिये व्यापारिक बैंकों के विरुद्ध कार्यवाही करना सरल नहीं है, क्योंकि साख के अनुत्पादक और अनावश्यक प्रयोग का पता लगाना हमेशा आसान नहीं होता। इसके अतिरिक्त, यह सुनिश्चित करना भी कठिन होता है कि उत्पादक कार्यों के लिये दिये गये ऋण का सट्टेबाजी के लिये या अनावश्यक कार्यों के लिये उपयोग नहीं किया गया है।

7) **प्रचार(Publicity) :** आजकल केन्द्रीय बैंक साख प्रणाली में हानिकारक प्रयोगों का और बैंक की उचित नीति क्या होनी चाहिये, इसका प्रचार करके बैंकिंग प्रणाली पर मनोवैज्ञानिक और नैतिक दबाव डालने का प्रयत्न करते हैं। केन्द्रीय बैंक नियमित रूप से बैंकिंग प्रणाली की परिसम्पत्तियों और देयताओं के विवरण, साख और व्यापार की स्थितियों की समीक्षा और मुद्रा बाजार की प्रवृत्तियों का प्रकाशन करता है जिससे सदस्य बैंकों की यह जानने में सहायता की जा सके कि उन्हें क्या करना चाहिये।

चयनात्मक साख नियंत्रणों की सीमाएँ

साख प्रणाली की निम्नलिखित सीमाओं के कारण यह संभव है कि चयनात्मक साख नियंत्रण साख को नियंत्रित करने में और इसे वांछित दिशा में प्रवाहित करने में सफल न हों :

1) चयनात्मक नियंत्रणों की सफलता सीमित है क्योंकि ये उपाय गैर-बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं को प्रभावित नहीं करते।

2) यह सुनिश्चित करना संभव नहीं भी हो सकता है कि व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये गये ऋण वास्तव में उन्हीं कार्यों पर खर्च किये जाते हैं जिनके लिये ये दिये गये थे।

3) यह संभव है कि व्यापारिक बैंक लाभ के उद्देश्य से सीमित रूप में निषिद्ध कार्यों के लिये ऋण दे दें और दण्डनीय कार्यवाही से बचने के लिये अपनी पुस्तकों में उनकी प्रविष्टियाँ अन्य शीर्षकों के अन्तर्गत कर दें।

अत: निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति की क्षमता और सफलता काफी हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि राष्ट्रीय आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने में व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के साथ सहयोग करने के लिये कितने इच्छुक हैं और वे उसका कितना आदर करते हैं।

बोध प्रश्न ग

1 निम्नलिखित में से चयनात्मक साख नियंत्रण का उपाय कौन सा है?

i) बैंक दर नीति

ii) नैतिक आग्रह

iii) सांविधिक नकद कोष अनुपात

iv) खुली बाजार क्रियाएँ

2 जब साख विस्तार करना हो तो केन्द्रीय बैंक को :

i) खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ ख़रीदनी चाहिये।

ii) बैंक दर बढ़ानी चाहिये।

iii) ऊँची सीमान्त अन्तर अपेक्षाएँ निर्धारित करनी चाहिये।

iv) गौण तरलता अनुपात बढ़ाना चाहिये।

3 निम्नलिखित में से कौन सा साख नियंत्रण का उद्देश्य नहीं है?

i) आर्थिक संवृद्धि

ii) आर्थिक कल्याण

iii) कीमतों की स्थिरता

iv) विदेशी विनिमय दर की स्थिरता।

4) बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

i) नैतिक आग्रह साख नियंत्रण का एक बहुत प्रभावी उपकरण साबित हुआ है।

ii) बैंक दर नीति मुद्रास्फीति को रोकने का एक उपयुक्त उपाय है।

iii) न्यूनतम नकद कोष अनुपात में वृद्धि का साख के विस्तार को रोकने के संबंध में तुरन्त प्रभाव पड़ेगा और इससे मुद्रास्फीति के नियंत्रण में सहायता मिलेगी।

iv) बैंक दर नीति की अपेक्षा खुली बाजार क्रियाएँ अधिक प्रभावी हैं क्योंकि बैंक दर नीति केवल अप्रत्यक्ष रूप में कार्य करती है।

v) अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में, प्रभावी मौद्रिक प्रबंध के लिये साख नियंत्रण के किसी एक उपाय पर भरोसा करना उचित होगा।

5 रिक्त स्थानों को भरिये :

i) उपभोक्ता साख का विस्तार करने के लिये बैंक ऋण की अदायगी की किश्तों की संख्या .....

ii) ..... को रोकने के लिये केन्द्रीय बैंक साख की उदारवादी नीति अपनायेगा

7.6 सारांश

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा इसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों के आधार पर दी जाती है। केन्द्रीय बैंक किसी देश की मौद्रिक व वित्तीय प्रणाली की शिखर संस्था होता है जिसकी व्यापारिक बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं की क्रियाओं के संगठन, पर्यवेक्षण, नियमन और मार्गदर्शन में अग्रगामी भूमिका होती है। केन्द्रीय बैंक का सरकार के साथ निकट का संपर्क रहता है ताकि देश की आर्थिक नीति का प्रभावी ढंग से कार्यान्वयन हो सके। अर्थव्यवस्था को आर्थिक दृष्टि से स्वस्थ बनाये रखने के लिये आन्तरिक कीमतों और विदेशी विनिमय दर में स्थिरता के साथ तीव्र आर्थिक विकास करने में यह सरकार की सहायता करता है।

मौद्रिक प्रबन्ध की व्यापक रूपरेखा सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक की सलाह से बनायी जाती है जिसे केन्द्रीय बैंक को कार्यान्वित करना होता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक के गवर्नर और उच्च अधिकारियों की नियुक्तियाँ भी सरकार ही करती है।

केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों में अन्तर इनके उद्देश्यों और कार्य क्षेत्र के बारे में होता है। व्यापारिक बैंक जनता और केन्द्रीय बैंक के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करते हैं और इनका उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है जबकि केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय आर्थिक कल्याण होता है। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय बैंक के पास नोट निर्गमन का एकाधिकार होता है और यह समस्त मौद्रिक प्रणाली का अग्रणी होता है।

केन्द्रीय बैंक 7 महत्वपूर्ण परम्परागत कार्य करता है। यह नोट निर्गमन के बैंक और अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है। यह न केवल सरकार के बैंकर और सलाहकार के रूप में कार्य करता है बल्कि सभी व्यापारिक बैंकों के बैंकर के रूप में भी कार्य करता है। यह देश के स्वर्ण व विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षक के रूप में कार्य करता है। इन सबके अलावा यह अर्थव्यवस्था में साख की मात्रा को नियंत्रित करता है। हाल के वर्षों में विकासशील देशों के केन्द्रीय बैंकों ने अपने ऊपर कृषि, उद्योग, और विदेशी व्यापार जैसे क्षेत्रों के संवर्धन में सहायता की जिम्मेवारी भी ले ली है ताकि तीव्र आर्थिक विकास हो सके।

केन्द्रीय बैंक का सबसे बड़ी चुनौती वाला कार्य अर्थव्यवस्था में साख की मात्रा का नियंत्रण करना है। साख की मात्रा को नियंत्रित करने के लिये साख नियंत्रण के सामान्य उपकरणों का प्रयोग किया जाता है जब कि साख नियंत्रण की गुणात्मक विधियों (चयनात्मक साख नियंत्रण) का प्रयोग तब किया जाता है जब साख की दिशा को प्रभावित करना हो। केन्द्रीय बैंक परिस्थितियों के अनुसार बैंक दर नीति तथा खुली बाजार क्रियाओं का कीमत स्तर के उतार-चढ़ावों को रोकने के लिये प्रयोग करता है लेकिन यह कीमतों के नियंत्रण को शीघ्र प्रभावित करने के लिये न्यूनतम नकद कोष अनुपात और गौण कोष अनुपात का भी प्रयोग कर सकता है।

हाल ही के वर्षों में साख नियंत्रण की गुणात्मक विधियाँ लोकप्रिय हुई हैं। सीमान्त अन्तर अपेक्षाओं में परिवर्तन के द्वारा, ऋण की अदायगी के लिये किश्तों की संख्या बदल कर, और साख की राशनिंग के द्वारा केन्द्रीय बैंक साख को अपेक्षित क्षेत्रों में प्रवाहित करने का प्रयत्न करता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा दिये गये निदेश और नैतिक आग्रह साख नियंत्रण के प्रभावी उपाय सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष कार्यवाही के प्रयोग का डर व्यापारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक के आदेशों की अवहेलना करने से रोकता है।

7.7 शब्दावली

मौद्रिक नीति (Monetary Policy) : आर्थिक नीति का वह भाग जो अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा को नियमित करता है ताकि कीमत स्थिरता, संवृद्धि, भुगतान शेष में संतुलन जैसे उद्देश्य प्राप्त किये जा सकें।

प्रतिभूतियाँ (Securities) : आय प्रदान करने वाले कागज जिनका शेयर बाजार या गौण बाजार में व्यापार किया जाता है।

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1 i) गलत ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही

2 i) व्यापारिक, केन्द्रीय ii) केन्द्रीय iii) केन्द्रीय

ख 1 i) नोट निर्गमन का एकाधिकार

ii) राज्य का बैंकर, एजेंट और वित्तीय सलाहकार,

iii) बैंकरों का बैंक

iv) स्वर्ण व विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक

v) साख का नियंत्रक

vi) केन्द्रीय समाशोधन, निपटान और अन्तरण का बैंक

vii) अन्तिम ऋणदाता।

2 i) सही ii) गलत iii) सही iv) सही

ग 1 ii)

2 i)

3 ii)

4 i) सही ii) गलत iii) सही iv) सही v) गलत

5 i) बढ़ाते हैं ii) अवस्फीति

7.9 स्वपरख प्रश्न

1 केन्द्रीय बैंक क्या होता है? केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से किस प्रकार भिन्न होता है?

2 आधुनिक अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक के परम्परागत और प्रवर्तन कार्यों का विवेचन कीजिये।

3 चयनात्मक साख नियंत्रणों से आप क्या समझते हैं? ये किस प्रकार साख नियंत्रण के परम्परागत उपकरणों से बेहतर हैं।

4 साख नियंत्रण की मात्रात्मक और गुणात्मक विधियों में भेद कीजिये। अर्थव्यवस्था में साख की मात्रा को नियंत्रित करने में मात्रात्मक विधियों की क्षमता का विवेचन कीजिये।

5 बैंक दर नीति और खुले बाजार की क्रियाओं की कार्यप्रणाली का विवेचन कीजिये और यह बताइये कि ये दोनों विधियाँ एक दूसरे के पूरक कैसे हैं।

नोट : ये प्रश्न/अभ्यास इस इकाई को बेहतर ढंग से समझने में आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अपने अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 8 भारतीय रिज़र्व बैंक

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 भारतीय रिज़र्व बैंक के कार्य
  8.2.1 परम्परागत कार्य
  8.2.2 विकासात्मक और प्रवर्तन संबंधी कार्य
8.3 नोट निर्गमन
  8.3.1 नोट निर्गमन की प्रणाली
  8.3.2 नोट निर्गमन के नियम
8.4 साख नियंत्रण
  8.4.1 मुद्रा नीति के उद्देश्य
  8.4.2 सामान्य साख नियंत्रण की पद्धतियाँ
  8.4.3 प्रत्यक्ष साख विनियमन
8.5 भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति का मूल्यांकन
8.6 सारांश
8.7 शब्दावली
8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
8.9 स्वपरख प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- भारतीय रिज़र्व बैंक के कार्यों का वर्णन कर सकें
- भारत में नोट निर्गमन की प्रणाली बता सकें
- करेंसी नोटों के निर्गमन के नियम बता सकें
- भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा अपनाये जाने वाले साख नियंत्रण के विभिन्न उपकरणों का विवेचन कर सकें
- भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति का मूल्यांकन कर सकें।

8.1 प्रस्तावना

इकाई 7 में आपने केन्द्रीय बैंक के बारे में पढ़ा था। जैसा कि आप जानते हैं केन्द्रीय बैंक बैंकिंग प्रणाली की शिखर संस्था है। करेंसी नोटों के निर्गमन के प्राधिकार, सरकार के बैंकर के रूप में इसकी भूमिका और बैंकों के बैंकर होने के कारण देश की बैंकिंग संरचना में इसका अद्वितीय स्थान है। भारतीय रिज़र्व बैंक, जो इस देश का केन्द्रीय बैंक है, केवल वही कार्य नहीं करता है जो विकसित देशों में केन्द्रीय बैंक करते हैं बल्कि अल्पविकसित वित्तीय बाजारों और संस्थाओं के विकास में सहायता करने के लिये कुछ विकासात्मक और प्रवर्तन संबंधी कार्य भी करता है।

इस इकाई में आप भारतीय रिज़र्व बैंक के कार्यों, इसके द्वारा नोट निर्गमन की प्रणाली और नियमों तथा इसके द्वारा प्रयोग किये जाने वाले साख नियंत्रण के उपकरणों के बारे में विस्तार से अध्ययन करेंगे। अपनी मुद्रा नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भारतीय रिज़र्व बैंक ने कितनी कुशलतापूर्वक मुद्रा नियंत्रण की विधियों का प्रयोग किया है, इसकी भी आलोचनात्मक जांच की गयी है।

8.2 भारतीय रिज़र्व बैंक के कार्य

भारतीय रिज़र्व बैंक हमारे देश का केन्द्रीय बैंक है। शेयरधारियों के बैंक रूप में इसकी स्थापना

अप्रैल, 1935 को हुई थी। लगभग 14 वर्षों तक यह इसी रूप में बना रहा। 1 जनवरी, 1949 को इसका राष्ट्रीयकरण किया गया और तब से ही इस पर सरकार का स्वामित्व है।

भारतीय रिज़र्व बैंक दो प्रकार के कार्य करता है :

i) केन्द्रीय बैंक के परम्परागत कार्य, और
ii) विकासात्मक और प्रवर्तन संबंधी कार्य।

परम्परागत कार्य तो लगभग वही हैं जो एक केन्द्रीय बैंक सामान्यतया विकसित और अल्पविकसित दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में करता है। इसकी तुलना में अल्पविकसित देशों के केन्द्रीय बैंक के विकासात्मक व प्रवर्तन कार्य अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं, विशेष रूप से वहां के वित्तीय बाजारों की आवश्यकताओं से निर्धारित होते हैं। भारत में, कृषि वित्त की अपर्याप्यता और दीर्घकालीन औद्योगिक वित्त की विशिष्ट संस्थाओं के अभाव में ही मुख्यतया रिज़र्व बैंक के विकासात्मक और प्रवर्तन कार्यों का निर्धारण किया है।

8 परम्परागत कार्य (Traditional Functions)

भारतीय रिज़र्व बैंक, बैंक ऑफ इंग्लैंड के मॉडल पर स्थापित किया गया था। इसलिये इसे वे सारे कार्य सौंपे गये थे जो बैंक ऑफ इंग्लैंड करता है। ये कार्य, जिन्हें प्रायः केन्द्रीय बैंक के परम्परागत कार्य कहते हैं, निम्नलिखित हैं :

1) करेंसी नोटों का निर्गमन करना
2) सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करना
3) बैंकरों के बैंक के रूप में कार्य करना
4) बैंक का नियंत्रण व पर्यवेक्षण करना
5) विदेशी विनिमय का प्रबंध व नियंत्रण करना
6) साख का नियंत्रण करना

1) **करेंसी नोटों का निर्गमन (Issue of currency notes) :** भारत में नोटों के निर्गमन का अधिकार केवल रिज़र्व बैंक के पास है। भारत में करेंसी मुद्रा पूर्ति का एक महत्वपूर्ण भाग है। 1989-90 में मुद्रा पूर्ति (संकीर्ण अर्थ में यानि M) का 57% करेंसी के रूप में था। इसलिये करेंसी नोटों का निर्गमन रिज़र्व बैंक का एक प्रमुख कार्य बन जाता है। भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा निर्गमित सभी करेंसी नोट भारत में वैध मुद्रा (legal tender) हैं। भारतीय रिज़र्व बैंक अधिनियम रुपये में 2, 5, 10, 20, 50, 100, 500, 1,000,5,000, और 10,000 के मूल्यवर्ग के नोट या ऐसे अन्य मूल्य वर्ग के नोट जो केन्द्रीय सरकार निर्दिष्ट करे लेकिन जो 10,000 रु. से अधिक के न हों, छापने की अनुमति देता है। आजकल 1,000, 5,000 और 10,000 रु. के नोट निर्गमित नहीं किये जाते। 100 रु. के नोट सबसे महत्वपूर्ण हैं क्योंकि कुल करेंसी नोटों के मूल्य के लगभग आधे मूल्य के नोट 100 रु. के ही हैं। रिज़र्व बैंक द्वारा नोट निर्गमन की प्रणाली और नियमों पर इस इकाई में आगे चलकर विचार किया जाएगा।

2) **सरकार का बैंकर (Banker to the Government) :** भारतीय रिज़र्व बैंक केन्द्रीय सरकार और राज्यों सरकारों का बैंकर है। बैंकर के रूप में यह सरकार को कई प्रकार की बैंकिंग सेवाएँ प्रदान करता है। इसमें जमा के रूप में मुद्रा स्वीकार करना, चैकों द्वारा कोष निकालना, सरकार को किये जाने वाले भुगतानों की प्राप्ति और कोषों का अंतरण शामिल होता है। रिज़र्व बैंक पर केन्द्रीय सरकार को बैंकर की सेवाएँ प्रदान करने का सांविधिक दायित्व है। लेकिन राज्य सरकारें ये सेवाएँ इसके साथ किये गये करारों के आधार पर ही प्राप्त करती है। सार्वजनिक ऋण प्रबन्ध जो पहले सरकार की जिम्मेवारी या अब रिज़र्व बैंक द्वारा किया जाता हैं। चूँकि रिज़र्व बैंक श्रेष्ठ प्रतिभूति बाजार (gift-edged market) का कार्य करता है। अतः इसे इसके संबंध में काफी गहरी जानकारी होती है। इस प्रकार रिज़र्व बैंक सरकार को नये बांडों के निर्गमन की राशियों, शर्तों, और समय के बारे में उपयोगी परामर्श दे सकता है।

ट्रेजरी बिल अब केन्द्रीय सरकार के सार्वजनिक ऋण का एक महत्वपूर्ण भाग है। ट्रेजरी बिलें रिज़र्व बैंक द्वारा केन्द्रीय सरकार के एजेन्ट के रूप में निर्गमित किये जाते हैं। सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करने के अलावा रिज़र्व बैंक सरकार को अल्पकालीन अग्रिम भी प्रदान करता है। सरकार के राजस्व में कमी होने से जो अस्थायी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें दूर करने के लिये ये अल्पकालीन अग्रिम प्रदान किये जाते हैं।

अन्त में **रिज़र्व बैंक सरकार के परामर्शदाता के रूप में कार्य करता है।** रिज़र्व बैंक के पास विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित विशेषज्ञ होते हैं अतः यह न केवल बैंकिंग और वित्तीय मामलों में सरकार को सलाह देने की स्थिति में है बल्कि आर्थिक नियोजन के मामलों में भी सलाह देने में समर्थ है। मौद्रिक और राजकोषीय नीतियों में समन्वय की आवश्यकता के कारण इस कार्य का महत्व और भी बढ़ जाता है।

3) **बैंकरों का बैंक (Bankers' bank) :** अन्य केन्द्रीय बैंकों की भाँति, भारतीय रिज़र्व बैंक जनता या व्यापारिक फर्मों के साथ लेन-देन नहीं करता। यह केवल बैंकरों का बैंक है। व्यापारिक बैंक और सहकारी बैंक बिलों के पुर्नबट्टे के रूप में और 90 दिन तक के लिये अनुमोदित प्रतिभूतियों पर ऋण व अग्रिम के रूप में रिज़र्व बैंक से वित्तीय सहायता प्राप्त करते हैं। रिज़र्व बैंक को बैंकिंग का सुदृढ़ आधार पर विकास करने का कार्य भी सौंपा गया है। इसलिये यह बैंकों को अग्रिम देते समय उनकी वित्तीय स्थितियों, ऋण नीतियों और उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी प्रतिभूतियों के आधार पर उनके बीच भेद करता है। भारतीय रिज़र्व बैंक ऋण मांगने वाले किसी भी बैंक को बिना कारण बताये वित्तीय सहायता देने से मना कर सकता है।

4) **बैंकों का नियंत्रण और पर्यवेक्षण (Control and supervision of banks) :** भारतीय रिज़र्व बैंक अधिनियम, 1934 और बैंकिंग विनियमन अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत भारतीय रिज़र्व बैंक को व्यापारिक बैंकों को नियंत्रित करने के व्यापक अधिकार दिये गये हैं। रिज़र्व बैंक के व्यापारिक बैंकों के बारे में नियत्रणात्मक कार्यों में लाइसेंस देना, शाखा विस्तार, उनकी परिसम्पत्तियों की तरलता, प्रबंध और कार्यप्रणाली की पद्धति, समामेलन, पुनर्निर्माण और परिसमापन आते हैं। नियंत्रण के उद्देश्य से रिज़र्व बैंक बैंकों का निरीक्षण करता है और उनसे विवरण और सूचना मांगता है। यदि किसी बैंक का कार्य असंतोषजनक होता है तो रिज़र्व बैंक उसकी कार्य प्रणाली में सुधार करने के लिये उपाय सुझा सकता है। कोई भी कम्पनी जो भारत में बैंकिंग व्यवसाय करना चाहती है उसे बैंकिंग विनियमन अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार भारतीय रिज़र्व बैंक से लाइसेंस लेना पड़ता है। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं होती। बैंकिंग सुविधाओं के फैलाव के लिये व्यापारिक बैंकों के शाखा विस्तार पर नियंत्रण की जरूरत होती है। आजकल रिज़र्व बैंक व्यापारिक बैंकों को अपनी शाखाएँ ग्रामीण और अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में खोलने के लिये प्रोत्साहित करता है।

यह सुनिश्चित करने के लिये कि बैंक व्यवस्थित रहें और सुदृढ़ वित्तीय आधार पर कार्य करें, बैंकिंग विनियमन अधिनियम ने दत्त पूँजी और कोषों की, रक्षित कोषों के अन्तरण की, और नकद कोष व अन्य तरल परिसम्पत्तियों की न्यूनतम सीमाएं निर्धारित की है। लेकिन रिज़र्व बैंक का सबसे महत्वपूर्ण पर्यवेक्षण कार्य बैंकों का निरीक्षण करना है। यह जमाकर्ताओं के हितों को सुरक्षा प्रदान करता है और बैंकिंग प्रणाली को बैंकिंग विधियों और विनियमों के अनुरूप विकसित करने में सहायता करता है।

विदेशी विनिमय का प्रबंध और नियंत्रण (Foreign exchange management and control) : विदेशी विनिमय के प्रबंध और नियंत्रण में तीन कार्य करने होते हैं : (i) करेंसी का बाह्य मूल्य बनाये रखना (ii) देश के बाह्य कोषों का प्रबंध और (iii) विनिमय नियंत्रण। केन्द्रीय बैंक होने के नाते भारतीय रिज़र्व बैंक से इन तीनों कार्यों को करने की अपेक्षा की जाती है। आजकल रु. का विनिमय मूल्य उन चुने हुए देशों की मुद्राओं के दैनिक विनिमय दर परिवर्तनों के अनुसार निर्धारित किया जाता है जिनके साथ भारत मुख्यतया व्यापार करता है। मुद्रा इकाइयों का चयन और उनके लिये नियत किये जाने वाला भार भारतीय रिज़र्व बैंक पर छोड़ दिया गया है। विदेशी विनिमय कोषों के सरंक्षक के रूप में रिज़र्व बैंक इन कोषों के निवेश व उपयोग की व्यवस्था करता है। आजकल विदेशी विनिमय का नियंत्रण विदेशी विनिमय विनियमन अधिनियम, 1973 द्वारा होता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा रिज़र्व बैंक के परामर्श से बनायी गयी सामान्य नीति के अनुरूप रिज़र्व बैंक इस अधिनियम को लागू करता है।

6) **साख नियंत्रण (Credit control) :** अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप साख नियंत्रण करना केन्द्रीय बैंक का शायद सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। केन्द्रीय बैंकिंग पर एक विशेषज्ञ एम.एच.डी. काक का इस संबंध में मत है कि *"यह (साख नियंत्रण) वह कार्य है जो केन्द्रीय बैंक की नीति के सभी प्रश्नों को समाविष्ट करता है और जिसके द्वारा लगभग अन्य सभी कार्य मिलकर सामान्य उद्देश्य के लिये कार्य करते हैं।"* डी काक के कथन भारतीय संदर्भ मे निस्संदेह प्रासंगिक हैं। इस देश में आर्थिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता के साथ संवृद्धि है। मुख्यतया साख नियंत्रण पर निर्भर मुद्रा नीति भी इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कार्य करती है। इस प्रकार रिज़र्व बैंक के साख नियंत्रण कार्य का विशेष महत्व है। साख की

पूर्ति का नियमन करने के लिये रिज़र्व बैंक मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों प्रणालियों का प्रयोग करता है। इन पर इस इकाई में आगे विचार किया गया है।

8.2.2 विकासात्मक और प्रवर्तन संबंधी कार्य (Developmental and Promotional Functions)

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले की अवधि में रिज़र्व बैंक कोई विकासात्मक कार्य नहीं करता था लेकिन उसके बाद की अवधि में यह बहुत से विकासात्मक व प्रवर्तन संबंधी कार्य कर रहा है। इन कार्यों को मोटे तौर पर चार वर्गों में बांटा जा सकता है : (1) इसने अधिकांश कृषि साख को संस्थागत बनाया है। इसने पहले देशी बैंकरों को संगठित मुद्रा बाजार के साथ समन्वित करने का प्रयत्न किया। इसमें विफल होने पर इसने न केवल ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख के विकास को प्रोत्साहित किया बल्कि लाइसेंस देने के अपने अधिकार का इस तरह से प्रयोग किया कि व्यापारिक बैंक बड़ी संख्या में ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंच गये हैं। (2) खास तौर से छोटे बचतकर्ताओं की बचत को एकत्र करने के लिये इसने भारतीय यूनिट ट्रस्ट (UTI) की स्थापना में सक्रिय भूमिका निभायी। जिन व्यक्तियों व संस्थाओं के पास निवेश निपुणता नहीं है उन्हें यूनिट ट्रस्ट सर्वोत्तम निवेश अवसर प्रदान करता है। यह अपने निवेशकों के लिये नियमित आय, तरलता, कम जोखिम और निपुण प्रबंध सुनिश्चित करता है। (3) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) की स्थापना में सहायता करके इसने कृषि वित्त में जो कमी थी उसे पूरा किया है। यह बैंक कृषि वित्त में शिखर संस्था है। इसकी आधी शेयर पूँजी रिज़र्व बैंक ने दी है। (4) रिज़र्व बैंक ने भारत में कई विकास बैंकों की स्थापना में योगदान दिया है। वास्तव में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) की शुरू में स्थापना भारतीय रिज़र्व बैंक के सहायक के रूप में हुई थी। 1976 में यह एक स्वायत्त संस्था बन गया।

बोध प्रश्न क

1 भारतीय रिज़र्व बैंक के मुख्य कार्यों की सूची बनाइये।

.....

.....

.....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सा सही है और कौन सा गलत :

i) भारतीय रिज़र्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है।

ii) अपनी स्थापना के समय से ही रिज़र्व बैंक सार्वजनिक क्षेत्रक का संगठन रहा है।

iii) भारत में नोट निर्गमन का अधिकार केवल भारतीय रिज़र्व बैंक के पास है।

iv) भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा निर्गमित करेंसी नोट पूरी दुनियां में वैध मुद्रा है।

v) भारतीय रिज़र्व बैंक केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारों इन दोनों का ही बैंकर है।

vi) भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा ट्रेजरी बिल अपनी कार्यशील पूँजी जुटाने के लिये बेचे जाते हैं।

vii) भारतीय रिज़र्व बैंक बैंकरों का बैंक है।

viii) सरकार के स्वामित्व वाले बैंकों सहित सभी व्यापारिक बैंकों को बैंकिंग व्यवसाय करने के लिये भारतीय रिज़र्व बैंक से लाइसेंस लेना होता है।

ix) भारत में विनिमय नियंत्रण का संचालन केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वतन्त्र रूप से किया जाता है।

x) भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा किये गये विकासात्मक और प्रवर्तन संबंधी कार्य वही हैं जो इंग्लैंड में बैंक ऑफ इंग्लैंड ने किये हैं।

8.3 नोट निर्गमन (Notes Issue)

जैसा कि इस इकाई में पहले बताया जा चुका है नोट निर्गमन भारतीय रिज़र्व बैंक का एक मूल कार्य है। रिज़र्व बैंक के पास नोट निर्गमन का एकाधिकार है। इस भाग में हम नोट निर्गमन की प्रणाली और इसके नियम पर विचार करेंगे।

8.3.1 नोट निर्गमन की प्रणाली (System of Notes Issue)

रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया अधिनियम के अनुसार रिज़र्व बैंक नोट निर्गमन का कार्य दो अलग-अलग विभागों के जरिये से करता है : (1) निर्गमन विभाग और (2) बैंकिंग विभाग। निर्गमन विभाग समय-समय पर संचलन में लाये गये सभी करेंसी नोटों के लिये उत्तरदायी होता है। निर्गमन विभाग को समान मूल्य की उपयुक्त परिसम्पत्तियाँ रखनी पड़ती है। रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया अधिनियम के अनुसार, निर्गमन विभाग की उन सम्पत्तियों में जिनके विरुद्ध करेंसी नोट निर्गमित किये जाते हैं, सोना, विदेशी प्रतिभूतियाँ, रुपए के सिक्के, भारत सरकार की रुपए में प्रतिभूतियाँ और विनिमय पत्र और भारत में देय तथा रिज़र्व बैंक द्वारा क्रय किये जा सकने वाले वचन-पत्र (Promissory notes) आते हैं। व्यवहार में, निर्गमन विभाग और बैंकिंग विभाग में विभेद का कोई आर्थिक महत्व नहीं है क्योंकि दोनों विभागों की परिसम्पत्तियाँ प्रायः एक से दूसरे के पास जाती रहती है। तथापि, बैंकिंग विभाग की कुछ परिसम्पत्तियाँ निर्गमन विभाग अपने पास नहीं रखता। जो परिसम्पत्तियाँ निर्गमन विभाग द्वारा नहीं रखी जा सकतीं, वे हैं राज्य सरकारों की प्रतिभूतियाँ और सिक्के।

निर्गमन विभाग की जिम्मेवारियों में भारत सरकार के करेंसी प्रिंटिंग प्रेसों से नोटों के मुद्रण की व्यवस्था, जनता में करेंसी नोटों का वितरण और प्रयोग न किये जा सकने वाले नोटों को वापस लेना शामिल है। दूसरी ओर मुद्रा को संचलन में डालने या संचलन से वापस लेने के कार्य बैंकिंग विभाग करता है। एक उदाहरण की सहायता से इसे आसानी से समझा जा सकता है। मान लीजिये कि एक व्यापारिक बैंक रिज़र्व बैंक के पास अपनी जमाओं में से 5 करोड़ रु. निकालना चाहता है। यह कार्य बैंकिंग विभाग द्वारा किया जाएगा। सम्बद्ध बैंक को जिस मूल्यवर्ग की मुद्रा चाहिये, मिल जाएगी और रिज़र्व बैंक में इसके खाते को इसके द्वारा निकाली गयी राशि से डेबिट कर दिया जाएगा। ऐसी मांगों को पूरा करने के लिये बैंकिंग विभाग करेंसी का स्टॉक रखता है। जब कभी इसे लगता है कि करेंसी का स्टॉक पर्याप्त नहीं है तो यह उपयुक्त परिसंपत्तियों के हस्तांतरण पर निर्गमन विभाग से करेंसी लेकर इसे पूरा कर लेता है। व्यापारिक बैंक रिज़र्व बैंक में नियमित आधार पर जमायें भी करते हैं। मान लीजिये कि एक बैंक रिज़र्व बैंक को नकद राशि अपने खाते में जमा करने के लिये देता है, यह नकद राशि बैंकिंग विभाग प्राप्त करेगा और इसे करेंसी के स्टॉक के रूप में रखेगा। इसके कारण यदि बैंकिंग विभाग के पास करेंसी का अतिरिक्त स्टॉक हो जाता है तो इस अतिरिक्त नकद राशि को निर्गमन विभाग को हस्तांतरित कर दिया जाएगा और इसके बदले इसके बराबर के मूल्य की परिसम्पत्तियाँ ले ली जाएँगी। एक मूल्यवर्ग के करेंसी नोटों को दूसरों में बदलने के लिये या सिक्कों में बदलने के लिये निर्गमन विभाग प्रत्यक्ष रूप से जनता के साथ लेनदेन करता है। इसके लिये रिज़र्व बैंक ने व्यापक व्यवस्था की है जैसे कि बहुत से शहरों में निर्गमन विभाग के कार्यालय रखना। अन्य केन्द्रों पर करेंसी की मांग को स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंकों, अन्य राष्ट्रीयकृत बैंकों तथा सरकारी खज़ानों या उप-खज़ानों में रिज़र्व बैंक द्वारा रखी गई करेंसी तिजोरियों से पूरा किया जाता है। रिज़र्व बैंक का एजेंट यानि स्टेट बैंक या कोई अन्य राष्ट्रीयकृत बैंक या खज़ाना, जहाँ तिजोरियाँ रखी गयी हैं, अपनी आवश्यकतानुसार उसमें से नकद राशि निकाल सकता है। तुरन्त जितनी आवश्यकता है उससे अधिक नकद राशि को तिजोरी में जमा कराना होता है क्योंकि इन कोषों को बाद में जब भी आवश्यकता हो निकाला जा सकता है।

8.3.2 नोट निर्गमन के नियम (Principles of Notes Issue)

भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना के समय स्वर्ण मान (याान वह मुद्रा प्रणाली जिसमें देश की मुद्रा सोने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तनीय थी) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विद्यमान था। इसलिये भारत में **आनुपातिक कोष प्रणाली (proportional reserve system)** को अपना कर नोट निर्गमन को सोने और विदेशी कोषों से जोड़ने के नियम का अनुसरण किया गया। इस प्रणाली के अन्तर्गत भारतीय रिज़र्व बैंक को अपनी परिसम्पत्तियों के कम से कम 40% के बराबर सोने और विदेशी प्रतिभूतियों के कोष (1 जनवरी, 1949 तक स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ) रखने आवश्यक थे। किसी भी समय स्वर्ण के कोष 40 करोड़ रु. के मूल्य से कम नहीं होने चाहिये थे। केन्द्रीय बैंक से पूर्व स्वीकृति के आधार पर आनुपातिक कोष प्रणाली की शर्त को स्थगित किया जा सकता था। फिर भी, रिज़र्व बैंक को वैधानिक रूप से अपेक्षित सोने और विदेशी प्रतिभूतियों के कोषों में कमी पर कर देना पड़ता था। नोट निर्गमन की यह प्रणाली लगभग 20 वर्षों तक ठीक-ठाक चली क्योंकि इसने अर्थव्यवस्था में मुद्रा पूर्ति पर नियंत्रण लगाया और इसलिये वस्तुओं और साधनों की कीमतों पर प्रभावी नियंत्रण रखा।

1956 में दूसरी पंचवर्षीय योजना को अपनाने से विकासात्मक कार्यों को बहुत तेज करना था। इसके अतिरिक्त मुद्रीकरण की प्रक्रिया भी तीव्र हो गयी। ऐसी परिस्थितियों में मुद्रा की मांग में

वृद्धि होने की अपेक्षा थी जो आनुपातिक कोष प्रणाली के प्रतिबंधों के अन्तर्गत आसानी से पूरी नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त यह भी महसूस किया गया कि करेंसी नोटों के निर्गमन के समर्थन के लिये विदेशी विनिमय को कोष में जमा रखने से कोई उपयोगी उद्देश्य पूरा नहीं होता, बल्कि यदि इनका उपयोग भुगतान शेष में अपरिहार्य घाटे को पूरा करने के लिये किया जाय तो यह इनका एक बड़े उद्देश्य के लिये उपयोग होगा। इसलिये 1956 में नोट निर्गमन की प्रणाली को अधिक लचीला बना दिया गया। **आनुपातिक कोष प्रणाली का स्थान न्यूनतम कोष प्रणाली ने ले लिया। इसका अर्थ है कि नोट निर्गमन प्राधिकरण पर सोने व विदेशी विनिमय कोषों के केवल एक निश्चित न्यूनतम रखने का बन्धन है; शेष को उपयुक्त परिसम्पत्तियों में रखा जा सकता है।** भारतीय रिज़र्व बैंक (संशोधन) अधिनियम, 1956 के अनुसार यह न्यूनतम कोष विदेशी प्रतिभूतियों में 400 करोड़ रु. और सोने में 115 करोड़ रु. निर्धारित किया गया। इस प्रकार दोनों का योग 515 करोड़ रु. हुआ। 1957 में वे प्रावधान संशोधित किये गये जो नोट निर्गमन के समर्थन के कोष की न्यूनतम राशि को विनियमित करते थे और सोने व विदेशी विनिमय की न्यूनतम राशि को 200 करोड़ रु. निश्चित किया गया, जिसमें से सोने के कोष का न्यूनतम मूल्य 115 करोड़ रु. था। 1957 के दूसरे संशोधन अधिनियम ने रिज़र्व बैंक को यह अधिकार प्रदान किया कि वह केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से विदेशी प्रतिभूतियों में कोष रखने की शर्त को छोड़ सकता है। लेकिन 115 करोड़ रु. के स्वर्ण कोष तो सदा ही रखने होंगे। नोट निर्गमन की यह प्रणाली निस्संदेह लोचशील है लेकिन यह स्फीतिकारी प्रवृत्तियों पर कोई नियंत्रण प्रदान नहीं करती।

बोध प्रश्न ख

1 1935 में भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद इस देश में समय-समय पर अपनायी गयी नोट निर्गमन की दो पद्धतियों के नाम बताइये।

i) .....

ii) .....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सा सही है और कौन सा गलत :

i) भारतीय रिज़र्व बैंक नोट निर्गमन का संचालन निर्गमन विभाग और बैंकिंग विभाग के ज़रिये करता है।

ii) संचलन में लाये सभी करेंसी नोटों के लिये बैंकिंग विभाग उत्तरदायी है।

iii) करेंसी नोटों के निर्गमन का समर्थन उपयुक्त परिसम्पत्तियों द्वारा किया जाता है।

iv) मुद्रा को वास्तविक संचलन में लाने का कार्य निर्गमन विभाग करता है।

v) करेंसी नोटों को सिक्कों में या एक मूल्य वर्ग के नोटों को दूसरों में बदलने के लिये निर्गमन विभाग जनता से प्रत्यक्ष रूप में लेन-देन करता है।

vi) जब भारतीय रिज़र्व बैंक स्थापित किया गया था तो न्यूनतम कोष प्रणाली अपनायी गयी थी।

vii) जब इस देश में आनुपातिक कोष प्रणाली अपनायी गयी थी तो कुल परिसम्पत्तियों के कम से कम 40% के बराबर स्वर्ण व विदेशी प्रतिभूतियों का कोष रखना आवश्यक था।

viii) आनुपातिक कोष प्रणाली ने करेंसी नोटों के स्फीतिकारी विस्तार पर रोक लगायी।

ix) नोट निर्गमन की न्यूनतम कोष प्रणाली नोट निर्गमन में लोचशीलता के नियम का पालन करती हैं।

x) आजकल नोट निर्गमन के समर्थन में रखे जाने वाले स्वर्ण कोष की न्यूनतम राशि 515 करोड़ रु. से कम नहीं हो सकती

8.4 साख नियंत्रण (Control of Credit)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है साख का नियंत्रण भारतीय रिज़र्व बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। वास्तव में रिज़र्व बैंक के साख नियंत्रण के द्वारा सरकार सारी आर्थिक क्रियाओं और कीमत स्तर को प्रभावित करने का प्रयत्न करती है। इस भाग में हम पहले भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा शक्ति के उद्देश्यों पर विचार करेंगे क्योंकि ये ही साख नियंत्रण के लिये रूपरेखा प्रदान

करते हैं। इसके बाद सामान्य साख नियंत्रण के उपकरणों और प्रत्यक्ष साख नियमन पर विचार किया जाएगा।

8.4.1 मुद्रा नीति के उद्देश्य (Objectives of Monetary Policy)

मुद्रा नीति से आशय रोजगार व उत्पादन के अनुकूलतम स्तर, कीमत स्थिरता, भुगतान शेष संतुलन या राज्य द्वारा निर्धारित किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये केन्द्रीय बैंक द्वारा अपने नियंत्रण के अन्तर्गत के विभिन्न उपकरणों द्वारा मुद्रा और साख की पूर्ति का नियमन करना है। आजकल भारत में मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य रोजगार के ऊंचे स्तर व कीमत स्थिरता के साथ आर्थिक संवृद्धि को लाना माना जाता है। इसने उद्योग, व्यापार व कृषि को पर्याप्त मात्रा में साख की सुविधा उपलब्ध कराकर आर्थिक संवृद्धि को प्रेरित किया है। इससे भारतीय रिज़र्व बैंक के लिये ऐसी नीतियों का पालन करना आवश्यक हो गया जिनसे साख का विस्तार होता है। लेकिन ऐसी नीति से मुद्रास्फीति हो सकती है। इसलिये रिज़र्व बैंक की कोशिश रही है कि साख विस्तार में सावधानी बरते। स्फीतिकारी दबावों को नियंत्रण में रखने के लिये इसे साख विस्तार को सीमित करना होता है और साख के प्रवाह को सामाजिक रूप से अवांछनीय क्रियाओं जैसे सट्टेबाजी व जमाखोरी में ज़ाने से रोकना होता है। इस प्रकार भारतीय रिज़र्व बैंक का कार्य आन्तरिक कीमत स्थिरता को प्रतिकूल रूप में प्रभावित किये बिना विकास की गति को बनाये रखने के लिये साख की पर्याप्त उपलब्धि सुनिश्चित करना है। **नियंत्रित विस्तार की नीति** बहुधा नीति की विशेषता बताई जाती है।

8.4.2 सामान्य साख नियंत्रण की पद्धतियाँ (Techniques of General Credit Control)

जैसा कि पिछली इकाई में बताया गया था साख नियंत्रण प्रणालियाँ दो प्रकार की होती हैं :

i) सामान्य या मात्रात्मक, और ii) चयनात्मक या गुणात्मक। पहली श्रेणी की साख नियंत्रण प्रणालियाँ बैंक दर, खुली बाजार क्रियाएँ और कोष से संबंधित शर्तें है। ये तीनों विधियाँ व्यापारिक बैंक के ऋण योग्य कोषों को प्रभावित करके साख की मात्रा को प्रभावित करती हैं और इस प्रकार कुल मुद्रा पूर्ति को प्रभावित करती हैं। चयनात्मक या गुणात्मक साख नियंत्रण का प्रभाव साख की मात्रा की बजाय साख की दिशा पर होता है। सामान्य या मात्रात्मक साख नियंत्रण की प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं :

1) **बैंक दर : बैंक दर ब्याज की वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को अग्रिम देता है।** केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को अनुमोदित प्रतिभूतियों पर या उपयुक्त बिलों व अन्य व्यापारिक प्रलेखों के क्रय या पुर्नबट्टे पर वित्तीय सहायता प्रदान करता है। बैंक दर में परिवर्तन करने का उद्देश्य केन्द्रीय बैंक से कोष प्राप्त करने की लागत को परिवर्तित करना है। यदि बैंक दर बदलती है तो इससे बाजार ब्याज दरों की संरचना बदलती है जिससे आर्थिक क्रियाओं का स्तर प्रभावित होता है। जब स्फीतिकारी स्थिति होती है तो मुद्रा पूर्ति को कम करने की नीति अपनानी होती है, इसलिये बैंक दर को इस आशा से बढ़ा दिया जाता है कि इससे अनावश्यक निवेश क्रियाएँ नियंत्रित होंगी। दूसरी ओर, मंदी की स्थिति में बैंक दर को इस आशा से घटाया जाता है कि यह निवेश क्रियाओं को प्रेरित करेगी और समस्त आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलेगा।

   लेकिन भारत में बैंक दर की प्रभाविता सीमित है। बैंक दर में परिवर्तनों का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। ये केवल रिजर्व बैंक की साख नीति की दिशा को दर्शाते हैं। इसी कारण बैंक दर में परिवर्तनों के साथ लगभग सदा ही साख नियंत्रण की किसी अन्य प्रणाली का भी उपयोग किया जाता है।

2) **खुली बाजार क्रियाएँ (Open market operations) :** यह साख नियंत्रण की ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्ष रूप से बाजार में अपनी क्रियाओं से बैंकों की तरलता की स्थिति को बदलता है। खुली बाजार क्रियाओं में सरकारी प्रतिभूतियों, विदेशी विनिमय, स्वर्ण, बिलों और कम्पनियों के शेयरों का क्रय-विक्रय केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। लेकिन भारत में खुली बाजार क्रियाएँ साधारणतया सरकारी प्रतिभूतियों (जिनमें ट्रेजरी-बिलें भी शामिल हैं) के क्रय-विक्रय तक ही सीमित हैं।

   खुली बाजार क्रियाओं के दो पहलू हैं। पहला है प्रतिभूतियों को खरीदना। जब केन्द्रीय बैंक बैंकों से प्रतिभूतियाँ खरीदता है तो बैंकों के नकद कोष बढ़ जाते हैं और इससे उनकी साख निर्माण की सामर्थ्य बढ़ती है। दूसरा पहलू है प्रतिभूतियों को व्यापारिक बैंकों को बेचना जिससे उनके नकद कोष कम हो जाते हैं। इससे बैंक की साख निर्माण सामर्थ्य कम हो जाती है।

भारत में सरकारी प्रतिभूतियों का बाजार बहुत छोटा है और यह खुली बाजार क्रियाओं पर एक प्रतिबंध है। सरकारी प्रतिभूतियों का एक बड़ा भाग कुछ प्रमुख वित्तीय संस्थाओं के पास होता है और उनके लेन-देन की मात्रा सीमित होती है। इसके अतिरिक्त, ट्रेजरी बिल बाजार के लगभग न होने से रिज़र्व बैंक की सारी खुली बाजार क्रियाएँ केवल सरकारी बांडों तक ही सीमित हैं। सरकारी प्रतिभूतियों का बाजार छोटा होने से रिज़र्व बैंक द्वारा बड़े पैमाने पर खुली बाजार क्रियाओं का कोई भी प्रयत्न अनावश्यक रूप में प्रतिभूतियों की कीमतों को अस्तव्यस्त कर देगा।

3) **कोष संबंधी शर्तें** (Reserve requirements) : केन्द्रीय बैंक कोष संबंधी शर्तों में परिवर्तन करके व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण सामर्थ्य को प्रभावित कर सकता है। यह साख नियंत्रण का एक प्रभावी और प्रत्यक्ष उपकरण है। भारत में रिजर्व बैंक बैंकिंग प्रणाली की तरलता का दो पूरक विधियों से नियमन करता है : (i) नकद कोष अनुपात, और (ii) सांविधिक तरलता अनुपात। व्यापारिक बैंकों पर जमाओं का एक निश्चित प्रतिशत रिज़र्व बैंक के पास नकद कोष के रूप में रखने का सांविधिक दायित्व है। यह नकद कोष अनुपात रिज़र्व बैंक द्वारा निर्धारित किया जाता है और जमाओं के 3 से 15 प्रतिशत के बीच हो सकता है। **जब कभी रिज़र्व बैंक साख के विस्तार पर रोक लगाना चाहता है तो वह नकद कोष अनुपात बढ़ा देता है। विलोमतः, जब साख विस्तार अधिक करना होता है तो नकद कोष अनुपात को घटा दिया जाता है।**

नकद कोष अनुपात की प्रभाविता व्यापारिक बैंकों की अपने पास सरकारी प्रतिभूतियों को तरलता में परिवर्तित करके इसके प्रभाव को समाप्त करने की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। इसलिये नकद कोष अनुपात में परिवर्तन के साथ-साथ सांविधिक तरलता अनुपात में परिवर्तन भी आवश्यक है। भारत में 1962 तक व्यापारिक बैंकों को अपने जमा दायित्वों के विरुद्ध 20 प्रतिशत का तरलता अनुपात बनाये रखना होता था। तरल परिसम्पत्तियों में अपने पास नकदी की राशि, केन्द्रीय बैंक या अन्य बैंकों के पास रखी नकदी, स्वर्ण और भार-रहित अनुमोदित प्रतिभूतियाँ शामिल की जाती थीं। 1962 तक सांविधिक प्रावधान ऐसे थे कि व्यापारिक बैंक कुछ सरकारी प्रतिभूतियों को, जब भी नकद कोष अनुपात बढ़ाया जाता था, नकदी में बदल सकते थे। अतः उनकी साख निर्माण सामर्थ्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इसलिये बैंकिंग विनियमन अधिनियम में संशोधन किया गया जिससे कि इस कमी को दूर किया जा सके। अब सांविधिक रूप से निर्धारित नकद कोष अनुपात के रूप में तरल परिसम्पत्तियाँ रखनी होती हैं और इनमें रोकड़ शेष (cash balance) को शामिल नहीं किया जाता। सांविधिक तरलता अनुपात भी रिज़र्व बैंक द्वारा निर्धारित किया जाता है।

8.4.3 प्रत्यक्ष साख विनियमन (Direct Credit Regulation)

बैंकों के कोषों या साख की लागत पर नियंत्रण के अलावा साख के विनियमन के अन्य उपायों को प्रत्यक्ष साख विनियमन या गुणात्मक साख नियंत्रण कहते हैं। व्यापक रूप से प्रयोग की जाने वाली साख नियंत्रण की गुणात्मक प्रणालियाँ हैं : (i) चयनात्मक साख नियंत्रण, और (ii) नैतिक आग्रह।

साख नियंत्रण की सामान्य या मात्रात्मक प्रणालियाँ सुसंगठित मुद्रा बाजारों में प्रभावी होती हैं लेकिन ये उन देशों में बहुत प्रभावी नहीं होतीं जहाँ मुद्रा बाजार अल्पविकसित हैं। अल्पविकसित मुद्रा बाजारों के लिये गुणात्मक प्रणालियाँ अधिक उपयुक्त हैं क्योंकि ये बैंक के साधनों को राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप अर्थव्यवस्था के विशेष क्षेत्रों में वितरण या निर्देशन को नियमित करने में सहायता करती हैं। वास्तव में, गुणात्मक साख नियंत्रण उपाय सामान्य साख नियंत्रण के पूरक माने जाते हैं और जब इनका सामान्य साख नियंत्रण उपायों के साथ प्रयोग किया जाता है तो ये अधिक प्रभावी होते हैं।

1) **चयनात्मक साख विनियमन** (Selective credit regulation) : रिज़र्व बैंक बैंकिंग विनियमन अधिनियम के अन्तर्गत चयनात्मक साख नियंत्रण का प्रयोग करता है। भारत में चयनात्मक साख नियंत्रण की मुख्य प्रणालियाँ हैं : (i) चुनी हुई वस्तुओं के विरुद्ध ऋण देने की सीमान्त अन्तर शर्तें; (ii) साख की अधिकतम सीमा, और (iii) निर्दिष्ट वस्तुओं के विरुद्ध अग्रिमों पर न्यूनतम ब्याज दर लेना। पहली दो प्रणालियाँ साख की मात्रा को नियंत्रित करती हैं और तीसरी प्रणाली साख की लागत पर प्रभाव द्वारा कार्य करती है। रिज़र्व बैंक द्वारा इन उपकरणों का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है कि ये विशेष स्थितियों की अपेक्षाओं को पूरा करें और साख के प्रवाह को अपेक्षित दिशा दें। विशेष वस्तु के लिये सीमा अन्तर का निर्धारण उस क्षेत्र की बैंक साख की सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से न्यायसंगत आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया जाता है। ऋण देने वाले बैंकों की नियंत्रित वस्तुओं के विरुद्ध ऋण

देने की सामर्थ्य को सीमित करने के लिये अधिकतम सीमाएँ निश्चित की जाती हैं,विशेष क्षेत्रों में साख को बढ़ाने या घटाने के उद्देश्यों को पूरा करने के लिये ब्याज दर प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में इसी प्रणाली के द्वारा कुछ प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को रियायती ब्याज दरों पर साख उपलब्ध कराया जाता है।

2) **नैतिक आग्रह (Moral suasion) : नैतिक आग्रह का आशय केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों को दी जाने वाली उस सलाह से है जो उनके ऋण देने व अन्य कार्यों के बारे में इस आशा से दी जाती है कि उसे माना जाएगा और व्यापारिक बैंक उसी के अनुसार कार्य करेंगे।** नैतिक आग्रह का वस्तु विषय मात्रात्मक हो सकता है यानि एक बैंक द्वारा दी जाने वाली साख की मात्रा निश्चित की जा सकती है। यह गुणात्मक भी हो सकता है यानि बैंकों को सलाह दी जा सकती है कि वे कुछ वस्तुओं के विरुद्ध ऋण न दें क्योंकि इन वस्तुओं में सट्टेबाजी की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। भारत में रिज़र्व बैंक ने इस विधि को काफी उपयोगी पाया है। प्रमुख व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद से नैतिक आग्रह अधिक प्रभावी हो गया है। भारत में नैतिक आग्रह के प्रभावी होने का एक अतिरिक्त कारण यह भी है कि इसे रिज़र्व बैंक की प्रत्यक्ष विनियमन की व्यापक शक्ति से समर्थन मिलता है।

बोध प्रश्न ग

1 भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा प्रयोग किये जाने वाले साख नियंत्रण की तीन मात्रात्मक प्रणालियाँ बताइये।

i) .....

ii) .....

iii) .....

2 भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा प्रयोग की जाने वाली चयनात्मक साख नियंत्रण की तीन विधियाँ बताइये।

i) .....

ii) .....

iii) .....

3 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में से कौन-सा सही है और कौन सा गलत :

i) मुद्रा नीति का तात्पर्य केन्द्रीय बैंक की करेंसी नोटों के निर्गमन की नीति से है।

ii) भारतीय मुद्रा नीति की विशेषता यह है कि यह एक नियंत्रित विस्तार की नीति है।

iii) बैंक दर केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों से उन्हें दिये गये अग्रिमों पर ली गयी ब्याज की दर है।

iv) भारत में बैंक दर नीति साख नियंत्रण की अपेक्षाकृत एक निष्प्रभावी प्रणाली है।

v) खुली बाजार क्रियाओं का आशय केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय करने से हैं।

vi) खुली बाजार क्रियाएँ भारत में काफी प्रभावी है।

vii) भारतीय रिज़र्व बैंक जब नकद कोष अनुपात और सांविधिक तरलता अनुपात का प्रयोग करता है तो ये साख विनियमन के लिये प्रभावी सिद्ध होते हैं।

viii) क्योंकि भारत में मुद्रा बाजार अल्पविकसित है इसलिये इस देश में चयनात्मक साख नियंत्रणों की कोई प्रासंगिकता नहीं है।

ix) रिज़र्व बैंक ने पाया है कि नियमन की व्यापक शक्तियों द्वारा समर्थन से नैतिक आग्रह की प्रणाली काफी उपयोगी सिद्ध हुई है।

8.5 भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति का मूल्यांकन (Appraisal of the Monetary Policy of the RBI)

विकसित देशों में मुद्रा नीति का उद्देश्य साधारणतया कीमत स्थिरता के साथ पूर्ण रोजगार होता

है। लेकिन विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में इसका उद्देश्य रोजगार के ऊँचे स्तर व कीमत स्थिरता के साथ संवृद्धि को इष्टतम करना होता है। भारत जैसे देश में जहाँ हर समय संवृद्धि की दर को तीव्र करने का प्रयत्न किया जाता है, उद्योग, कृषि और व्यापार संबंधी साख की उचित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये साख और मुद्रा पूर्ति का निरंतर विस्तार करना पड़ता है। इसलिये भारतीय रिज़र्व बैंक साख को सीमित करने की नीति नहीं अपना सकता। इन परिस्थितियों में रिज़र्व बैंक की केवल यह जिम्मेवारी है कि वह अनुत्पादक व सट्टेबाजी के लिये साख की उपलब्धता को रोके। **अतः भारतीय रिज़र्व बैंक का यह दावा सही ही है कि इसकी मुद्रा नीति एक नियंत्रित विस्तार की नीति है।**

इस इकाई में आपको पहले बताया जा चुका है कि भारतीय रिज़र्व बैंक के पास साख नियंत्रण के व्यापक अधिकार हैं। ये अधिकार मात्रात्मक और चयनात्मक दोनों प्रकृति के हैं। इस भाग में हम इस बात पर विचार करेंगे कि भारतीय रिज़र्व बैंक ने विकासात्मक नियोजन के 40 वर्षों में मौद्रिक नियंत्रण के इन उपकरणों का कितने प्रभावी तरीके से प्रयोग किया है। हम अपने विश्लेषण को इस अवधि तक इसलिये सीमित कर रहे हैं कि 1951 से पहले भारतीय रिज़र्व बैंक की कोई सुनिश्चित मुद्रा नीति नहीं थी।

विकासात्मक नियोजन का युग 1951 में शुरू हुआ। यह वह समय था जब दुनियां के अधिकांश देश सस्ती मुद्रा नीति का पालन कर रहे थे,जिसका अर्थ था कि बैंक दर नीची रखी गयी थी। 1951 में कोरिया युद्ध से स्फीतिकारी दबाव उत्पन्न हुए और भारतीय रिज़र्व बैंक ने अपनी बैंक दर 3% से बढ़ाकर 3.5% कर दी। पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान मुद्रा पूर्ति (M_3) में वार्षिक वृद्धि केवल 3.4% थी, जो काफी कम थी। लेकिन उत्पादन में वृद्धि से व अर्थव्यवस्था के बढ़ते हुए मुद्रीकरण से उत्पन्न मुद्रा की मांग को पूरा करने के लिये यह पर्याप्त नहीं थी। अतः थोक कीमतों में 2.7% प्रति वर्ष कमी हुई। दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में स्थिति में बहुत परिवर्तन आया। औद्योगीकरण पर अधिक जोर देने व अर्थव्यवस्था को तेजी से आगे बढ़ाने के प्रयत्नों से साख की मांग तेजी से बढ़ी। अतः 1956 से 1961 की अवधि में मुद्रा पूर्ति (M_3) में वार्षिक वृद्धि 8.2 प्रतिशत थी। मुद्रा पूर्ति की वृद्धि को संयत करने के लिये रिज़र्व बैंक ने न केवल मई,1957 में बैंक दर को बढ़ाकर 4% कर दिया बल्कि चयनात्मक साख नियंत्रण का भी प्रयोग किया। तथापि कीमत स्तर 6.3% वार्षिक दर से बढ़ा।

तीसरी योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय में केवल 2.3% वार्षिक वृद्धि हुई लेकिन M_3 में प्रति वर्ष वृद्धि 9.1% हुई। इससे स्फीतिकारी स्थिति उत्पन्न हुई जिसे रिज़र्व बैंक ने बैंक दर बढ़ाकर रोकने का प्रयत्न किया। जनवरी, 1963 में बैंक दर 4.5% कर दी गयी, अक्टूबर,1964 में 5% कर दी गयी और मार्च,1965 में इसे 6% कर दिया गया। 1960 से 1964 तक भारतीय रिज़र्व बैंक ने पुनर्वित्त प्रदान करने की कोटा व स्लैब पद्धति लागू की और 1964 में विभेदक ब्याज दरों की प्रणाली अपनायी। इन दोनों उपकरणों का उद्देश्य साख पर रोक लगाना था। सितम्बर, 1964 में सांविधिक तरलता अनुपात को 20% से बढ़ाकर 25% कर दिया गया। यदि उत्पादन की स्थिति संतोषजनक होती तो ये उपाय प्रभावी सिद्ध होते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाने में असफल होने से साख नियंत्रण उपाय अपनाने के बावजूद मुद्रा की पूर्ति में विस्तार स्फीतिकारी सिद्ध हुआ। 1967-68 में जब पूर्ति की स्थिति उत्पादन के क्षेत्र में प्रोत्साहक परिणामों के कारण सुधरी तब स्फीतिकारी दबाव कम हुए और बैंक दर को 6% से घटाकर 5% कर दिया गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना की अवधि में उत्पादन के क्षेत्र में असफलताओं और सुरक्षा व्यय व शरणार्थी सहायता पर व्यय में वृद्धि से स्फीतिकारी दबाव बढ़े। इस अवधि में मुद्रा की पूर्ति को तीव्र दर से नहीं बढ़ने देना चाहिये था। लेकिन M_3 में प्रति वर्ष वृद्धि 16.2% हुई, जिससे अवश्य ही स्फीतिकारी दबाव बढ़े। फिर भी, रिज़र्व बैंक ने मौद्रिक नियंत्रण के विभिन्न उपाय अपनाये। शुद्ध तरलता अनुपात अप्रैल,1970 में 30% था, इसे जनवरी,1971 में बढ़ाकर 34% कर दिया गया और 1973 में फिर बढ़ाकर 37% कर दिया गया। मई,1973 में बैंक दर को 6% से बढ़ाकर 7% कर दिया गया। नकद कोष अनुपात को 3% से बढ़ाकर 5% किया गया और सितम्बर, 1973 में इसे और बढ़ाकर 7% कर दिया गया। लेकिन ये सभी उपाय स्फीतिकारी दबावों को रोकने में असफल हुए और 1973-74 में थोक कीमतें 20.2% बढ़ीं। पांचवी पंचवर्षीय योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय तो 5.3% वार्षिक दर से बढ़ी लेकिन मुद्रा पूर्ति 17.9% दर से बढ़ी। इससे स्फीतिकारी स्थिति में सुधार नहीं हुआ। अतः न केवल रिज़र्व बैंक ने बैंक दर को 7% से बढ़ाकर 9% कर दिया बल्कि सरकार ने भी राजकोषीय उपाय अपनाये। इन उपायों से कुछ हद तक स्फीतिकारी स्थिति सुधरी और इसने रिज़र्व बैंक को स्फीतिकारी स्थिति के बारे में कुछ हद तक आत्मसंतुष्ट बना दिया। इसके परिणामस्वरूप मुद्रा नीति की मुद्रास्फीति पर पकड़ ढीली हो गयी।

नकद कोष अनुपात को जून,1974 में 7% से घटाकर 5% कर दिया गया और दिसम्बर,1974 में 4% कर दिया गया। ये रियायतें अनावश्यक थीं। 1979-80 में सूखा पड़ा। इस वर्ष राष्ट्रीय आय में 5-5% कमी होने पर भी M_3 की पूर्ति को 17.3% बढ़ने दिया गया। इसके परिणामस्वरूप कीमतें 17.2% बढ़ीं।

छटी योजना की अवधि में मौद्रिक अधिकारियों में आत्मसंतुष्टि झलकी। इस अवधि में राष्ट्रीय आय में 5.3% प्रतिवर्ष वृद्धि होने पर भी कीमतें 9.3% की दर से बढ़ीं। यह M_3 में 16.9% की वार्षिक वृद्धि के कारण हुआ। जुलाई,1981 में बैंक दर को बढ़ाकर 10% करने तथा नकद कोष अनुपात और सांविधिक नकदी अनुपात को 1984 में क्रमशः 9% और 35% निश्चित करने का स्फीतिकारी स्थिति पर नगण्य प्रभाव पड़ा।

सातवीं योजना की अवधि में मुद्रा पूर्ति (M_3) और राष्ट्रीय आय क्रमशः 17.6% और 5.4% दरों से बढ़ी। इसी अवधि में थोक कीमतें 7% वार्षिक दर से बढ़ी। यह दर्शाता है कि रिज़र्व बैंक ने मुद्रा पूर्ति के क्षेत्र में सावधानीपूर्वक कार्य नहीं किया। सातवीं योजना की अवधि में नकद कोष अनुपात कई बार बढ़ाया गया और अन्त में जून 30, 1988 से 11% निश्चित किया गया। सांविधिक तरलता अनुपात भी कई बार बढ़ाया गया और अप्रैल,1987 में इसे 38% निश्चित किया गया। ये तथा इनके साथ चयनात्मक साख नियंत्रण उपाय सामान्य कीमत स्तर में स्थिरता लाने में अप्रभावी सिद्ध हुए। 1990-91 में स्फीतिकारी स्थिति काबू से बाहर हो गयी क्योंकि थोक कीमतों में लगभग 12% वृद्धि हुई। इस अवधि में रिज़र्व बैंक ने कीमत वृद्धि को रोकने के लिये कोई खास उपाय नहीं किये। सितम्बर,1990 में केवल सांविधिक तरलता अनुपात को बढ़ाकर 38.5% कर दिया।

सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति कमजोर रही है। ऐसा लगता है कि हर समय मौद्रिक नियंत्रण के कठोर उपाय अपनाने में झिझक रही है। यह संभव है कि रिज़र्व बैंक की प्रभावी उपाय अपनाने की दुविधा का कारण यह रहा हो कि कठोर साख नियंत्रण उपायों के अपनाने से संवृद्धि दर में कमी होने का खतरा होता है।

बोध प्रश्न घ

1 भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति एक वाक्य में बताइये।

.....

.....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

i) भारत में मुद्रा नीति का सारा जोर साख को सीमित करने पर नहीं हो सकता।

ii) अपनी स्थापना के बाद पहले 16 वर्षों में रिज़र्व बैंक ने अन्य केन्द्रीय बैंकों की भाँति सस्ती मुद्रा नीति अपनायी।

iii) पहली योजना की अवधि में मुद्रा पूर्ति में वृद्धि दो अंकों में थी, जिससे स्फीतिकारी स्थिति पैदा हुई।

iv) दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में M_3 में वार्षिक वृद्धि 8.2% थी।

v) तीसरी योजना की अवधि में M_3 में 9.1% वार्षिक वृद्धि अधिक नहीं थी क्योंकि इस अवधि में उत्पादन के क्षेत्र में अर्थव्यवस्था की स्थिति बहुत अच्छी थी।

vi) चौथी योजना की अवधि में मुद्रास्फीति को रोकने के लिये भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा अपनाये गये विभिन्न उपाय अप्रभावी सिद्ध हुए।

vii) पांचवी योजना की अवधि में M_3 में वार्षिक वृद्धि दर 17.9% थी।

viii) जब रिज़र्व बैंक ने 1979-80 में M_3 में 17.3% वृद्धि की अनुमति दी तो उसकी मुद्रा नीति पूर्णतया विवेकहीन नहीं थी।

ix) भारत में छठी योजना की अवधि में मौद्रिक अधिकारी स्फीतिकारी दबावों के प्रति कुछ आत्मसंतुष्ट से थे।

x) सातवीं योजना के दौरान रिज़र्व बैंक द्वारा अपनाये गये साख नियंत्रण संबंधी विभिन्न उपाय काफी प्रभावी सिद्ध हुए क्योंकि इस अवधि में कीमतें स्थिर रहीं।

8.6 सारांश

भारतीय रिज़र्व बैंक की भारत के केन्द्रीय बैंक के रूप में स्थापना 1 अप्रैल, 1935 को हुई। यह मूलतः शेयरहोल्डरों के बैंक के रूप में स्थापित किया गया था लेकिन 1949 में इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

रिज़र्व बैंक केन्द्रीय बैंक के परम्परागत और विकासात्मक व प्रवर्तन दोनों कार्य करता है। इसके परम्परागत कार्य हैं : i) करेंसी नोटों का निर्गमन करना, ii) सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करना, iii) बैंकरों के बैंक के रूप में कार्य करना, iv) बैंक का नियंत्रण व पर्यवेक्षण करना, v) विदेशी विनिमय का प्रबन्ध व नियंत्रण करना, और vi) साख नियंत्रण करना।

भारत में आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य स्थिरता के साथ संवृद्धि है और रिज़र्व बैंक की नीतियाँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये निदेशित की जाती हैं। रिज़र्व बैंक के विकासात्मक व प्रवर्तन कार्यों में औद्योगिक व कृषि वित्त की विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना के संबंध में रिज़र्व बैंक का ध्यान विशेष रूप से गया है।

रिज़र्व बैंक द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कार्यों में नोट निर्गमन का कार्य सबसे महत्वपूर्ण है। रिज़र्व बैंक नोट निर्गमन का कार्य अपने निर्गमन विभाग और बैंकिंग विभाग के जरिये करता है। जब कभी मुद्रा की मांग होती है, बैंकिंग विभाग उपयुक्त परिसम्पत्तियाँ निर्गमन विभाग को देकर मुद्रा प्राप्त करता है। जिन परिसम्पत्तियों के विरुद्ध मुद्रा दी जाती है वे हैं : स्वर्ण, विदेशी प्रतिभूतियाँ, 1 रु. के सिक्के और भारत में देय विनिमय पत्र व वचन पत्र। इस समय करेंसी निर्गमन के विरुद्ध स्वर्ण और विदेशी प्रतिभूतियों के कोष 200 करोड़ रु. से कम नहीं हो सकते और किसी भी स्थिति में इसमें से स्वर्ण कोष 115 करोड़ रु. से कम नहीं हो सकता।

योजना अवधि के दौरान रिज़र्व बैंक का प्रयास रहा है कि आर्थिक संवृद्धि की गति को बनाये रखने के लिये आवश्यक मुद्रा और साख की पर्याप्त पूर्ति सुनिश्चित किया जा सके परन्तु साथ ही साथ अनावश्यक स्फीतिकारी दबाव भी पैदा न हो। यह नीति बहुधा 'नियंत्रित विस्तार' की नीति कही जाती है। रिज़र्व बैंक साख नियंत्रण के सभी उपकरणों, मात्रात्मक व गुणात्मक दोनों ही का प्रयोग कर सकता है। लेकिन भारत में बिलों व प्रतिभूतियों के बाजारों के पर्याप्त विकास के अभाव में बैंक दर नीति और खुली बाजार क्रियाएँ बहुत प्रभावी नहीं हैं। इसलिये, रिज़र्व बैंक नकद कोष अनुपात और सांविधिक तरलता अनुपात में परिवर्तनों पर अधिक भरोसा करता है। भारत में गुणात्मक साख नियंत्रण अधिक उपयुक्त हैं क्योंकि ये बैंक के साधनों को अर्थव्यवस्था के विशेष क्षेत्रों में वितरण व दिशा का विनियमन करते हैं। रिज़र्व बैंक ने यह भी महसूस किया कि इसके साख विनियमन के व्यापक अधिकारों के कारण नैतिक आग्रह काफी प्रभावी सिद्ध हुए हैं।

रिज़र्व बैंक के पास मौद्रिक विनियमन के सभी संभव उपकरण हैं फिर भी इसकी वास्तविक मुद्रा नीति कमजोर रही है। पिछले बीस वर्षों में मुद्रा की पूर्ति (M_3) 15% से अधिक की वार्षिक दर से बढ़ी है जबकि राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि पर 4.1% रही। इससे स्फीतिकारी स्थिति पैदा हुई। रिज़र्व बैंक द्वारा इसे रोकने के लिये अपनाये गये उपाय पर्याप्त नहीं रहे हैं।

8.7 शब्दावली

बैंक दर (Bank Rate) : ब्याज की वह दर जिस पर केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को अग्रिम देता है या उनके बिलों पर पुनर्बट्टा काटता है।

नकद कोष अनुपात (Cash Reserve Ratio) : नकद कोष और बैंक की कुल जमाओं का अनुपात।

करेंसी तिजोरी (Currency Chest) : वे पात्र जिनमें निर्गमन योग्य नोट स्टोर किये जाते हैं।

विनिमय नियंत्रण (Exchange Control) : विदेशी विनिमय संबंधी सभी लेन-देनों पर मौद्रिक प्राधिकरण का नियंत्रण।

नोट निर्गमन की न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System of Note Issue) : नोट निर्गमन की एक प्रणाली जिसमें नोट निर्गमन के समर्थन में कोष की एक न्यूनतम राशि स्वर्ण व विदेशी प्रतिभूतियों में रखनी आवश्यक है।

मुद्रा पूर्ति (M_3) (Money Supply) : मुद्रा की पूर्ति + बैंकों के पास की सभी जमाएँ।

नैतिक आग्रह (Moral Suasion) : व्यापारिक बैंकों से यह आग्रह करके कि वे कुछ प्रतिबंधक नीति अपनायें, उनकी ऋण प्रदान करने की क्रियाओं पर दबाव डालने का केन्द्रीय बैंक का उपकरण।

खुली बाजार क्रियाएँ (Open Market Operations) : उपयुक्त प्रतिभूतियों का केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार में क्रय-विक्रय।

नोट निर्गमन की आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System of Note Issue) : नोट निर्गमन की प्रणाली जिसमें नोट निर्गमन के समर्थन के लिये कोषों का एक निश्चित प्रतिशत स्वर्ण व विदेशी प्रतिभूतियों में होना आवश्यक होता है।

चयनात्मक साख नियंत्रण (Selective Credit Control) : वह साख नियंत्रण जो बैंक के साधनों के वितरण व दिशा को विभिन्न क्षेत्रों में नियमित करता है

सांविधिक तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio) : तरल परिसम्पत्तियों और कुल मांग व समय दायित्वों का सांविधिक रूप से निर्धारित अनुपात।

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1 i) सही ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही
vi) गलत vii) सही viii) गलत ix) गलत x) गलत

ख 1 i) आनुपातिक कोष प्रणाली ii) न्यूनतम कोष प्रणाली

2 i) सही ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही
vi) गलत vii) सही viii) सही ix) सही x) गलत

ग 1 i) बैंक दर नीति ii) खुली बाजार क्रियाएँ iii) कोष अनुपात परिवर्तन

2 i) सीमान्त अन्तर की शर्तों में परिवर्तन
ii) साख की अधिकतम सीमा
iii) कुछ अग्रिमों पर न्यूनतम ब्याज दर लेना

3 i) गलत ii) सही iii) सही iv) सही v) सही
vi) गलत vii) सही viii) गलत ix) सही

घ 1 भारतीय रिजर्व बैंक की मुद्रा नीति की विशेषता यह एक नियंत्रित विस्तार की नीति है।

2 i) सही ii) सही iii) गलत iv) सही v) गलत
vi) गलत vii) सही viii) गलत ix) सही x) गलत

8.9 स्वपरख प्रश्न

1 भारतीय रिज़र्व बैंक के विभिन्न कार्यों का विवेचन कीजिये।

2 भारत में नोट निर्गमन प्रणाली समझाइये।

3 रिज़र्व बैंक द्वारा अपनायी गयी साख नियंत्रण विधियाँ समझाइये। इनके सापेक्षिक महत्व भी बताइये।

4 भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति को बहुधा नियंत्रित विस्तार की नीति क्यों कहा जाता है।

5 विकासात्मक नियोजन के 40 वर्षों की रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

नोट : ये प्रश्न/अभ्यास इस इकाई को बेहतर ढंग से समझने में आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अपने अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 9 भारतीय मुद्रा बाजार

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 मुद्रा बाजार क्या है?
9.3 भारतीय मुद्रा बाजार की संरचना
9.4 भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताएँ
  9.4.1 विकसित मुद्रा बाजार के लक्षण
  9.4.2 भारतीय मुद्रा बाजार की प्रकृति
9.5 भारतीय मुद्रा बाजार की समस्याएँ
  9.5.1 समस्याओं की प्रकृति
  9.5.2 समस्याओं का हल करने में भारतीय रिज़र्व बैंक की भूमिका
  9.5.3 सुधार के लिये सुझाव
9.6 सारांश
9.7 शब्दावली
9.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
9.9 स्वपरख प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- मुद्रा बाजार की परिभाषा दे सकें
- मुद्रा बाजार और पूंजी बाजार में भेद कर सकें और एक आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा बाजार की भूमिका और महत्व समझा सकें
- भारतीय मुद्रा बाजार के संघटकों को बता सकें
- भारतीय मुद्रा बाजार की वे कमियाँ बता सकें जो इसे अल्पविकसित मुद्रा बाजार बनाती हैं
- भारतीय मुद्रा बाजार की कमियों को दूर करने के लिये भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा शुरू किये गये उपायों की सूची बना सकें।

9.1 प्रस्तावना

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में वित्तीय बाजारों और संस्थाओं का महत्व बहुत बढ़ गया है क्योंकि वित्त आधुनिक व्यापार का एक अभिन्न अंग और आर्थिक विकास का एक आवश्यक संघटक बन गया है। वित्तीय बाजार विभिन्न प्रकार की वित्तीय परिसम्पत्तियों और साख उपकरणों का व्यापार करते हैं जैसे कि मुद्रा, जमाएँ, चैक, विनिमय पत्र और बाँड आदि। वित्तीय बाजार वास्तव में साख बाजार हैं। वे एक ओर तो व्यक्तियों, संस्थाओं और फर्मों की साख आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और दूसरी ओर अर्थव्यवस्था में बचतों के संग्रहण में सहायता करते हैं।

वित्तीय बाजारों की संरचना का अध्ययन तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है : (1) कार्यात्मक, (2) संस्थानात्मक, और (3) क्षेत्रीय। कार्यात्मक वर्गीकरण साख की अवधि पर आधारित है (यानि अल्पकालीन या दीर्घकालीन साख), संस्थानात्मक वर्गीकरण संगठन की प्रकृति पर आधारित है (यानि संगठित या असंगठित मुद्रा बाजार); और क्षेत्रीय वर्गीकरण विभिन्न क्षेत्रों जैसे कृषि, व्यापार, उद्योग आदि की साख व्यवस्था पर आधारित है।

वित्तीय बाजारों के कार्यात्मक वर्गीकरण के आधार पर अल्पकालीन साख में व्यापार करने वाले बाजार **मुद्रा बाजार (money market)** होते हैं और दीर्घकालीन साख का प्रबन्ध करने वाले बाजार **पूँजी बाजार (capital market)** होते हैं। इस इकाई में आप भारत में मुद्रा बाजार की

प्रकृति, संरचना और इसकी कमियों के बारे में अध्ययन करेंगे। आप उन उपायों का भी अध्ययन करेंगे जो सरकार ने इनके सुधारने के लिये किये हैं।

9.2 मुद्रा बाजार क्या है?

मुद्रा बाजार का तात्पर्य वित्तीय संस्थाओं के बिछे उस पूरे जाल से है जो अल्पकालीन कोषों का लेनदेन करती है और ऋणदाता को एक बाजार तथा ऋण लेने वाले को कोषों की सप्लाई का एक स्रोत प्रदान करती है। अल्पावधि एक दिन से लेकर कुछ महीने तक की हो सकती है। **विभिन्न प्रकार के उधार-पत्रों (credit instruments) जैसे कि विनिमय पत्रों अल्पकालीन प्रतिभूतियों, वचनपत्रों और अल्पावधि के लिये लिखी सरकारी हुण्डियों आदि के विरुद्ध उधार लिये गये कोषों को मुद्रावत् (near money) कहते हैं।** इस प्रकार मुद्रा बाजार शब्द भ्रामक हो सकता है क्योंकि यह मुद्रा या नकदी में लेनदेन नहीं करता बल्कि मुद्रावत् परिसम्पत्तियों में लेनदेन करता है।

मुद्रा बाजार का सविस्तार प्रतिपादन करते हुए भारतीय रिज़र्व बैंक ने इसका वर्णन इस रूप में किया है, **"यह मुख्यतया अल्पकालीन प्रकृति की मौद्रिक परिसम्पत्तियों के क्रय-विक्रय का केन्द्र होता है। यह ऋण लेने वालों की अल्पकालीन आवश्यकताओं को पूरा करता है और उन्हें तरलता या नकदी को ऋण देने वालों के द्वारा प्रदान करता है। यह वह स्थान है जहाँ ऋण लेने वाली संस्थाओं, व्यक्तियों तथा सरकार द्वारा वित्तीय तथा अन्य संस्थाओं और व्यक्तियों के पास अल्पकालीन निवेश-योग्य अतिरेक कोष प्राप्त किये जाते हैं।"**

अल्पकालीन कोषों की मांग सरकार, व्यापारिक प्रतिष्ठान और निजी व्यक्ति करते हैं। सरकार को चालू घाटों को पूरा करने के लिये अल्पकालीन कोषों की आवश्यकता होती है। फर्मों को कार्यशील पूँजी के लिये और अतिरिक्त स्टॉक रखने के लिये कोषों की आवश्यकता होती है। अन्य महत्वपूर्ण ऋण लेने वालों में शेयर बाजार के दलाल, विनिर्माता, व्यापारी आदि आते हैं। ऋण दिये जाने वाले कोषों की सप्लाई अधिकांशतः देश का केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाएँ करती हैं।

मुद्रा बाजार पूँजी बाजार से भिन्न होता है। पूँजी बाजार का संबंध दीर्घकालीन निवेश योग्य कोषों की मांग और पूर्ति से होता है जबकि मुद्रा बाजार का संबंध अल्पकालीन कोषों से होता है। पूँजी बाजार बाँडों, स्टॉकों, और निगमों के शेयरों का लेनदेन करता है और दीर्घावधि के लिये साख का वचन देता है जबकि मुद्रा बाजार अल्पकालीन आवश्यकताओं को पूरा करता है,जैसे कि व्यापारिक संस्थाओं की कार्यशील पूँजी की आवश्यकताएँ, व्यक्तिगत ऋण और सरकार के अल्पकालीन दायित्व। तथापि इन दोनों बाजारों में निकट का संबंध है और ये कुछ हद तक परस्परवादी भी हैं क्योंकि वे ही संस्थाएँ बहुत बार दोनों प्रकार के ऋणों का लेनदेन करती हैं।

बोध प्रश्न क

1 रिक्त स्थानों को भरिये।

i) मुद्रा बाजार ..... कोष प्रदान करता है।

ii) मुद्रा बाजार में कोष ..... के विरुद्ध उधार लिये जाते हैं।

iii) मुद्रा बाजार और पूँजी बाजार में अन्तर ..... वर्गीकरण पर आधारित है।

2 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

i) मुद्रा बाजार का लेनदेन करता है।

ii) पूँजी बाजार मुद्रा बाजार का एक भाग है।

iii) मुद्रा बाजार और पूँजी बाजार एक दूसरे से निकट से संबंधित हैं।

iv) वित्तीय बाजार और साख बाजार वास्तव में एक ही हैं।

क्षेत्र, और (3) सहकारी क्षेत्र। तकनीकी रूप में सहकारी क्षेत्र को संगठित क्षेत्र का ही एक भाग माना जा सकता है।

1) **संगठित क्षेत्र** : इस क्षेत्र में भारतीय रिज़र्व बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और इसके सहयोगी, विदेशी विनिमय बैंक, राष्ट्रीयकृत बैंक, सभी अनुसूचित और गैर-अनुसूचित व्यापारी बैंक तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक आते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ गैर-बैंकिंग कम्पनियाँ और वित्तीय संस्थाएँ जैसे भारतीय सामान्य बीमा कम्पनी (General Insurance Company), यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया, जीवन बीमा निगम भी संगठित मुद्रा बाजार में कार्य करती हैं। चिट फंड और डाक खाना बचत बैंक की भी महत्वपूर्ण भूमिका है, खासतौर से छोटे शहरों और अर्द्धशहरी क्षेत्रों में।

2) **असंगठित क्षेत्र** : मुद्रा बाजार के इस भाग में देशी बैंकर और महाजन आते हैं जिन्हें देश के विभिन्न भागों में सेठ, शराफ़, चेटियार आदि कहा जाता है। बहुत से देशी बैंकर बैंकिंग व्यवसाय के साथ-साथ व्यापार और कमीशन का कार्य भी करते हैं,जबकि इनमें से कुछ अन्य बैंकिंग व्यवसाय ही करते हैं। देशी बैंकर हुण्डियों और वचन पत्रों का लेन देन करते हैं। देश के अन्दर के व्यापार का लगभग 50 प्रतिशत वित्त के लिये असंगठित क्षेत्र पर निर्भर करता है।

3) **सहकारी क्षेत्र** : सहकारी क्षेत्र मुद्रा बाजार के संगठित और असंगठित भागों के लगभग बीच में आता है। इस क्षेत्र में मुख्यतया सहकारी बैंक, ग्रामीण बैंक और सहकारी साख समितियाँ आती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण साख के देशीय स्रोतों को बढ़ाना है। ये किसानों, बुनकरों, ग्रामीण शिल्पियों आदि को उनकी उत्पादन और विपणन क्रियाओं के लिये वित्त प्रदान करते हैं।

मुद्रा बाजार बहुत सी वित्तीय एजेन्सियों से बनता है जो संगठित क्षेत्र में भी विभिन्न प्रकार की अल्पकालीन साख का व्यापार करते हैं। अब हम मुद्रा बाजार के निम्नलिखित महत्वपूर्ण संघटकों पर विचार करेंगे :

1) **मांग मुद्रा बाजार (Call money market) :** यह विकसित मुद्रा बाजार का एक भाग है जो बहुत कम अवधि के लिये साख सुविधा प्रदान करता है। यह अवधि किसी भी स्थिति में 7 दिन से अधिक की नहीं हो सकती। यह मुद्रा बाजार के संगठित क्षेत्र का बहुत सक्रिय और संवेदी भाग है। बिलों और स्टॉक के दलाल प्रायः व्यापारिक बैंकों से मांग ऋण लेते हैं और इनके लिये कोई संपार्श्विक प्रतिभूति (collateral security) नहीं मांगी जाती। परन्तु भारत में अन्तर-बैंक मांग मुद्रा का आम प्रचलन है। अनुसूचित और गैर-अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के अलावा, विदेशी बैंक, सहकारी बैंक, जीवन बीमा निगम, और यूनिट ट्रस्ट जैसी अन्य वित्तीय संस्थाओं ने भी मांग मुद्रा बाजार में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया है।

2) **बिल बाजार (Bills market) :** बिल बाजार, जिसे इंग्लैंड में बट्टा बाजार कहते हैं, एक उप-बाजार है जिसमें अल्पकालीन बिलों का क्रय-विक्रय किया जाता है। सबसे महत्वपूर्ण किस्म के बिल ट्रेजरी बिल, बैंक बिल और व्यापारिक बिल होते हैं, जिनकी अवधि 91 दिन की होती है। क्योंकि ये बिल मूलतः उत्तर-दिनांकित चैक होते हैं अतः इन्हें मुद्रा बाजार में आसानी से भुनाया जा सकता है। भारत में कोई विकसित बिल बाजार नहीं है यद्यपि बड़े बैंक अपने प्रतिष्ठित ग्राहकों के बिलों का बट्टा काटकर भुगतान करते हैं।

3) **स्वीकृति बाजार (Acceptances market) :** स्वीकृति बाजार का आशय बैंकरों की स्वीकृतियों के बाजार से है जो आन्तरिक व विदेशी व्यापार में लगा होता है। स्वीकृति गृह जिन पर निर्यातकों और आयातकों दोनों को विश्वास होता है, एजेन्ट के रूप में कार्य करते हैं। इस सेवा के लिये उन्हें आयातकों और निर्यातकों दोनों से कमीशन मिलता है। स्वीकृति बाजार समय पर भुगतान की गारंटी देकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता करता है और विदेशी व्यापार में जोखिम को कम करता है। बिल स्वीकृति गृह पर लिखा जाता है, आयातक पर नहीं जिससे कि बिल पर अपेक्षाकृत कम ब्याज दर पर आसानी से बट्टा कटवाया जा सकता है।

4) **संपार्श्विक ऋण बाजार (Collateral loan market) :** जब ऋण संपार्श्विक प्रतिभूतियों पर दिये जाते हैं,जैसे कि स्टॉक, बॉंड, माल आदि तो इन ऋणों को समपार्श्विक ऋण कहते हैं। मुद्रा बाजार में प्रमुख ऋणदाता व्यापारिक बैंक होते हैं। ऋण लेने वाले ये ऋण नकद साखों और ओवरड्राफ्टों के रूप में लेते हैं।

यह ध्यान रखिये कि विभिन्न उप बाजारों को मिलाकर एक बाजार बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिये, मांग ऋण उनके द्वारा लिये जाते हैं जो बट्टा बाजार में लेन देन करते हैं और

उनमें से बहुत से जो कि बिलों पर बट्टा काटते हैं स्वीकृति गृहों के रूप में भी कार्य करते हैं। इन संस्थाओं के अतिरिक्त, मुद्रा बाजार में देश का केन्द्रीय बैंक भी शामिल होता है। यह एक शिखर संस्था है और मुद्रा बाजार का अग्रणी है जो मुद्रा बाजार की सारी क्रियाओं का नियंत्रण और मार्गदर्शन करता है।

9.4 भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताएँ

9.4.1 विकसित मुद्रा बाजार के लक्षण

जो मुद्रा बाजार निम्नलिखित शर्तों को पूरा करता है उसे विकसित मुद्रा बाजार माना जाता है :

1) बहुत ही संगठित व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली।
2) कुशल केन्द्रीय बैंक का होना।
3) परक्राम्य प्रतिभूतियों जैसे कि विनिमय पत्र, ट्रेजरी बिल, अल्पकालीन सरकारी बॉंड आदि की निरंतर सप्लाई।
4) बहुत से उप-बाजारों का होना, जिनमें से प्रत्येक की एक विशेष प्रकार की अल्पकालीन परिसम्पत्ति में विशिष्टता हो। जितने अधिक उप-बाजार होंगे उतनी ही अधिक विस्तृत और विकसित मुद्रा बाजार की संरचना होगी।
5) इसके अतिरिक्त, उप-बाजारों को मिलाकर एक समन्वित संरचना बननी चाहिये जिसमें मुद्रा बाजार के प्रत्येक भाग का एक दूसरे से गहरा संबंध हो। यह विभिन्न उप-बाजारों में ब्याज दरों में एकरूपता सुनिश्चित करने के लिये और कोषों के मुक्त प्रवाह के लिये आवश्यक है।

दुनियां में बहुत अधिक संख्या में विकसित मुद्रा बाजार नहीं है जिनमें कि ये सभी विशेषताएँ हों। लंदन और न्यूयार्क मुद्रा बाजार विकसित मुद्रा बाजार के सबसे अच्छे उदाहरण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्रों के अन्य उदाहरण पैरिस, ज्यूरिच, फ्रैंकफर्ट, एमेस्टरडम और वियना हैं जिनमें विकसित मुद्रा बाजार की अधिकांश विशेषताएँ हैं।

9.4.2 भारतीय मुद्रा बाजार की प्रकृति

भारतीय मुद्रा बाजार बहुत संगठित और समन्वित नहीं है, इसलिये इसे आंत विकसित मुद्रा बाजार की श्रेणी में नहीं डाला जा सकता। वास्तव में इसमें दो श्रेणियों की वित्तीय एजेन्सियाँ हैं : (1) संगठित और (2) असंगठित भाग। संगठित क्षेत्रक में अच्छी तरह स्थापित व व्यवस्थित वित्तीय संस्थाएँ हैं जबकि असंगठित क्षेत्र में ऐसी एजेन्सियाँ हैं जिनकी नीतियों में विविधता है तथा ऋण देने के व्यवसाय में एकरूपता और सामंजस्य का अभाव है। इन दोनों भागों के बीच में डाक घर,बचत बैंक और सहकारी बैंक हैं।

1) **संगठित खण्ड** : इसके शिखर पर भारतीय रिज़र्व बैंक है जो मुद्रा बाजार का अग्रणी है और बैंकिंग क्षेत्र को नियंत्रित करता है। इसके अतिरिक्त इसमें संयुक्त पूँजी व्यापारिक बैंक हैं जो दो प्रकार के हैं : (i) अनुसूचित बैंक और (ii) गैर-अनुसूचित बैंक। जुलाई,1969 से भारत के सभी बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक ऑफ इंडिया व इसके सहयोगी बैंक भी केन्द्रीय सरकार के स्वामित्व में हैं। सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंक संगठित बैंकिंग प्रणाली के वित्त के लगभग 90% को नियंत्रित करते हैं। 15 विदेशी बैंक भी हैं। इन सबके अतिरिक्त, डाकघर बचत बैंक, सहकारी बैंक, ग्रामीण बैंक और चिट फण्डों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। ये बचतों का संग्रहण करते हैं और छोटे धारकों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, खास तौर से अर्द्ध-शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में।

2) **असंगठित खण्ड** : इसमें देशी बैंकर, महाजन व अपंजीकृत चिट फंड आते हैं। भारत में 2,500 से अधिक देशी बैंकर हैं जो कृषि वित्त का लगभग 50% प्रदान करते हैं। देशी बैंकरों और महाजनों की वित्तीय क्रियाएँ अधिकतर छोटे शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित हैं जहाँ आधुनिक बैंकिंग सुविधाओं का अभाव है। ये बड़े शहरो में भी बहुत सीमित रूप में कार्य करते हैं। ये मूलतः कोषों की स्थानीय मांग को पूरा करते हैं और ये सामान्यतया उन लोगों को संपार्श्विक प्रतिभूतियों पर ऋण देते हैं जिन्हें ये व्यक्तिगत रूप से जानते हैं जिससे कि जोखिम न्यूनतम हो जाए।

अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय मुद्रा बाजार न तो अच्छी तरह संगठित है और न ही समन्वित तथा समरूप है। भारतीय मुद्रा बाजार के कुछ मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :

1) **द्विविधता (Duality) :** भारतीय मुद्रा बाजार के दो खण्ड हैं : संगठित और असंगठित क्षेत्रक। पहले में आधुनिक, सुसंगठित और कुशलतापूर्वक चलने वाली वित्तीय संस्थाएँ आती हैं,जैसे कि भारतीय रिज़र्व बैंक, निजी और सार्वजनिक क्षेत्रक के अनुसूचित और गैर-अनुसूचित बैंक और विदेशी बैंक। डाकघर बचत बैंक और सहकारी बैंक मुद्रा बाजार के संगठित और असंगठित क्षेत्रकों के बीच में आते हैं। असंगठित क्षेत्रक में बिखरे हुए देशी बैंकर, महाजन व चिट फण्ड आदि आते हैं जिनमें कुशल संगठन का अभाव है।

2) **सरकारी और अर्द्ध सरकारी प्रतिभूतियों का आधिक्य :** भारत में बिल बाजार, जो मुद्रा बाजार के संगठित क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण और अत्यन्त संवेदी भाग है, भी अल्पविकसित है। विकसित देशों की तुलना में इस देश में व्यापारिक बिलों की बहुत कमी है। अतः क्रय-विक्रय की जाने वाली प्रतिभूतियों में बहुत बड़ा भाग सरकारी और अर्द्ध सरकारी प्रतिभूतियों का होता है।

3) **बट्टा गृहों का अभाव :** भारतीय मुद्रा बाजार में स्वीकृति गृहों और बट्टा गृहों का लगभग पूर्ण अभाव है। इसका कारण व्यापारिक बिलों की कमी है जिससे उनका कोई बाजार नहीं है। भारत में व्यापारी कुशलता पूर्वक लिखे विनिमय पत्रों के बजाय हुण्डियों का प्रयोग करते हैं।

4) **कोषों का मौसमी अभाव और ब्याज दरों में उतार-चढ़ाव :** भारतीय अर्थव्यवस्था मूलतः एक कृषि अर्थव्यवस्था है और इसका भारतीय मुद्रा बाजार पर प्रभाव पड़ता है। भारत में कोषों की मांगों के तेजी और मंदी के समय आते हैं। तेजी की स्थिति कृषि-उत्पादों के उत्पादन व विपणन क्रियाओं के समय होती है। इसके लिये अक्टूबर/नवम्बर से अप्रैल/मई तक अतिरिक्त कोषों की आवश्यकता होती है जिससे मुद्रा का अभाव हो जाता है और इस कारण तेजी के समय ब्याज दरें ऊँची हो जाती हैं तथा मंदी के समय ब्याज दरें कम हो जाती हैं।

5) **सीमित बैंकिंग सुविधाएँ :** 1969 में भारत में 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण से पहले लगभग प्रति 65,000 व्यक्तियों के लिये बैंक की केवल एक शाखा होती थी और अधिकांश बैंक केवल बड़े शहरों में थे। छोटे शहरों व गाँवों में लगभग कोई बैंक नहीं था। पिछले 20 वर्षों में शाखा विस्तार से स्थिति में सुधार हुआ है। कुछ बैंकिंग सुविधाएँ ग्रामीण क्षेत्रों व छोटे शहरों तक पहुँची तो हैं लेकिन ये अपर्याप्त हैं।

6) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों से अलगाव :** भारतीय मुद्रा बाजार विदेशी बाजारों से लगभग अलग रहा है। कोषों का भारतीय मुद्रा बाजार और विदेशी बाजारों के बीच मुश्किल से ही कोई प्रवाह रहा होगा। यह स्थिति अंशतः पूँजी प्रवाहों पर विनिमय नियंत्रण प्रतिबन्ध के कारण है और अंशतः भारतीय मुद्रा बाजार की अल्प विकसित प्रकृति के कारण रही है।

बोध प्रश्न ख

1 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

i) भारतीय मुद्रा बाजार एक सुसंगठित बाजार है।

ii) सभी गैर-बैंकिंग कम्पनियाँ भारतीय मुद्रा बाजार के असंगठित क्षेत्रक का एक भाग हैं।

iii) अल्पकालीन बिल तत्वतः उत्तर-दिनांकित चैक हैं इसलिये इनका पैसा आसानी से बट्टे पर प्राप्त किया जा सकता है।

iv) स्वीकृत गृह एजेन्टों के रूप में कार्य करते हैं जिनमें या तो आयातक का या निर्यातक का पूरा विश्वास होता है।

v) भारतीय मुद्रा बाजार विदेशी बाजारों से लगभग अलग रहा है।

2 निम्नलिखित में से भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य लक्षण कौन से हैं?

i) सरकारी और अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियों का आधिक्य

ii) बहुत संगठित व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली

iii) बहुत से उप-बाजारों का होना जिनमें से प्रत्येक एक विशेष प्रकार की अल्पकालीन परिसम्पत्ति का लेनदेन करता है

iv) द्विविधता होना

9.5 भारतीय मुद्रा बाजार की समस्याएँ

9.5.1 समस्याओं की प्रकृति

संगठन और विकास दोनों ही दृष्टि से भारतीय मुद्रा बाजार दुनियां के किसी विकसित मुद्रा बाजार जैसे लंदन या न्यूयार्क मुद्रा बाजार से तुलनीय नहीं है। इन विकसित मुद्रा बाजारों के साधनों की मात्रा, स्थिरता और लोच से भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती। इसमें बहुत सी कमियाँ हैं जिनमें से निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण हैं :

1) **एकीकरण का अभाव** : अपनी आर्थिक क्रियाओं में भारतीय मुद्रा बाजार के संगठित और असंगठित क्षेत्रक एक दूसरे से पूर्णतया अलग हैं। भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न संघटकों में सहयोग और समन्वय के बजाय प्रतिस्पर्धा अधिक है। व्यापारिक बैंक सहयोग करनें की बजाय आपस में प्रतिस्पर्धा करते हैं। भारतीय रिज़र्व बैंक का देशी बैंकरों पर कोई प्रभावी नियंत्रण नहीं है क्योंकि ये संगठित बैंकिंग प्रणाली द्वारा प्रदान की जाने वाली पुनर्बट्टा सुविधा का यदा-कदा ही उपयोग करते हैं। इससे भारतीय रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति (खास तौर से बैंक दर) पूर्णतया प्रभावहीन हो गयी है। इसके अतिरिक्त वास्तव में कोई अखिल भारतीय मुद्रा बाजार नहीं है, केवल उचित रूप में विकसित स्थानीय मुद्रा बाजार हैं।

2) **ब्याज दरों में अन्तर** : भारत के विभिन्न भागों में एक सी ब्याज दरें नहीं हैं यानि मुद्रा बाजार के विभिन्न भागों में ऊँची व नीची दोनों तरह की ब्याज दरें एक साथ मौजूद होती हैं। कार्य के स्थान, प्रस्तुत की जाने वाली प्रतिभूतियों की किस्मों, अग्रिमों की प्रकृति और प्रतियोगिता के आधार पर बैंकों द्वारा ली जाने वाली ब्याज दरों में भी बहुत अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त मंदी के समय की तुलना में व्यस्त समय में ब्याज दरें हमेशा ऊँची होती है। भारतीय मुद्रा बाजार का एक अन्य लक्षण यह है कि अल्पकालीन ब्याज दरें दीर्घकालीन ब्याज दरों से ऊँची होती हैं। तथापि हाल के वर्षों में इसमें कुछ सुधार हुआ है।

3) **अपेक्षाकृत अल्पविकसित बैंकिंग आदतें** : काफी शाखा विस्तार होने पर भी, चैकों व साख पत्रों का प्रयोग अभी कम लोकप्रिय है। लोग नकद लेनदेन पसंद करते हैं। इसके अलावा भारत में खासतौर से ग्रामीण और अर्द्धशहरी क्षेत्रों में जमाखोरी एक लोकप्रिय आदत है। इसके फलस्वरूप सोने-चांदी के जेवरों और अन्य अमौद्रिक परिसम्पत्तियों में निवेश किया जाता है।

6) **कोषों की कमी** : भारतीय मुद्रा बाजार में कोषों की कमी है क्योंकि ऋण के रूप में कोषों की मांग उनकी पूर्ति से सदा ही अधिक होती है। व्यस्त समय में यह कमी और बढ़ जाती है। भारत में विशाल जनसंख्या और दूर दूर तक फैली गरीबी से प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है और इससे उनकी बचत सामर्थ्य कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त काले धन के होने से भारतीय मुद्रा बाजार में वित्तीय संसाधनों की पूर्ति बहुत कम हो गयी है।

5) **संगठित बिल बाजार का अभाव** : भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा 1970 में शुरू की गयी नयी बिल बाजार योजना के बावजूद भारत में बिल बाजार अभी विकसित होना है। इसके बहुत से कारण हैं, जैसे (i) देश के विभिन्न भागों में बिलों के लिखने में एकरूपता का अभाव, (ii) नकद लेनदेनों के लिये सामान्य प्राथमिकता, (iii) मियादी बिलों (usance bills) आदि पर ऊँचा मुद्रांक-शुल्क।

6) **अपर्याप्त बैंकिंग सुविधाएँ** : राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकिंग शाखाओं के विस्तार के बावजूद भारतीय किसानों और ग्राम्य शिल्पियों के लिये महाजन अभी भी साख का प्रमुख स्रोत हैं। इससे गाँवों में छोटी बचतों के संग्रहण में बाधा आयी है। इसके अलावा समाशोधन गृहों की सुविधाओं के अभाव और लघु और अति लघु क्षेत्रों को साख प्रदान करने के लिये विशिष्ट बैंकों के अभाव भारतीय मुद्रा बाजार की कुछ अन्य समस्याएँ हैं।

9.5.2 समस्याओं का हल करने में भारतीय रिज़र्व बैंक की भूमिका

1952 में रिज़र्व बैंक ने व्यापारिक बैंकों के ग्राहकों के अनुमोदित मियादी बिलों के विरुद्ध व्यापारिक बैंकों को ऋण प्रदान करने के लिये बिल बाजार योजना शुरू की। असली निर्यातकों को उदार स्तर पर सहायता करने के लिये 1958 में यह सुविधा निर्यात बिलों पर भी दी जाने लगी। मुद्रा बाजार को पुनः सक्रिय बनाने के लिये और 1952 की योजना के कुछ दोषों को दूर करने के लिये 1970 में नयी बिल बाजार योजना (New Bill Market Scheme) शुरू की गयी। यह बिल योजना भारत में एक असली बिल बाजार के निर्माण में महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। व्यापारिक बैंकों के

राष्ट्रीयकरण और नयी बिल बाजार योजना के बाद मुद्रा बाजार की कुछ कमियाँ दूर हो गयी हैं, जैसे कि ग्रामीण और अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में शाखा विस्तार, मुद्रा बाजार के विभिन्न भागों में आपस में तालमेल, ब्याज दरों को युक्तिसंगत बनाना, मुद्रा के मौसमी अभाव को कम करना। लेकिन भारतीय रिज़र्व बैंक की आशा पूरी नहीं हो सकी, क्योंकि नयी योजना केवल अनुसूचित बैंकों को ही सुविधाएँ प्रदान करती है और यह मुख्यतया व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में ही केन्द्रित है और कृषि क्षेत्र की सहायता करने में असफल रही है। इसके अतिरिक्त पुनर्बट्टा सुविधा प्राप्त करने के लिये बैंकों से बहुत सी पूर्व-अपेक्षाएँ होती हैं जिन्हें उन्हें पूरा करना होता है।

अतः भारतीय मुद्रा बाजार की कार्यप्रणाली को सुधारने के लिये सरकार और भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा अभी बहुत कुछ करना शेष है ताकि भारत में वास्तव में एक विकसित मुद्रा बाजार हो।

9.5.3 सुधार के लिये सुझाव

मुद्रा बाजार की कार्यप्रणाली को सुधारने के लिये भारतीय रिज़र्व बैंक को निम्नलिखित कदम उठाने चाहिये :

1) **देशी बैंकिंग का विनियमन** : भारतीय मुद्रा बाजार के उचित संगठन के लिये देशी बैंकरों का पंजीकरण अनिवार्य बना देना चाहिये। इन्हें रिज़र्व बैंक के नियंत्रण में लाना चाहिये और इन्हें ऋण सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिये।

2) **हुण्डियों का मानकीकरण** : व्यापारिक बिलों को लोकप्रिय बनाने के लिये देशी हुण्डियों और बिलों का मानकीकरण आवश्यक है ताकि इनके विषय, भाषा और उपयोग में एकरूपता लायी जा सके। यह सही अर्थों में बिल बाजार के विकास में सहायक होगा।

3) **पुर्नबट्टा सुविधाओं का विस्तार** : बिलों के विस्तृत प्रयोग के लिये भारतीय रिज़र्व बैंक को बिलों के पुर्नबट्टे के लिये सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिये। इससे मुद्रा बाजार की क्रियाओं के विस्तार में सहायता मिलेगी और कोषों की कमी भी दूर होगी।

4) **समाशोधन गृह सुविधा** : बैंकिंग सेवाओं के विस्तार के लिये पूरे देश में समाशोधन गृह सुविधाओं का विस्तार करना आवश्यक है। इसके लिये समाशोधन गृहों की संख्या बढ़ानी चाहिये और इनमें ऐसे सुधार लाने चाहिये कि ये यूरोप के समाशोधन गृहों की तरह कार्य करें।

5) **स्टांप शूल्क में कमी** : बिलों के प्रयोग को लोकप्रिय बनाने के लिये स्टांप शुल्क को एक उचित स्तर तक घटा देना चाहिये।

6) **अन्य उपाय** : ऊपर बताये गये उपायों के अलावा, निम्नलिखित अन्य उपाय भी भारत में मुद्रा बाजार को सुधारने में सहायक हो सकते हैं :

   i) स्वीकृति गृहों और बट्टा गृहों की स्थापना।
   ii) ऑल इंडिया बैंकर्स एसोसिएशन के कार्यों का विस्तार।
   iii) तैयार फसलों के लिये कृषि बिल प्रणाली का विकास।
   iv) कोषों के शीघ्र और सस्ते हस्तांतरण की सुविधा।

बोध प्रश्न ग

1 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

   i) भारत मुद्रा बाजार एक विकसित मुद्रा बाजार की तरह संगठित भले ही न हो लेकिन यह निश्चित रूप से एक विकसित बाजार की तरह स्थिर और लोचशील है।

   ii) भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न संगठन परस्पर सहयोग कम और प्रतिस्पर्धा अधिक करते हैं।

   iii) भारत में बैंकिंग के विस्तार के बाद भी भारतीय मुद्रा बाजार में महाजनों का प्रभुत्व बना हुआ है।

   iv) देशी बैंकिंग क्षेत्र को भी भारतीय रिज़र्व बैंक के नियंत्रण में लाना चाहिये।

   v) हमारे देश के विभिन्न भागों में एक सी ब्याज दरें हैं।

2 रिक्त स्थानों को भरिये :

   i) भारतीय रिज़र्व बैंक ने नयी बिल बाजार योजना ..... में शुरू की।

ii) भारत में काले धन ने महत्वपूर्ण रूप में मुद्रा बाजार में वित्तीय साधनों की पूर्ति को ..... है।

iii) अपनी आर्थिक क्रियाओं के संबंध में भारतीय मुद्रा बाजार के संगठित और असंगठित क्षेत्रक एक दूसरे से पूर्णतया ..... हैं।

iv) भारतीय मुद्रा बाजार में कोषों की ..... है।

9.6 सारांश

आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा बाजार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। औद्योगिक संवृद्धि और व्यापार के विस्तार,खास तौर से विदेशी व्यापार में,एक विकसित मुद्रा बाजार के होने से बहुत सुविधा मिलती है। मुद्रा बाजार की उपयोगिता न केवल व्यापार व औद्योगिक क्षेत्रों के लिये बल्कि सरकार और केन्द्रीय बैंक के अधिकारियों के लिये भी, आर्थिक क्रियाओं के अपेक्षित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये अपनी नीतियों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिये सीमित है।

मुद्रा बाजार पूँजी बाजार से भिन्न है। मुद्रा बाजार उन फर्मों व संस्थाओं को दिया गया एक सामूहिक नाम है जो अल्पकालीन साख यानि मुद्रावत् परिसम्पत्तियों का लेनदेन करती हैं। पूँजी बाजार का संबंध दीर्घकालीन निवेश योग्य कोषों की सप्लाई से होता है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दो खण्ड हैं : संगठित और असंगठित। संगठित खण्ड में मांग मुद्रा बाजार, बिल बाजार, व्यापारिक बैंक, सहकारी व ग्रामीण बैंक, डाकघर बचत बैंक और पंजीकृत चिट फण्ड आते हैं। भारतीय रिज़र्व बैंक भारतीय मुद्रा बाजार का अग्रणी है। असंगठित क्षेत्र में देशी बैंक और महाजन आते हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार को लंदन और न्यूयार्क मुद्रा बाजार की भाँति विकसित मुद्रा बाजार नहीं कहा जा सकता। एक बड़े असंगठित क्षेत्र की मौजूदगी, विकसित बिल बाजार का अभाव, ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का अभाव, कोषों की कमी, विशेष रूप से व्यस्त समय में, इन सबके कारण भारतीय मुद्रा बाजार अल्पविकसित ही रहा है।

कठिनाइयों को दूर करने के लिये भारतीय रिज़र्व बैंक ने 1970 में नयी बिल योजना शुरू की। सरकार ने रिज़र्व बैंक के मुद्रा बाजार पर नियंत्रण को कड़ा करने के लिये 20 प्रमुख व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी किया। अब तक जो भी उपाय किये गये उनसे मुद्रा बाजार में सुधार तो हुआ है लेकिन अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। इस बारे में निम्नलिखित सुझाव रिज़र्व बैंक द्वारा विचार करने व कार्यान्वित करने योग्य हैं : हुण्डियों का मानकीकरण करके बिलों के प्रयोग को लोकप्रिय बनाना, बिल बाजार का विस्तार और संवर्धन, देशी बैंकरों और महाजनों का विनियमन, समाशोधन गृहों का विस्तार, मियादी बिलों पर स्टांप शुल्क कम करना आदि। ये उपाय रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति को अधिक प्रभावी बनाने में सहायक होंगे और भारतीय मुद्रा बाजार के विकास में भी सहायक होंगे।

9.7 शब्दावली

स्वीकृति बाजार (Acceptances Market) : व्यापारिक लेनदेनों में होने वाली बैंकरों की स्वीकृति का बाजार।

मांग मुद्रा (Call Money) : अति अल्पकाल के लिये, सात दिन से अधिक नहीं, साख सुविधा।

पूँजी बाजार (Capital Market) : दीर्घकालीन निवेश योग्य कोषों की मांग व पूर्ति से संबंधित।

संपार्श्विक ऋण (Collateral Loan) : वह ऋण जो स्टॉक, बॉंड, माल आदि प्रतिभूतियों पर दिया जाता है।

देशी बैंकर (Indigenous Bankers) : जो हुण्डियों और वचन पत्रों का लेनदेन करते हैं।

मुद्रा बाजार (Money Market) : वे संस्थानात्मक व्यवस्थाएँ जो अल्पकालीन कोषों के उधार लेने और देने में सुविधा प्रदान करती हैं।

ट्रेजरी बिल (Treasury Bill) : सरकार की ओर से भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा निर्गमित बिल।

9.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1 i) अल्पकालीन
ii) उधार-पत्रों
iii) कार्यात्मक

2 i) गलत ii) गलत iii) सही iv) सही

ख 1 i) गलत ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही

2 i) और iv)

ग 1 i) गलत ii) सही iii) सही iv) सही v) गलत

2 i) 1970 ii) कम किया iii) अलग iv) कमी

9.9 स्वपरख प्रश्न

1 मुद्रा बाजार किसे कहते हैं? आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा बाजार का महत्व बताइये।

2 मुद्रा बाजार के विभिन्न संघटकों का और भारत में उनकी कार्यप्रणाली का विवेचन कीजिये।

3 एक विकसित मुद्रा बाजार की विशेषताएँ बताइये। क्या भारतीय मुद्रा बाजार को एक विकसित मुद्रा बाजार कहा जा सकता है?

4 मुद्रा बाजार और पूँजी बाजार में भेद कीजिये। भारतीय मुद्रा बाजार की वे कमियाँ बताइये जिनके कारण ये अल्पविकसित हैं।

5 भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताएँ बताइये। इसकी कार्यप्रणाली में सुधार के लिये उपाय भी बताइये।

नोट : ये प्रश्न/अभ्यास इस इकाई को बेहतर ढंग से समझने में आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अपने अभ्यास के लिये हैं।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

एस.के. मिश्र : *मुद्रा एव बैंकिंग* (दिल्ली : श्री महावीर बुक डिपो, 1989) अध्याय 12-16

के.पी.एम. सुंदरम एवं टी.एन. चतुर्वेदी : *मुद्रा, बैंकिंग व व्यापार* (नई दिल्ली : सुल्तान चन्द ऐंड संस, 1990)

शर्मा एवं सिंघई : *मुद्रा, बैंकिंग तथा राजस्व* (आगरा : साहित्य भवन, 1991)

एस.बी. गुप्ता : *मौनेटेरी इकनॉमिक्स* (नई दिल्ली : एस. चांद एंड कं., 1989)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

B.Com-D-4
मुद्रा बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएं

खंड

3

भारत में गैर-बैंकिंग (बैंकेतर) वित्तीय संस्थाएं

इकाई 10

गैर-बैंकिंग (बैंकेतर) वित्तीय मध्यस्थता : सिंहावलोकन 5

इकाई 11

सावधिक ऋण देने वाली वित्तीय संस्थाएं—अखिल भारतीय स्तर 18

इकाई 12

सावधिक ऋण देने वाली वित्तीय संस्थाएं—राज्य स्तर 32

इकाई 13

भारत में कृषि वित्त 41

खण्ड 3 भारत में बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं

पिछले खण्ड में आपने व्यापारिक बैंकिंग के सिद्धान्त और व्यवहार के बारे में और देश के आर्थिक विकास में विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं की भूमिका के बारे में पढ़ा था। यह जानना भी आवश्यक है कि भारत में बैंकेतर (गैर-बैंकिंग) वित्तीय संस्थाएं किस प्रकार लोगों से जमा (deposits) एकत्र करने में और व्यापारिक उद्यमों को सहायता प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस खण्ड में आप बैंकेत्तर वित्तीय संस्थाओं के अर्थ और महत्त्व का अध्ययन करेंगे। आप राष्ट्रीय और राज्य स्तर की विभिन्न बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं के कार्यों और उनकी उपलब्धियों के बारे में भी पढ़ेंगे। इस खण्ड में चार इकाइयां हैं :

इकाई 10 में भारत में बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थता पर विचार किया गया है और इसमें जीवन बीमा निगम, सामान्य बीमा निगमों और भारतीय यूनिट ट्रस्ट जैसे निवेश निगमों की भूमिका और उपलब्धियों का वर्णन किया गया है।

इकाई 11 में विकास बैंकों का अर्थ, कार्य और उद्‌गम स्पष्ट किया गया है। इसमें भारत में राष्ट्रीय स्तर के विकास बैंकों की भूमिका, कार्य और उपलब्धियों का विवेचन भी किया गया है।

इकाई 12 में भारत में राज्य स्तर के बैंकों पर विचार किया गया है। इसमें राज्य वित्त निगमों, राज्य औद्योगिक विकास निगमों और तकनीकी परामर्श संगठनों की भूमिका और इनके द्वारा किये गये कार्यों पर विस्तार से विचार किया गया है।

इकाई 13 में उन विभिन्न वित्तीय संस्थाओं पर विचार किया गया है, जो मुख्यतया कृषि और उससे सम्बन्धित क्रियाओं के लिए सहायता प्रदान करती हैं।

इकाई 10 गैर-बैंकिंग (बैंकेतर) वित्तीय मध्यस्थता : सिंहावलोकन

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थता
  10.2.1 बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थता क्या है?
  10.2.2 बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थों की भूमिका
  10.2.3 विभिन्न प्रकार के बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थ
10.3 भारतीय जीवन बीमा निगम
10.4 सामान्य बीमा कंपनियां
10.5 यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया
10.6 अन्य बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली
10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
10.10 स्वपरख प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- वित्तीय मध्यस्थता का अर्थ बता सकें
- बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थों की भूमिका का वर्णन कर सकें
- भारत में विभिन्न प्रकार के बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थों को पहचान सकें
- बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थों के रूप में भारतीय जीवन बीमा निगम, सामान्य बीमा कम्पनियों और यूनिट ट्रस्ट की भूमिका और महत्त्व का वर्णन कर सकें।

10.1 प्रस्तावना

पिछले खण्ड में आपने व्यापारिक बैंकिंग के सिद्धान्त और व्यवहार के बारे में पढ़ा था। आपने देश के आर्थिक विकास में विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं, खास तौर से व्यापारिक बैंकों और केन्द्रीय बैंक की भूमिका का भी अध्ययन किया है।

इस इकाई में आप भारतीय जीवन बीमा निगम, सामान्य बीमा कम्पनियों और यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया सहित विभिन्न बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं की भूमिका का अध्ययन करेंगे। इन संस्थाओं का विस्तृत अध्ययन करने से पहले वित्तीय मध्यस्थता का अर्थ और बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थों या वित्तीय मध्यस्थों यानि व्यापारिक बैंकों में अन्तर जानना आवश्यक है।

10.2 बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थता (Non-Bank Financial Intermediation)

10.2.1 बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थता क्या है?

वित्तीय मध्यस्थता वित्तीय संस्थाओं के लिए प्रयोग की जाने वाली आधुनिक शब्दावली है। वित्तीय मध्यस्थ बचत करने वालों और पूंजी का प्रयोग करने वालों को एक दूसरे के पास में लाने के लिए मध्यस्थ के रूप में कार्य करते हैं। ये बचत करने वालों से, उन्हें प्रतिभूतियां बेचकर, पैसा एकत्र करते हैं और इसे ऋण लेने वालों को उधार देते हैं। मोटे तौर पर वित्तीय मध्यस्थ शब्दावली का प्रयोग बहुत तरह की संस्थाओं के लिए किया जा सकता है। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

- व्यापारिक बैंक
- बीमा कम्पनियाँ
- भविष्य निधि संगठन

- निवेश कम्पनियाँ
- विशेष वित्तीय कम्पनियाँ
- शेयर दलाल व व्यापारी
- अवक्रय वित्तीय कम्पनियाँ
- चिट फण्ड कम्पनियाँ।

इन संस्थाओं में से व्यापारिक बैंक, बैंक वित्तीय संस्थाओं की श्रेणी में आते हैं, क्योंकि ये जनता से पैसा एकत्र करते हैं और उन्हें मांग करने पर देते हैं। ये व्यक्तियों और फर्मों को मुख्यतया अल्पकाल के लिए उधार देते हैं। साधारणतया व्यापारिक बैंक व्यापार या उद्योग के विकास के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रवर्तन क्रियाएं नहीं करते या उनमें भाग नहीं लेते।

दूसरी ओर, बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं वित्तीय मध्यस्थों के रूप में कार्य करके जनता से बचत एकत्र करती हैं और फिर इसे व्यापारिक फर्मों को उधार देती हैं। व्यापारिक बैंकों को छोड़कर ऊपर बतायी गयी अन्य सभी संस्थाएं बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थ हैं।

बैंक और बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थों में निम्नलिखित अन्तर हैं :

1. बैंकिंग संस्थाएं जनता से मांग जमाएं और अन्य जमाएं एकत्र करती हैं और उसे ग्राहकों को मांग करने पर देती हैं। बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं जनता से लिए गए पैसे को एक निर्दिष्ट समय के बाद ही वापस करती हैं।
2. बैंकिंग संस्थाएं व्यक्तियों और व्यापारिक फर्मों को मुख्यतया अल्पकाल के लिए ऋण देती हैं। बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं केवल व्यापारिक फर्मों को मुख्यतया सावधिक ऋण देती हैं। ये औद्योगिक प्रतिष्ठानों के शेयरों और ऋणपत्रों में भी अभिदान करती हैं।
3. व्यापारिक बैंक साधारणतया प्रवर्तन क्रियाओं में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते। इसके विपरीत, बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं देश में तीव्र औद्योगिक विकास के लिए बहुत सी प्रवर्तन क्रियाएं करती हैं।
4. देश की सभी बैंकिंग संस्थाएं संगठित क्षेत्र में हैं। बैंकिंग कम्पनी (विनियमन) अधिनियम, 1949 सभी बैंकिंग संस्थाओं पर लागू होता है। लेकिन बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थ संगठित व असंगठित दोनों क्षेत्रकों में आते हैं।

10.2.2 बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थों की भूमिका

बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं मध्यस्थों के रूप में कार्य करके बचत करने वालों और ऋण लेने वालों को एक दूसरे से मिलाती हैं। इन संस्थाओं का मध्यस्थता कार्य, व्यक्तियों की अपने कोषों का सुरक्षित निवेश करने में और व्यापारिक फर्मों की बिना किसी समस्या के ऋण प्राप्त करने में सहायता करता है।

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कार बनाने वाली एक फर्म 100 करोड़ रु. का ऋण लेना चाहती है। वित्तीय मध्यस्थों के न होने पर उसे ऐसे व्यक्ति ढूंढने पड़ेंगे, जिनसे वह इतना ऋण ले सके, और यह बहुत कठिन कार्य होगा। इसी तरह मान लीजिए कि आप 1000 रु. उधार देना चाहते हैं। आप किस प्रकार किसी ऐसे ऋण लेने वाले की खोज करेंगे, जिसे केवल 1,000 रु. उधार लेने हों। ऐसी स्थितियों में वित्तीय संस्थाएं सहायक होती हैं। ये समस्या का हल इस प्रकार करती हैं कि सभी पक्षों को लाभ होता है। ये बचत करने वालों (उनके कोषों को एकत्र करके) और इस बचत का प्रयोग करने वालों (इस प्रकार एकत्रित कोष को उधार देकर) के बीच मध्यस्थ के रूप में कार्य करती हैं। इसके अतिरिक्त बड़ी मात्रा में कोषों के संग्रहण से कुछ प्रशासनिक मितव्ययताएं भी होती हैं। मध्यस्थों के रूप में कार्य करके बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं व्यक्तियों, व्यापारिक फर्मों और पूरे देश की निम्नलिखित रूप में सहायता करती हैं :

1 बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं निवेशकर्ताओं को तीन प्रकार के लाभ यानि कम जोखिम, नियमित प्रतिफल और पूंजीगत लाभ, प्रदान करके उनकी सहायता करती हैं।

2 ये व्यापारिक फर्मों की समय पर व उचित लागत पर कोष प्राप्त करने में सहायता करती हैं। ये बहुत से छोटे-छोटे निवेशकर्ताओं से बचतों को एकत्रित करने का जोखिम उठाती हैं। और इस तरह व्यापारिक फर्मों को पूरे देश में फैले छोटे-छोटे निवेशकर्ताओं तक जाने की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता।

3 बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं सरकार द्वारा समय-समय पर निश्चित की गयी प्राथमिकताओं के अनुसार अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों की भी सहायता करती हैं।

4 पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित किये गये उद्यमों को आसान शर्तों पर वित्तीय सहायता प्रदान करके ये देश में क्षेत्रीय असंतुलन को ठीक करने में सहायता करती हैं।

5 जब तीव्र औद्योगीकरण के कार्यक्रम वित्त की अपर्याप्तता के कारण रुक जाते हैं, तब ये बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं ऋणों, अभिगोपन या शेयरों और ऋणपत्रों में अभिदान के रूप में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करती हैं।

6 ये उद्यमकर्ताओं को तकनीकी, वित्तीय और प्रबंधकीय सहायता प्रदान करती हैं। ये विभिन्न प्रवर्तन कार्य भी करती हैं, जैसे परियोजना बनाना, उनकी व्यवहार्यता का अध्ययन करना, परियोजनाओं को कार्यान्वित करना आदि। इस प्रकार वित्तीय संस्थाएं औद्योगिक विकास की गति को तेज करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

10.2.3 विभिन्न प्रकार के बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थ

बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं के कार्यों के आधार पर इन्हें मोटे तौर पर 3 श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है :

1 **निवेश ट्रस्ट** (Investment Trusts): इन संस्थाओं को निवेश बैंक भी कहते हैं। ये दूर-दूर तक फैले हुए लोगों की जमाएं एकत्रित करती हैं और उन्हें उत्पादक कार्यों में लगाती हैं। दीर्घकालीन ऋण देने के अतिरिक्त ये अपना अतिरिक्त पैसा विभिन्न प्रतिभूतियों में भी लगाती हैं। ये व्यापारी बैंकिंग क्रियाएं करती हैं तथा प्रतिभूतियों का अभिगोपन भी करती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं में भारतीय जीवन बीमा निगम (LIC), भारतीय सामान्य बीमा निगम (GICI) और यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया (UTI) आते हैं।

2 **विकास बैंक** : इन संस्थाओं को विशेष वित्तीय संस्थाएं भी कहते हैं। ये विभिन्न रूपों में औद्योगिक उपक्रमों को दीर्घकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। चूंकि ये अनेक प्रवर्तन कार्य भी करती हैं, अतः इन्हें विकास बैंक भी कहा जाता है। इन संस्थाओं में राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI), भारतीय औद्योगिक साख एवं निवेश निगम (ICICI) और भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) तथा राज्य स्तर पर राज्य वित्त निगम (SFCs) और राज्य औद्योगिक विकास निगम (SIDCs) आते हैं।

3 **अन्य संस्थाएं** : कुछ संस्थाएं ऐसी होती हैं, जो साधारणतया वित्तीय सहायता नहीं देतीं। ये मुख्यतया प्रवर्तन कार्य करती हैं और उद्यमकर्ताओं को विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रदान करती हैं। इनमें राष्ट्रीय लघु उद्योग विकास निगम (NSIC), राज्य लघु उद्योग विकास निगम (SSIDCs) और तकनीकी परामर्श संगठन (TCOs) शामिल हैं।

इस इकाई में हम निवेश ट्रस्टों की भूमिका पर विचार करेंगे। इकाई 11 में राष्ट्रीय स्तर की सावधिक वित्तीय संस्थाओं पर विचार किया जाएगा और राज्य स्तर की प्रमुख सावधिक वित्तीय संस्थाओं पर इकाई 12 में विचार किया जाएगा।

बोध प्रश्न क

1 मोटे तौर पर बैंकेतर संस्थाएं तीन प्रकार की होती हैं। वे प्रकार कौन-कौन से हैं?

.....

.....

2 निम्नलिखित कथनों में कौन सा सही है और कौन सा गलत :

i) वित्तीय मध्यस्थ पूंजी की मांग करने वालों और सप्लाई करने वालों का एक दूसरे से सम्पर्क कराते हैं।

ii) बैंकेतर संस्थाएं व्यक्तियों और व्यापारिक फर्मों को पैसा उधार देती हैं।

iii) बैंकिंग संस्थाएं मुख्यतया दीर्घावधि के लिए ऋण देती हैं, जबकि बैंकेतर संस्थाएं अल्पावधि के लिए ऋण देती हैं।

iv) बैंकेतर संस्थाएं पिछड़े क्षेत्रों में उद्यमकर्ताओं को आसान शर्तों पर वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं।

v) राज्य लघु उद्योग विकास निगम मुख्यतया उद्यमकर्ताओं को परामर्श व अन्य ऐसी ही सेवाएं प्रदान करते हैं।

10.3 भारतीय जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation of India)

भारतीय जीवन बीमा निगम का गठन सरकार के पूर्ण स्वामित्व वाले निगम के रूप में भारत के 97 केन्द्रों में कार्य कर रही 244 निजी कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण द्वारा जीवन बीमा निगम अधिनियम, 1956 के अंतर्गत किया गया था। इस निगम की स्थापना का मुख्य उद्देश्य जीवन बीमा के व्यवसाय को समाज को सर्वाधिक लाभ देने व कोषों का उपयोग योजना की प्राथमिकताओं के अनुसार करने के लिए चलाना था।

उद्देश्य

निगम के निम्नलिखित विशिष्ट उद्देश्य हैं :

1 जीवन बीमा का संदेश पूरे देश में गांव-गांव तक पहुंचाना।

2 समाज के विभिन्न वर्गों के लिए उपयुक्त बीमा योजनाओं के द्वारा देश में प्रत्येक बीमा योग्य स्त्री व पुरुष को जीवन बीमा सुरक्षा देना।

3 राष्ट्रीय निर्माण के लिए प्रभावी तरीके से सार्वजनिक बचतों को एकत्रित करना।

4 पॉलिसी धारकों को कम दरों पर पूर्ण सुरक्षा और तात्कालिक व कुशल सेवा प्रदान करना।

5 यह ध्यान रखते हुए कि पैसा पॉलिसी धारकों का है, मितव्ययिता से कार्य करना और कोषों का इस प्रकार निवेश करना कि पूंजी सुरक्षित रहे और अधिकतम प्रतिफल भी मिले।

6 न्यासिता की भावना से कार्य करने वाले प्रबंध के अन्तर्गत एक गत्यात्मक और सशक्त संगठन का विकास करना।

साधन

जब भारतीय जीवन बीमा निगम का राष्ट्रीयकरण किया गया था तो 50 करोड़ रु. की प्रारंभिक पूंजी इसे भारत सरकार ने प्रदान की थी। पॉलिसी धारकों द्वारा दिये जाने वाले प्रीमियम इसके कोषों का प्रमुख स्रोत है। इसके अलावा इसे ब्याज, लाभांश, प्रतिदान और शोधन प्राप्त होते हैं और ये सब मिलकर इसके निवेश योग्य साधन बनते हैं।

निवेश नीति

यह निगम वास्तव में एक निवेश संस्था है। इसकी निवेश नीति मूलधन की सुरक्षा, विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में निधियों को लगाने, उद्यमों के प्रकार और संख्या, परिपक्वता और क्षेत्रों संबंधी मूलभूत नियमों को ध्यान में रखकर बनायी जाती है। निगम से यह आशा की जाती है कि यह व्यावसायिक नियमों के आधार पर कार्य करे, और इसकी निवेश नीति का उद्देश्य पॉलिसी धारकों का हित होगा, जब तक कि ऐसी स्थिति न हो, जिसमें देश के हित को प्राथमिकता देनी हो।

अभी हाल ही तक इसकी निवेश नीति का स्वरूप बीमा अधिनियम, 1938 की धारा 27 A द्वारा निर्धारित होता था। इसमें अप्रैल, 1975 में संशोधन किया गया। भारतीय जीवन बीमा निगम की निवेश नीति के निर्देशक नियम निम्नलिखित हैं :

1 निगम की निवेश नीति का आधार यह है कि इसे अपने कोषों का निवेश इस प्रकार करना चाहिए, जिससे पॉलिसी धारकों के हित सुरक्षित रहें और जिससे इनको अधिकतम लाभ हो। लेकिन इसे देश के हित की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

2 निवेश विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों, उद्योगों व क्षेत्रों में किया जाना चाहिए। निगम की नीति किसी कम्पनी के बकाया ईक्विटी शेयरों के 30% से अधिक नहीं खरीदने की है।

3 निगम को विशुद्ध रूप से एक निवेशकर्ता की तरह कार्य करना चाहिए। इसे प्रतिभूतियों की कीमतों में अस्थायी उतार-चढ़ावों का फायदा उठाने के लिए कार्य नहीं करना चाहिए।

4 निगम को प्रतिभूतियों के निर्गमन का अभिगोपन परियोजना की वित्तीय, आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और प्रबंधकीय दृष्टि से अच्छी तरह जांच-पड़ताल करने के बाद करना चाहिए।

5 निगम को समय-समय पर उन सब परिसम्पत्तियों का पुनर्विलोकन करना चाहिए, जिनमें उसने निवेश किया है और इनके गठन में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करना चाहिए।

6 विशेष परिस्थितियों को छोड़कर निगम को ऐसे किसी कारोबार के प्रबंध का नियंत्रण अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए या उसमें हिस्सा नहीं लेना चाहिए, जिसमें उसने निवेश किया है।

निवेश का स्वरूप

जीवन बीमा निगम के कुल निवेश योग्य कोष, जिनमें जीवन बीमा व्यापार और पूंजी परिशोधन बीमा व्यापार आते हैं, 1988 में 17,318 करोड़ रु. थे और ये बढ़कर मार्च, 1989 के अन्त तक 20,428 करोड़ रु. हो गये। इस प्रकार 1988-89 में इनमें 18% की वृद्धि हुई, जबकि इससे पिछले दो वर्षों में यह वृद्धि क्रमशः 15.7% और 14.1% थी।

जीवन बीमा निगम का कुल बकाया निवेश (सरकारी व अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों, आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं, उद्योग व आवास को सहायता आदि में) मार्च, 1989 तक 18,702.3 करोड़ रु. था। इसका अर्थ है कि पिछले वर्ष से 17.2% की वृद्धि हुई। मार्च, 1989 में जीवन बीमा निगम का सरकारी व अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों में निवेश और इसकी ओर से उद्योग को प्रत्यक्ष सहायता इसके कुल निवेश का क्रमशः 49.2% और 13.2% थी।

निगम को सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों और सार्वजनिक सीमित कम्पनियों की प्रतिभूतियों में निवेश करके उनकी सहायता करने का अधिकार है। निगम कम्पनियों के ईक्विटी व पूर्वाधिकार शेयरों, बांडों और ऋणपत्रों के लिए भी अभिदान करता है। यह शेयरों और ऋणपत्रों का अभिगोपन भी करता है, लेकिन अन्य वित्तीय संस्थाओं की तरह आस्थगित भुगतानों या ऋणों के लिए गारंटी नहीं देता।

जैसा कि तालिका 10.1 में दिखाया गया है जीवन बीमा निगम की ऋणों और अभिगोपन/शेयरों व ऋणपत्रों के लिए प्रत्यक्ष अभिदान द्वारा उद्योग को प्रत्यक्ष सहायता, जो 1987-88 में 362.7 करोड़ रुपये थी, 1988-89 में तेजी से बढ़कर 660.2 करोड़ रु. हो गयी। सावधिक ऋणों की स्वीकृतियां 1987-88 में 127.2 करोड़ रु. से 1988-89 में 325.7 करोड़ रु. हो गयी। अभिगोपन/प्रत्यक्ष अभिदान के द्वारा स्वीकृत सहायता 1988-89 में 42% बढ़ी, जबकि पिछले वर्ष इसमें 20.6% की कमी हुई थी। उद्योग को प्रत्यक्ष सहायता का भुगतान 1988-89 में 29.1% बढ़ा, जबकि इससे पिछले वर्ष इसमें 12.2% की कमी हुई थी।

तालिका 10.1

स्वीकृत व भुगतान की गई सहायता

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	स्वीकृतियां	संवृद्धि दर (%)	भुगतान	संवृद्धि दर (%)
1964-65	15.0	—	11.5	—
1970-71	17.8	—	8.1	—
1971-72	23.1	29.8	5.3	(−) 34.6
1972-73	20.1	(−) 13.0	14.0	164.1
1973-74	25.9	28.9	20.0	42.9
1974-75	43.8	69.1	54.1	170.5
1975-76	61.0	39.3	27.5	(−) 49.2
1976-77	57.1	(−) 6.4	38.9	41.5
1977-78	52.7	(−) 7.7	42.8	10.0
1978-79	65.5	24.3	31.7	(−) 25.9
1979-80	80.0	22.1	70.9	123.7
1980-81	70.0	(−) 12.5	65.6	(−) 7.5
1981-82	165.5	136.4	135.9	107.2
1982-83	136.5	(−) 17.5	86.6	(−) 36.3
1983-84	166.8	22.2	140.9	62.7
1984-85	219.9	31.8	161.5	14.6
1985-86	383.6	74.4	261.9	62.2
1986-87	363.8	(−) 5.2	389.8	48.8
1987-88	362.7	(−) 0.3	342.3	(−) 12.2
1988-89	660.2	82.0	442.0	29.1
मार्च, 1989 के अन्त तक संचयी	3067.7		2413.6	

स्रोत : भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारत में विकास बैंकिंग पर रिपोर्ट, 1988-89.

जीवन बीमा निगम द्वारा मार्च 1989 तक कुल स्वीकृत सहायता 3,067.7 करोड़ रु. थी। इसमें से सावधिक ऋण 1,370.9 करोड़ रु. (44.7%) और अभिगोपन/प्रत्यक्ष अभिदान 1,696.8 करोड़ रु. (55.3%) था। इसी प्रकार मार्च 1989 तक दी गयी कुल संचयी सहायता का 45.2% सावधिक ऋण थे और 54.8% अभिगोपन/प्रत्यक्ष अभिदान थे।

रसायन और रासायनिक उत्पाद उद्योग को उद्योगों को स्वीकृत की गयी प्रत्यक्ष सहायता का सबसे बड़ा भाग (33.1%) मिला। इसके बाद क्रम में मूल धातु (25.6%), कपड़ा (14.4%) और मशीन (9.7%) उद्योग आते हैं। रसायन और रासायनिक उत्पादों को दी गयी सहायता जो पिछले तीन वर्षों में लगभग 75 करोड़ रु. रही, 1988-89 में 218.6 करोड़ रु. हुई, अर्थात् लगभग तीन गुनी बढ़ी। अन्य मुख्य उद्योगों में मूल धातु उद्योग को दी गयी सहायता दुगने से अधिक बढ़ी और कपड़ा उद्योग को दी गयी सहायता लगभग तीन गुनी बढ़ी। मशीन उद्योग और विद्युत मशीन उद्योग को दी गयी सहायता क्रमशः 51.7% और 51.5% बढ़ी, जबकि बिजली उत्पादन उद्योग को दी गयी सहायता में पिछले वर्ष की तुलना में 0.4% की थोड़ी सी कमी हुई। मार्च 1989 तक संचयी स्वीकृतियों का लगभग दो-तिहाई भाग पांच उद्योगों को मिला। ये उद्योग रसायन और रासायनिक उत्पाद (20.5%), मशीन (15.7%), कपड़ा (14%), मूल धातु (11.1%) और बिजली उत्पादन (8.1%) हैं।

आइए, अब जीवन बीमा निगम द्वारा विभिन्न राज्यों में दी गई प्रत्यक्ष सहायता के बारे में जानें। केरल राज्य को स्वीकृत सहायता में अधिकतम वृद्धि हुई, जो कि 26 गुना थी और इस राज्य का हिस्सा जो 1987-88 में 0.08% था, 1988-89 में बढ़कर 1.2% हो गया। राजस्थान और मध्य प्रदेश को स्वीकृत सहायता क्रमशः लगभग 15 गुनी और 11 गुनी बढ़ी और इनका हिस्सा जो 1987-88 में क्रमशः 0.7% और 1.7% था, 1988-89 में बढ़कर 5.7% और 10.2% हो गया। गोवा की दी गयी सहायता चार गुनी बढ़ी और असम तथा उड़ीसा को दी गयी सहायता लगभग दुगनी हो गयी। जीवन बीमा निगम द्वारा अधिकतम स्वीकृत सहायता आंध्र प्रदेश को मिली, जो 184 करोड़ रु. थी, इसके बाद गुजरात को 166.2 करोड़ रु. की सहायता मिली। इन राज्यों का हिस्सा 1988-89 में बढ़कर क्रमशः 27.9% और 25.2% हो गया। इस प्रकार इन दो राज्यों को स्वीकृतियां निगम की 1988-89 की कुल स्वीकृतियों का आधे से अधिक थीं। 1987-88 की तुलना में 1988-89 में बिहार और तमिलनाडु को स्वीकृत सहायता घट गई।

प्रारंभ से ही स्वीकृतियों में महाराष्ट्र का हिस्सा सबसे अधिक (22.2%) रहा, इसके बाद गुजरात (17%), आंध्र प्रदेश (10.4%) और तमिलनाडु (8.5%) आते हैं। इसी प्रकार, 1988-89 के संचयी भुगतानों में महाराष्ट्र का हिस्सा सबसे अधिक (20.7%) रहा, इसके बाद गुजरात (15.7%), आंध्र प्रदेश (12%), तमिलनाडु (8.6%) और पश्चिमी बंगाल (8.4%) आते हैं। यदि हम विभिन्न क्षेत्रों को दी गयी सहायता का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि निगम ने अपने साधनों के बहुत बड़े भाग को सार्वजनिक क्षेत्रक में लगाया। 1986 में सार्वजनिक क्षेत्रक में किया गया निवेश 9,064 करोड़ रु. था और 1989 में यह बढ़कर 14,032 करोड़ रु. हो गया। यह राशि कुल निवेश किये गये कोषों का 80.9% थी। निजी निगम क्षेत्रक (संयुक्त क्षेत्रक को शामिल करके) और सहकारी क्षेत्र में किया गया निवेश कुल निवेश का क्रमशः 11.9% और 7.2% था।

निवेश नीति का मूल्यांकन

जीवन बीमा निगम ने राष्ट्रीय महत्व की सामाजिक-आर्थिक योजनाओं और सार्वजनिक व निजी क्षेत्रक के उपक्रमों को वित्त प्रदान करने के लिए लोगों से एकत्रित की गयी जमाओं से एक बहुत बड़ा कोष बनाकर अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। निगम के निवेश का एक बड़ा भाग सरकारी प्रतिभूतियों में है और सामाजिक दायित्व को पूरा करने वाली योजनाओं और परियोजनाओं को ऋणों के रूप में है। संयुक्त पूंजी कम्पनियों में बहुत थोड़ा भाग लगाया गया है। सार्वजनिक क्षेत्रक को निगम द्वारा दी गयी सहायता का तीन चौथाई भाग मिला और बाकी का एक चौथाई भाग अन्य क्षेत्रकों को मिला।

विभिन्न उद्योगों और क्षेत्रों में किये गये निवेश में कोई महत्त्वपूर्ण विविधता नहीं आयी है। इसने कृषि क्षेत्रक को जो भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र माना जाता है, कोई सहायता नहीं दी। यदि जीवन बीमा निगम अपने कोषों का निवेश औद्योगिक व कृषि क्षेत्र में करने के लिए एक अधिक यथार्थवादी नीति अपनाये तो इससे भविष्य में देश में संतुलित आर्थिक संवृद्धि लाने में सहायता मिलेगी।

निगम की स्थापना के समय से ही पूंजी बाजार में इसकी प्रमुख भूमिका रही है। यद्यपि निगम के कोषों का बहुत छोटा भाग निजी क्षेत्र के उद्यमों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयोग किया जाता है, लेकिन इसके साधनों का परिमाण इतना बड़ा है कि यह छोटा भाग भी देश में औद्योगिक वित्त के सबसे बड़े स्रोतों में से एक रहा है।

निगम की निवेश नीति अपनी उपलब्धियों के बावजूद विवाद का विषय रही है। यह कहा जाता है कि नये औद्योगिक जोखिमों को इसका योगदान बहुत कम रहा। इसमें कोई शक नहीं कि निगम के पास जो भी कोष हैं, वे आम लोगों की मेहनत करके की गई बचतें हैं। इसलिए निगम इस स्थिति में नहीं है कि वह नई औद्योगिक जोखिमों में निवेश करे। फिर भी, निगम अन्य साख संस्थाओं के साथ अभिगोपन सहायता संघ बनाकर और अन्य वित्तीय संस्थाओं की प्रतिभूतियों, शेयरों और ऋणपत्रों को उदारतापूर्वक खरीदकर इनकी सहायता कर सकता है। यह कहा जाता है कि सामाजिक विकास परियोजनाओं, जैसे आवास, जल-निकास, जल-आपूर्ति और अन्य मूल सुविधाओं में इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण नहीं रही है। इस प्रकार भारतीय पूंजी बाजार की विभिन्न वित्तीय संस्थाओं में जीवन बीमा निगम का अद्वितीय स्थान है। इसके कोषों की मात्रा बहुत अधिक होने से जीवन बीमा निगम के निर्णय जो चाहे सरकारी बांडों, औद्योगिक प्रतिभूतियों या स्थावर संपदा (real estate) के बारे में हों, पूंजी बाजार पर निर्णायक प्रभाव डालते हैं।

10.4 सामान्य बीमा कम्पनियां (General Insurance Companies)

भारत सरकार ने देश की 107 सामान्य बीमा कम्पनियों को अपने नियंत्रण में लेकर सामान्य बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया। इन कम्पनियों के प्रबंध के लिए इसने 1973 में भारतीय सामान्य बीमा निगम (GICI) की स्थापना की। यह निगम एक नियंत्रक कम्पनी है, जिसकी निम्नलिखित चार नियंत्रित कम्पनियां हैं :

1. नेशनल इंश्योरेंस कम्पनी लि.
2. न्यू इंडिया एश्योरेंस कम्पनी लि.
3. ओरियंटल फायर एण्ड जनरल इंश्योरेंस कं. लि.
4. यूनाईटेड इंडिया इंश्योरेंस कम्पनी लि.

प्रबंध

निगम का प्रबंध एक निदेशक मंडल के हाथ में होता है जिसमें एक अध्यक्ष होता है और दो प्रबंध निदेशकों सहित 9 निदेशक होते हैं। निगम का पंजीकृत कार्यालय बम्बई में है।

निवेश नीति

भारतीय सामान्य बीमा निगम की निवेश नीति का मुख्य उद्देश्य अपने कोषों का अर्थव्यवस्था के सामाजिक दायित्व वाले क्षेत्रकों में निवेश करना है। ऐसे निवेशों में केन्द्रीय व राज्य सरकार की प्रतिभूतियां, सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों के बांड और ऋणपत्र और आवास तथा शहरी विकास में लगी राज्य सरकारों व अन्य संस्थाओं को आसान शर्तों पर ऋण शामिल हैं। इसके अतिरिक्त निगम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायता देकर औद्योगिक इकाइयों की सहायता करता है।

1989 में इसके द्वारा किये गये निवेश 3,409 करोड़ रु. के थे। कम्पनियों के शेयरों व ऋणपत्रों में निवेश और सावधिक ऋण 1,115 करोड़ रु. हो गये। यह राशि पिछले वर्ष से 16.2% अधिक थी। निगम व इसकी नियंत्रित कम्पनियों द्वारा स्वीकृत व भुगतान की गयी वित्तीय सहायता के बारे में जानकारी के लिए तालिका 10.2 का ध्यानपूर्वक अध्ययन कीजिए।

जैसा कि तालिका 10.2 में दिखाया गया है भारतीय सामान्य बीमा निगम और इसकी चार नियंत्रित कम्पनियों द्वारा 1988-89 के दौरान औद्योगिक क्षेत्र को सावधिक ऋणों, अभिगोपन सुविधा तथा शेयरों व ऋणपत्रों के लिए प्रत्यक्ष अभिदान आदि के रूप में स्वीकृत सहायता 123 करोड़ रुपये थी, जो पिछले वर्ष से 24.7% अधिक थी।

तालिका 10.2

स्वीकृत व भुगतान की गई सहायता

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	स्वीकृतियां	संवृद्धि दर (%)	भुगतान	संवृद्धि दर (%)
1980-81	30.8	—	44.0	—
1981-82	50.1	62.7	33.7	(−)23.4
1982-83	92.7	85.0	44.7	32.6
1983-84	108.5	17.0	84.5	89.0
1984-85	144.1	32.8	110.5	30.8
1985-86	153.0	6.2	107.3	(−)2.9
1986-87	153.3	0.2	131.6	22.6
1987-88	98.3	(−)35.9	103.5	(−)21.4
1988-89	122.6	24.7	115.4	11.5
मार्च, 1989 तक संचयी	1097.3	—	857.9	

स्रोत : भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारत में विकास बैंकिंग पर रिपोर्ट, 1988-89.

इस वर्ष उर्वरक उद्योग को निगम द्वारा सर्वाधिक सहायता प्रदान की गई। इसके बाद कपड़ा उद्योग और फिर मशीन उद्योग का स्थान रहा।
विभिन्न राज्यों को दी गई सहायता के विश्लेषण से पता चलता है कि 1988-89 में महाराष्ट्र को इस सहायता का सबसे बड़ा भाग मिला। उससे कम गुजरात और उससे कम तमिलनाडु का हिस्सा रहा।

जहां तक पिछड़े क्षेत्रों को सहायता देने का संबंध है, अपनी सुदृढ़ और लाभकारी निवेश नीति के कारण सामान्य बीमा निगम ने पिछड़े क्षेत्रों को रियायती दरों पर सहायता प्रदान नहीं की।

कुल मिलाकर सामान्य बीमा निगम और इसकी नियंत्रित कम्पनियां सामान्य बीमा सुविधाएं प्रदान करने के लिए एक अच्छा आधार बनाकर देश की सहायता कर रही हैं। यह कार्य करने के साथ-साथ यह निगम विभिन्न तरीकों से औद्योगिक क्षेत्र को वित्तीय सहायता भी प्रदान कर रहा है। लेकिन सामाजिक दृष्टि से यह उचित होगा कि भविष्य में यह निगम औद्योगिक रूप से विकसित क्षेत्रों में लगी इकाइयों पर ध्यान केन्द्रित करने के बजाय पिछड़े क्षेत्रों में लगे उद्योगों को वित्त प्रदान करने में अधिक दिलचस्पी ले।

बोध प्रश्न ख

1 1988-89 में जीवन बीमा निगम द्वारा किये गये निवेश में विभिन्न क्षेत्रों का हिस्सा इस प्रकार था :

i) निजी क्षेत्रक .....
ii) सार्वजनिक क्षेत्रक .....
iii) सहकारी क्षेत्रक .....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत।

(i) जीवन बीमा निगम एक नियंत्रक कम्पनी है।

(ii) जीवन बीमा निगम को सट्टेबाजी के उद्देश्य से प्रतिभूतियों में निवेश करना चाहिए।

(iii) जीवन बीमा निगम द्वारा प्राप्त ब्याज, लाभांश, प्रतिदान और शोधन उसके निवेश करने योग्य साधनों का एक भाग हैं।

(iv) प्रतिभूति निर्गमन का अभिगोपन करने से पहले जीवन बीमा निगम को विस्तृत छानबीन करनी चाहिए।

(v) जीवन बीमा निगम की निवेश नीति में सार्वजनिक व निजी क्षेत्रकों को समान महत्त्व दिया गया है।

10.5 यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया (UTI)

पश्चिमी देशों में यूनिट टस्ट बहुत लोकप्रिय रहे हैं और इन्होंने वास्तविक निवेश कम्पनियों से भी अधिक प्रगति की है। यह यूनिट ट्रस्टों को मिलने वाले ऐसे लाभों के कारण हुआ है, जो अन्य मध्यस्थों को प्राप्त नहीं हैं। यूनिट ट्रस्टों के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं :

1 निवेश में विविधता या जोखिमों का एकीकरण
2 व्यावसायिक प्रबंध
3 अत्यधिक तरलता

एक छोटा निवेशकर्ता यदि प्रत्यक्ष रूप से कम्पनियों के शेयरों और ऋणपत्रों में निवेश करता है तो वह जोखिम से नहीं बच सकता। क्योंकि उसके पास निवेश करने के लिए साधन बहुत कम होते हैं, इसलिए उसके निवेश में विविधता संभव नहीं है। लेकिन यूनिट ट्रस्टों के शेयरों में निवेश करके इन ट्रस्टों की निवेश नीति के कारण जोखिम से बचा जा सकता है। यूनिट ट्रस्टों की नीति कुछ ही कम्पनियों में निवेश को केन्द्रित करने की नहीं होती, चाहे इन कम्पनियों की वित्तीय स्थिति कैसी भी हो। इसके अतिरिक्त इन्हें व्यावसायिक प्रबंध का लाभ मिलता है। यूनिटों के शोधन की विशेषता तरलता को सुनिश्चित करती है। वास्तव में इनका यही वह लाभ है, जो बचत करने वालों की बड़ी संख्या को यूनिटों में पैसा लगाने के लिए प्रेरित करता है।

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया की स्थापना

भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने 1931 में ही भारत में छोटी बचत करने वालों की बचतों को संग्रहित करने में यूनिट ट्रस्टों का महत्त्व जान लिया था। 1954 में सर्राफ़ कमेटी ने फिर इन ट्रस्टों की स्थापना पर जोर दिया। लेकिन यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया की स्थापना यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया अधिनियम, 1963 के अंतर्गत 1964 में ही हो पायी। यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया एक निवेश संस्था है, जो भारत की औद्योगिक संवृद्धि का एक भाग छोटे निवेशकर्ता को प्रस्तुत करती है और न्यूनतम जोखिम तथा उचित प्रतिफल पर उसकी ओर से उत्पादक निवेश करती है।

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया विकास बैंक नहीं है। जैसा कि नाम से ही पता लगता है, यह एक निवेश ट्रस्ट है। यह वित्तीय संस्था है, जो अन्य आर्थिक इकाइयों से बचतें संग्रहित करती है और उनको ऋण देती है, जो इनका उत्पादक उपयोग करना चाहते हैं। यूनिट ट्रस्ट अमेरिका में म्यूचुअल फंडों के नाम से जाना जाता है।

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया के उद्देश्य

इस ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य देश में बचतों को प्रोत्साहित करना और संग्रहित करना है। यह इन बचतों को उत्पादक निगम निवेशों का रूप देता है, ताकि देश की अर्थव्यवस्था की संवृद्धि बढ़े और उसमें विविधता आए। ट्रस्ट के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

i) समाज की बचतों को एकत्र करना और उन्हें उत्पादन निवेशों का रूप देना। बचत करने वालों को ट्रस्ट तीन तरह के लाभ प्रदान करने का वचन देता है, ये हैं : सुरक्षा, तरलता और लाभदायकता। इससे यह विभिन्न व्यक्तियों को बचत करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

ii) यह प्रत्येक यूनिट धारक को बहुत सी चुनी हुई कम्पनियों के शेयरों और प्रतिभूतियों के अप्रत्यक्ष रूप से स्वामित्व प्राप्त करने का अवसर देता है और निवेशकर्ताओं को औद्योगिक संवृद्धि से होने वाली संपन्नता में भागीदार बनने के योग्य बनाता है।

साधन

प्रारंभिक पूंजी : यूनिट ट्रस्ट की प्रारंभिक पूंजी सांविधिक रूप से 5 करोड़ रु. निश्चित की गयी थी। इसमें भारतीय रिजर्व बैंक को 2.5 करोड़ रु., जीवन बीमा निगम को 75 लाख रु., स्टेट बैंक व उसके सहायक बैंकों को 75 लाख रु., तथा बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं को 1 करोड़ रु. लगाने थे। 1976 में ट्रस्ट में लगी रिजर्व बैंक की प्रारंभिक पूंजी को भारतीय औद्योगिक विकास बैंक को हस्तांतरित कर दिया गया और इस प्रकार यह इस बैंक की एक संबंधित संस्था बन गया।

यूनिट पूंजी : भारतीय यूनिट ट्रस्ट के कोषों का मुख्य स्रोत यूनिट पूंजी है, जो जनता को विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत यूनिटें बेचकर जुटायी जाती है। इस रूप में अधिकांश कोष यूनिट योजना, 1964 और पूंजीगत लाभ इकाई योजना, 1983 के अन्तर्गत प्राप्त हुए। यूनिटों की बिक्री से एकत्र कुल राशि का दो-तिहाई से अधिक भाग इन दो योजनाओं से प्राप्त हुआ। यूनिट योजना, 1964 इस ट्रस्ट द्वारा शुरू की गयी सबसे पहली योजना थी और यह निवेशकर्ताओं में सदा ही लोकप्रिय रही। इस योजना के अन्तर्गत बेची जाने वाली यूनिटों का अंकित मूल्य 10 रु. है। लेकिन इनका बाजार मूल्य समय-समय पर निर्धारित किया जाता है और यह अंकित मूल्य से अधिक होता है। इस योजना के अन्तर्गत यूनिटों का बाजार मूल्य निर्धारित करने का आधार ट्रस्ट द्वारा पिछली अवधि में किये गये कुल निवेशों का बाजार मूल्य होता है। क्रय मूल्य को विक्रय मूल्य से नीचा रखा जाता है और इन दोनों में अन्तर हमेशा 30 पैसे या अधिक रहा है।

निवेश नीति

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया की निवेश नीति, मूलधन की सुरक्षा और पूंजी के प्रतिफल में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करती है। पूंजी की सुरक्षा की दृष्टि से, जिन प्रतिभूतियों में निवेश किया जाता है, वे आर्थिक दृष्टि से ठोस और आसानी से विक्रय योग्य होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रतिभूतियों का चयन करते समय सुरक्षित और तरल प्रतिभूतियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इन प्रतिभूतियों पर बहुत उचित प्रतिफल मिलता है और पूंजीगत लाभ की भी उचित संभावना होती है।

यूनिट ट्रस्ट के लिए, जीवन बीमा निगम और बैंकों की भांति अपने कोषों का एक निश्चित भाग सरकारी व अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों में लगाना आवश्यक नहीं है। इसे यह निर्णय लेने की स्वतंत्रता है कि अपने कोषों का निवेश कहाँ करे। लेकिन इस बारे में कुछ निर्देशक नियम अवश्य हैं, जो यह सुझाते हैं कि ट्रस्ट द्वारा किसी भी एक कम्पनी में किया जाने वाला निवेश इसके निवेश करने योग्य कुल कोषों का 5% से अधिक नहीं होना चाहिए या ऐसी कम्पनी की निर्गमित और बकाया प्रतिभूतियों के मूल्य के 15% से अधिक नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नये औद्योगिक संस्थानों की प्रतिभूतियों के प्रारंभिक निर्गमन में निवेश, ट्रस्ट के कुल निवेश योग्य कोषों के 5% से कम होना चाहिए। यूनिट ट्रस्ट द्वारा निवेश करने के बारे में ये निर्देशक नियम बनाने का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि निवेश में उचित विविधता हो।

यूनिट धारकों को लाभ

निवेश करने वाले यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की यूनिटों में निवेश करके निम्नलिखित लाभ प्राप्त करते हैं :

1. **निवेश की सुरक्षा :** ट्रस्ट की यूनिटों में किया गया निवेश काफी सुरक्षित होता है। यूनिट ट्रस्ट जोखिम और प्रतिफल को ध्यान में रखकर इस पैसे का बहुत तरह की प्रतिभूतियों में पुनर्निवेश करता है। अतः निवेशकर्ता के निवेश की सुरक्षा सुनिश्चित कर दी जाती है।
2. **निवेश पर नियमित व उचित प्रतिफल :** सांविधिक निर्देशन के अनुसार यूनिट ट्रस्ट को अपनी आय का कम से कम 90% भाग यूनिट धारकों में बांटना होता है। इससे यूनिट धारकों को अपने निवेश पर एक नियमित व उचित प्रतिफल मिलना सुनिश्चित हो जाता है।
3. **तरलता :** यूनिट धारक अपनी यूनिटों को आसानी से नकद राशि में परिवर्तित कर सकते हैं। ट्रस्ट यूनिटों का इसके द्वारा निश्चित की गयी कीमतों पर किसी भी समय पुर्नक्रय कर लेता है। इसके अतिरिक्त यूनिट धारक अपनी यूनिटों को किसी तीसरे पक्ष को हस्तांतरित कर सकते हैं या इन्हें बैंकों के पास ऋणाधार के रूप में रखकर उनसे ऋण ले सकते हैं।

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया की कार्य-प्रणाली

1964 में यूनिट ट्रस्ट की स्थापना को भारत में पूंजी बाजार के विकास में एक महत्वपूर्ण घटना कहा जा सकता है। नये निर्गमनों के बाजार में गतिविधियों को बढ़ाने में और देश में औद्योगिक प्रतिभूतियों के लिए बाजार को विकसित करने में इसकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही।

तालिका 10.3

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया — परिप्रेक्ष्य में संवृद्धि

(करोड़ रुपये में)

क्र.सं.	निर्देशक	1984-85	1985-86	1986-87	1987-88	1988-89
1.	सभी योजनाओं के अंतर्गत विक्रय	756.19	891.75	1261.06	2059.42	3855.01
2.	यूनिट पूंजी	1757.30	2586.39	3726.11	5449.58	8905.11
3.	यूनिट-धारक खाते (लाख में)	17.01	20.38	29.79	38.56	48.56
4.	निवेश योग्य निधियां	2209.61	3218.34	4563.68	6738.81	11834.65
5.	रिजर्व और प्रावधान	299.87	445.08	567.18	940.72	2075.10
6.	कुल आय	257.05	389.97	524.58	840.90	1687.02
7.	कुल व्यय	11.77	15.39	22.21	41.36	64.03
8.	आय-वितरण	214.92	316.79	427.86	682.68	1246.46
9.	स्वीकृतियां	357.30	696.60	465.00	1024.80	1973.10
10.	भुगतान	236.20	528.90	417.6	749.20	1091.20

स्रोत : यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया पर वार्षिक रिपोर्ट, 1988-89।

ऐसी कम्पनियाँ भी शामिल होती हैं, जो अवित्तीय हैं। विविध बैंकेतर कम्पनियाँ जैसे कि चिट फण्ड कम्पनियां भी इसी श्रेणी में आती हैं। ये कम्पनियां जनता से अल्पावधि व मध्यावधि के लिए जमाएं मांगती हैं। ये कम्पनियां साधारणतया मांग जमाएं स्वीकार नहीं करतीं।

अन्य बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं भी देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं। ये शहरी और ग्रामीण बचतकर्ताओं से काफी मात्रा में बचतें एकत्र कर रही हैं। यद्यपि इस बारे में सांख्यिकी आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन इनका आर्थिक विकास में योगदान कम नहीं है।

इन पर भारतीय रिजर्व बैंक या अन्य सरकारी एजेंसियों का कोई नियंत्रण न होने से ये भोली-भाली जनता का शोषण कर लेती हैं। ये बहुत ऊँची ब्याज दरों का प्रलोभन देकर बहुत पैसा एकत्र कर लेती हैं और उसके बाद गायब हो जाती हैं और इस प्रकार लोगों का शोषण करती हैं।

रिज़र्व बैंक और सरकार को इनके द्वारा किये जाने वाले शोषण को रोकने के लिए इनका विनियमन करना चाहिए।

बोध प्रश्न ग

1 यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया के निवेश योग्य कोषों के स्रोत क्या हैं?

.....

.....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

i) यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया पश्चिमी देशों के म्यूचुअल फण्ड की भांति है।

ii) यूनिट ट्रस्ट की निधियों का मुख्य स्रोत सरकार है।

iii) यूनिट ट्रस्ट सुरक्षित व तरल प्रतिभूतियां चुनने का प्रयत्न करता है।

iv) 1988-89 तक यूनिट ट्रस्ट ने 12 विभिन्न योजनाएं शुरू की।

v) यूनिट ट्रस्ट के आधे से अधिक निवेश निश्चित आय प्रदान करने वाली प्रतिभूतियों में हैं।

10.7 सारांश

वित्तीय मध्यस्थ वित्तीय साधनों की मांग करने वालों और सप्लाई करने वालों को एक दूसरे से मिलाते हैं। इन मध्यस्थों में व्यापारिक बैंक, निवेश ट्रस्ट, बीमा कम्पनियां, शेयर दलाल और अवक्रय कम्पनियां आदि आती हैं। व्यापारिक बैंकों को छोड़कर ऊपर बतायी गयी सभी संस्थाएं बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं की श्रेणी में आती हैं।

निवेशकर्ताओं को नियमित प्रतिफल व पूंजीगत लाभ प्रदान करके बैंकेतर वित्तीय संस्थाएं उनकी सहायता करती हैं। ये संस्थाएं आसान शर्तों व उचित लागत पर पिछड़े हुए क्षेत्रों में व्यापार व उद्योग को कोष प्रदान करती हैं। इसके अतिरिक्त ये तकनीकी व प्रबंधकीय परमार्श भी प्रदान करती हैं।

जीवन बीमा निगम का गठन जीवन बीमा निगम अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत एक पूर्ण सरकारी स्वामित्व वाले संगठन के रूप में किया गया। इसके मुख्य उद्देश्यों में से हैं, जीवन बीमा के संदेश को देश के कोने-कोने तक फैलाना, समाज के सर्वोत्तम हित में जीवन बीमा का कार्य करना और जनता की संचित जमाओं का देश की आर्थिक नीति के अनुरूप प्रयोग करना। कोषों का निवेश करते समय जीवन बीमा निगम बहुत सी बातों को ध्यान में रखता है, जैसे कोषों की सुरक्षा, निवेश में विविधता और प्रतिभूतियों का परिपक्वता समय आदि।

अपनी स्थापना के बाद से ही जीवन बीमा निगम के निवेश योग्य कोष लगातार बढ़े हैं। 1988-89 में ये 18% की दर से बढ़े और कुल कोष 20,428 करोड़ रु. थे। इसके साधनों में से अधिकतम निवेश सरकारी व अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों में होता है। 1988-89 में कुल निवेश में इनका हिस्सा 49.2% था। रसायन व रासायनिक उत्पाद उद्योग को सबसे अधिक प्रत्यक्ष सहायता स्वीकृत की गयी (33.1%)। इसके बाद मूल धातु उद्योग को 14.4% और कपड़ा उद्योग को 9.7% सहायता मिली। 1988-89 में आंध्र प्रदेश और गुजरात को दी गई स्वीकृत सहायता का योग कुल स्वीकृत निवेश के आधे से अधिक था।

जीवन बीमा निगम लोगों की बचतों की एक बड़ी राशि को एकत्रित करने में सफल हुआ है, लेकिन यह अपने निवेशों में विविधता लाने में सफल नहीं हुआ। नये औद्योगिक उपक्रमों और कृषि क्षेत्र को इसका योगदान बहुत कम रहा।

भारतीय सामान्य बीमा निगम एक नियंत्रक कम्पनी है जिसकी 4 नियंत्रित कम्पनियां हैं। यह अर्थव्यवस्था के उन क्षेत्रों मे कोषों का निवेश करता है जो समाज की ओर अभिमुख हैं। इसमें सरकारी प्रतिभूतियां और आवास तथा शहरी विकास में

लगी एजेन्सियां आती हैं। 1988-89 में उर्वरक उद्योग को अधिकतम कोष स्वीकृत किये गये, इसके बाद कपड़ा उद्योग का नम्बर आता है। इस निगम ने पिछड़े क्षेत्रों को रियायती दरों पर कोई वित्तीय सहायता नहीं दी। लेकिन इसने सामान्य बीमा सुविधाओं का एक अच्छा जाल सा फैलाने में सहायता की है।

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया एक निवेश ट्रस्ट है, जिसकी स्थापना 1964 में की गयी। इसका मुख्य उद्देश्य समाज के अतिरेक कोषों को उत्पादक प्रयोगों में लगाना है, जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि हो और विविधता आए। ट्रस्ट की निवेश नीति सुरक्षा और निवेश पर प्रतिफल में एक उचित संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करती है। जीवन बीमा निगम और व्यापारिक बैंकों को तो अपने कोषों का एक भाग सरकारी और अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों में लगाना होता है, लेकिन यूनिट ट्रस्ट पर ऐसी कोई पाबन्दी नहीं है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र से साधनों को इकट्ठा करने के लिये ट्रस्ट ने समय-समय पर बहुत योजनाएं शुरू कीं। 1989 में इसके निवेश योग्य कोष 10,000 करोड़ रू. से अधिक थे। देखा गया है कि यूनिट ट्रस्ट विकसित क्षेत्रों में ही निवेश करना पसंद करता है। इसकी एक आलोचना यह भी है कि इसके निवेशयोग्य कोषों के एक बड़े भाग का निवेश शहरी क्षेत्रों में किया गया। ट्रस्ट को ग्रामीण बचतों को इकट्ठा करने के लिए नयी योजनाएं शुरू करनी चाहिये और वित्तीय सहायता देने के लिये ग्रामीण उद्योगों का पता लगाना चाहिये। इसके अतिरिक्त इसे अपने खर्चे कम करने चाहिये और यूनिट धारकों को अधिक लाभांश देना चाहिए।

10.8 शब्दावली

म्यूचुअल फण्ड (Mutual Fund): वह कम्पनी जिसकी निर्गमित पूंजी नहीं होती और इस पर उन सदस्यों का स्वामित्व होता है, जो इसके साथ व्यापार करते हैं। इसके लाभ इसके सदस्यों में बांटे जाते हैं।

10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1 निवेश ट्रस्ट, विकास बैंक, अन्य संस्थाएं जो मुख्यतया प्रवर्तन कार्य करती हैं और उद्यमकर्त्ताओं को सेवाएं प्रदान करती हैं।

2 i) सही ii) गलत iii) गलत iv) सही v) सही

ख 1) i) 11.9% ii) 80.9% iii) 7.2%

2 i) गलत ii) गलत iii) सही iv) सही v) गलत

ग 1) प्रारंभिक पूंजी, यूनिट पूंजी

2. i) सही ii) गलत iii) सही iv) सही v) गलत

10.10 स्वपरख प्रश्न

1 बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थ क्या है? इसकी क्या विशेषताएं हैं?

2 बचतों के संग्रहण में और राष्ट्रीय आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने में जीवन बीमा निगम की भूमिका का विवेचन कीजिये।

3 यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया बैंकेतर वित्तीय मध्यस्थों में व्यावसायिकता लाया है। विवेचन कीजिये।

4 भारतीय सामान्य बीमा निगम पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

नोट : ये प्रश्न/अभ्यास इस इकाई को बेहतर ढंग से समझने में आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अपने अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 11 सावधिक ऋण देने वाली वित्तीय संस्थाएं— (Term-lending Financial Institutions)

अखिल भारतीय स्तर

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 विकास बैंक क्या है?

11.3 विकास बैंकों के कार्य

11.4 विकास बैंकों का उद्‌गम

11.5 भारतीय औद्योगिक वित्त निगम

11.6 भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम

11.7 भारतीय औद्योगिक विकास बैंक

11.8 अन्य विकास बैंकिंग संस्थाएं

11.8.1 भारतीय औद्योगिक पुनर्निमाण बैंक
11.8.2 भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक

11.9 भारत में विकास बैंकों का मूल्यांकन

11.10 सारांश

11.11 शब्दावली

11.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.13 स्वपरख प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- विकास बैंकों का अर्थ, कार्य व उद्देश्य बता सकें
- भारत में विकास बैंकों के उद्‌गम का विवेचन कर सकें
- अखिल भारतीय स्तर के विकास बैंकों की कार्यप्रणाली बता सकें
- भारत में विकास बैंकों द्वारा किये गये कार्यों व इनकी प्रत्याशाओं का मूल्यांकन कर सकें।

11.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपको भारत में बचत करने वालों और पूंजी का प्रयोग करने वालों को जोड़ने वाली बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं (non-banking financial institutions) के बारे में बताया गया था। आपको भारतीय जीवन बीमा निगम, भारतीय सामान्य बीमा निगम, यूनिट ट्रस्ट और अन्य बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं सहित विभिन्न बैंकेतर वित्तीय संस्थाओं की संवृद्धि, कार्य प्रणाली और समस्याओं की विशेष रूप से जानकारी प्रदान की गयी थी। इस इकाई में हम विकास बैंकों (development banks) के अर्थ, महत्त्व और उद्‌गम का अध्ययन करेंगे और इसके साथ-साथ भारत में राष्ट्रीय स्तर के विभिन्न विकास बैंकों की भूमिका, कार्यों व इनकी उपलब्धियों का भी अध्ययन करेंगे।

11.2 विकास बैंक क्या है?

विकास बैंक विशिष्ट वित्तीय संस्थाएं हैं, जिनकी स्थापना विकास के तीन मूल संघटक प्रदान करने के लिये की जाती है। ये संघटक हैं : (1) पूंजी, (2) ज्ञान, और (3) उद्योग को उद्यमवृत्ति। ये बैंक विकसित व अल्पविकसित देशों में दूसरे विश्व युद्ध के बाद स्थापित किये गये। इनकी संरचना औद्योगिक विकास को तीव्र करने के लिये उत्प्रेरक के रूप में की गयी। एक अल्पविकसित देश में, जहां न केवल पूंजी की कमी है, बल्कि कुशल उद्यमकर्ताओं की भी कमी है, ऐसे बैंकों की आवश्यकता है जो उद्यमकर्ताओं को सावधि पूंजी प्रदान करने तक ही अपनी क्रियाओं को सीमित न करें।

ऐसे बैंकों को औद्योगिक सर्वेक्षणों के द्वारा, विकासात्मक परियोजनाओं का पता लगाकर और दिलचस्पी लेने वाले उद्यमकर्ताओं को परियोजना के निर्माण से लेकर उसके कार्यान्वयन तक तकनीकी प्रबंधकीय और अन्य सहायता प्रदान करके प्रवर्तन भूमिका निभानी चाहिये। विलियम डायमंड के अनुसार, **विकास बैंक एक संकर संस्था है, जिसके कार्यों में एक वित्त निगम और एक विकास निगम दोनों के कार्य शामिल होते हैं।** वित्त निगम का सम्बन्ध मुख्यतया दीर्घावधि ऋण पूंजी से होता है, जबकि विकास निगम का सम्बन्ध मुख्यतया शेयर पूंजी से और विशिष्ट कम्पनियों को विकसित करने और उनका प्रबंध करने तथा उन्हें वित्तीय समर्थन प्रदान करने से होता है।

इस प्रकार विकास बैंक एक वित्तीय एजेन्सी है, जो औद्योगिक संस्थाओं को ऋणों के रूप में मध्यावधि व दीर्घावधि सहायता देती है। यह अभिगोपन करने के अतिरिक्त ऋणों की गारण्टी देती है और शेयरों व ऋण पत्रों के लिये प्रत्यक्ष अभिदान करती है। यह उद्यमकर्ताओं को तकनीकी जानकारी और प्रशिक्षण भी प्रदान करती है।

11.3 विकास बैंकों के कार्य

विकास बैंकों के कार्य निम्नलिखित हैं :

1. **ऋणों की स्वीकृति :** अधिकांश विकास बैंकों का महत्वपूर्ण कार्य औद्योगिक संस्थानों को मध्यावधि व दीर्घावधि ऋण प्रदान करना है। कुछ विकास बैंक विदेशी मुद्रा में भी ऋण देते हैं।
2. **ऋणों की गारण्टी :** ये व्यापारिक संस्थानों द्वारा अन्य स्रोतों से जुटाये गये ऋणों की गारण्टी भी देते हैं। ये विदेशों से पूंजीगत वस्तुएं खरीदने के लिये आस्थगित भुगतानों की भी गारण्टी देते हैं।
3. **औद्योगिक प्रतिभूतियों का अभिगोपन :** इसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य औद्योगिक संस्थाओं के शेयरों, बाण्डों और ऋण पत्रों का अभिगोपन करना है।
4. **शेयरों और ऋणपत्रों में निवेश :** अभिगोपन के अतिरिक्त विकास बैंक औद्योगिक संस्थाओं के अंशों और ऋण पत्रों में अभिदान करके उनमें प्रत्यक्ष रूप से निवेश भी करते हैं।
5. **व्यापारी बैंकिंग :** हाल ही में कुछ विकास बैंकों ने अपनी सहयोगी कम्पनियाँ स्थापित की हैं जो विभिन्न प्रकार के व्यापारी बैंकिंग कार्य करती हैं।
6. **विकास कार्य :** विशेष वित्तीय संस्थाएं न केवल सावधिक ऋण देने वाली संस्थाओं के रूप में कार्य करती हैं बल्कि विकास बैंकों के रूप में भी कार्य करती हैं। ये परियोजनाएं बनाती हैं, तकनीकी आर्थिक सर्वेक्षण करती हैं, उद्यमकर्ताओं को प्रशिक्षण व परामर्श प्रदान करती है और औद्योगिक इकाइयों के प्रबंध में सुधार करती हैं।

11.4 विकास बैंकों का उद्गम

यद्यपि "विकास बैंक" शब्द का पहली बार प्रयोग दूसरे विश्व युद्ध के बाद किया गया लेकिन कुछ देशों में 19वीं शताब्दी के शुरू में ऐसी संस्थाएं थीं। पहला विकास बैंक व्यापारिक और औद्योगिक संस्थाओं को वित्त प्रदान करने के लिये बेलजीयम में स्थापित किया गया। इसका नाम सोसाइटे जनरेल डी बेलजीक्यू (Societe Generale de Belgique) था। लेकिन इसके कार्यों से अधिक दिलचस्पी पैदा नहीं हुई। 1852 में फ्रेंच क्रेडिट मोबिलाइजर (French Credit Mobiliser) स्थापित किया गया। बाद में यही जर्मनी, ऑस्ट्रिया, बेलजीयम, नीदरलैंड, इटली, स्वीटजरलैंड और स्पेन में ऐसे निवेश बैंकों का एक मॉडल बन गया।

मंदी के बाद की अवधि विकास बैंकों के उद्गम का दूसरा चरण है। इस अवधि में लघु उद्योग के लिये वित्त प्रबन्ध करने की जरूरत को स्वीकार किया गया। तदनुसार, बहुत से देशों में विशेष वित्तीय संस्थाएं बनायी गयीं।

भारत में विकास वित्त संस्थाओं का ढांचा खड़ा करने की दिशा में पहला कदम 1948 में उठाया गया जब भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI) की स्थापना की गयी। इस निगम की स्थापना निगम क्षेत्र की इकाइयों और औद्योगिक सहकारी समिति

को मध्यावधि व दीर्घावधि साख प्रदान करने के लिये की गयी। इसके समानान्तर राज्य स्तर पर 1951 में राज्य वित्त निगमों (SFCs) की स्थापना की गयी ताकि ये अपने-अपने राज्यों में मध्यम और लघु आकार की औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घावधि ऋणों का लाभ दे सकें। 1955 में भारत सरकार, विश्व बैंक, कामनवेल्थ विकास वित्त निगम और अन्य विदेशी संस्थाओं के समर्थन से खास तौर से निजी क्षेत्र की औद्योगिक परियोजनाओं के विदेशी विनिमय भाग का वित्त प्रबंध करने के लिये एक संयुक्त पूंजी कम्पनी के रूप में भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम (ICICI) की स्थापना की गयी।

राज्य औद्योगिक विकास निगमों (SIDCs) जो कि राज्य स्तर की संस्थाएं हैं, की स्थापना 1960 में की गयी। इनका मुख्य उद्देश्य मध्य स्तर की औद्योगिक इकाइयों को बढ़ावा देना था। लघु स्तर की इकाइयों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये 1960 के दशक में राज्य लघु औद्योगिक विकास निगमों की भी स्थापना की गयी। राज्य स्तर और राष्ट्रीय स्तर के सभी विकास बैंकों के कार्यों को समन्वित करने के लिये भारत सरकार ने 1964 में एक शिखर संस्था के रूप में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) को स्थापित किया। 1990 में भारत सरकार ने केवल लघु इकाइयों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये एक शिखर बैंक के रूप में भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI) को स्थापित किया। इस प्रकार भारत में राज्य स्तर पर और राष्ट्रीय स्तर पर बहुत से विकास बैंक स्थापित किये गये।

आइये, अब भारत में राष्ट्रीय स्तर के विभिन्न विकास बैंकों के कार्य व उनकी कार्य प्रणाली का अध्ययन करें। राज्य स्तर के विकास बैंकों का अध्ययन इकाई 12 में किया जाएगा।

बोध प्रश्न क

1 निम्नलिखित कथनों में से कौन सही है और कौन गलत :

i) विकास बैंक औद्योगिक संवृद्धि को तीव्र करने में सहायता करते हैं।

ii) विकास बैंक उद्योग को मध्यावधि और अल्पावधि वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं।

iii) वे औद्योगिक उपक्रम जो विकास बैंकों के बजाय अन्य स्रोतों से ऋण जुटाते हैं, इन विकास बैंकों से ऋणों की गारण्टी की सुविधा प्राप्त कर सकते हैं।

iv) विकास बैंक औद्योगिक इकाइयों के शेयरों और ऋणपत्रों के लिये प्रत्यक्ष रूप से अभिदान कर सकते हैं।

v) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक भारत का पहला विकास बैंक है।

2 रिक्त स्थानों को भरिये :

i) सोसाइटे जनरेल डी बेलजीक्यू विश्व में ..... विकास बैंक था।

ii) विकास बैंक .....से पूंजीगत वस्तुएं खरीदने के लिये .....भुगतानों के लिये गारण्टी देता है।

iii) विकास बैंक उद्योग के विकास के लिये तीन मूल संघटक प्रदान करते हैं। ये .....और .....हैं।

11.5 भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India)

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम भारत में स्थापित पहला विकास बैंक है। यह जुलाई, 1948 में संसद के एक विशेष अधिनियम के द्वारा बड़े व मध्यम स्तर के उपक्रमों को दीर्घावधि वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये स्थापित किया गया था।

उद्देश्य

इस निगम को बनाने का मूल उद्देश्य औद्योगिक संस्थाओं को, विशेषतया उन क्षेत्रों में जहां सामान्य बैंकिंग सुविधाएं अपर्याप्त हैं या जहां पूंजी निर्गमन विधि अव्यवहार्य है, मध्यावधि और दीर्घावधि वित्त सुविधाएं आसानी से उपलब्ध कराना है। यह उन कम्पनियों या सहकारी समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है, जो देश में पंजीकृत हैं और जो विनिर्माण, खनन, पोत-परिवहन, होटल आदि से सम्बन्धित हैं। यह लघु उद्योगों और अपंजीकृत कम्पनियों को वित्त प्रदान नहीं करता।

कोषों के स्रोत

इसकी अधिकृत पूंजी 250 करोड़ रु. है। 31 मार्च, 1990 को इसकी प्रदत्त पूंजी 100 करोड़ रु. थी। भारतीय विकास बैंक ने इसकी प्रदत्त पूंजी का 50% भाग दिया है और बाकी भाग अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों, बीमा निगमों, निवेश ट्रस्टों आदि ने दिया है। इसके अतिरिक्त यह बॉंडों के जरिये बाजार से उधार लेता है तथा केन्द्रीय सरकार से ऋण लेता है और विदेशी साख प्राप्त करता है।

प्रबंध और संगठन

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम का प्रबंध एक निदेशक मंडल करता है, जिसमें अंशतः चुने हुए और अंशतः मनोनीत

निदेशक होते हैं। केन्द्रीय सरकार भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के परामर्श से इस मंडल का पूर्णकालिक अध्यक्ष नियुक्त करती है। इस मंडल का गठन निम्नलिखित रूप में किया जाता है :

अध्यक्ष — केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त
दो निदेशक — केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत
एक निदेशक — भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा मनोनीत
तीन निदेशक — भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा मनोनीत
दो निदेशक — बीमा प्रतिष्ठानों और निवेश ट्रस्टों आदि द्वारा चुने हुए
दो निदेशक — सहकारी बैंकों द्वारा चुने हुए

कार्य

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के महत्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं:

1. औद्योगिक प्रतिष्ठानों को ऋण व अग्रिम देना और उनके ऐसे ऋणपत्रों में अभिदान करना जो 25 वर्ष के भीतर शोध्य हों।
2. औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा बाजार से या अनुसूचित बैंकों और सहकारी बैंकों से जुटाए गये ऋणों के लिये गारण्टी देना।
3. औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा शेयरों, ऋणपत्रों और बाँडों के निर्गमन का अभिगोपन करना। लेकिन इसे इन प्रतिभूतियों को 7 वर्षों के अन्दर बेचना होता है।
4. औद्योगिक प्रतिष्ठानों को ऋण स्वीकृत करना।
5. औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा विदेश के किसी बैंक या संस्था से जुटाई गई विदेशी मुद्रा में ऋण की गारण्टी देना। लेकिन इसके लिये केन्द्रीय सरकार से पूर्व अनुमति लेनी होती है।
6. भारत में औद्योगिक प्रतिष्ठानों को केन्द्रीय सरकार और विश्व बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों के बारे में इनके एजेन्ट के रूप में कार्य करना।

तालिका 11.1

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम द्वारा स्वीकृत और दी गई सहायता

(करोड़ रु० में)

वर्ष	स्वीकृतियां	संवृद्धि दर (%)	दी गई सहायता	संवृद्धि दर (%)
1970-71	32.3	—	17.4	—
1971-72	28.7	(—) 11.1	23.3	33.9
1972-73	45.7	59.2	28.0	20.2
1973-74	41.9	(—) 8.3	31.9	13.9
1974-75	29.2	(—) 30.3	37.0	16.0
1975-76	51.3	75.7	34.7	(—) 6.2
1976-77	76.6	49.3	54.9	58.2
1977-78	113.4	48.0	57.5	4.7
1978-79	138.5	22.1	73.5	27.8
1979-80	137.9	(—) 0.4	91.0	23.8
1980-81	206.6	49.8	108.9	19.7
1981-82	218.1	5.6	169.4	55.6
1982-83	230.2	5.5	196.1	15.8
1983-84	321.9	39.8	224.5	14.5
1984-85	415.4	29.0	272.9	21.6
1985-86	499.2	20.2	403.9	48.0
1986-87	798.0	59.9	451.6	11.8
1987-88	1025.1	28.5	660.0	46.1
1988-89	1095.6	85.9	1005.3	52.3
मार्च, 1989 तक संचयी	6569.8	—	4295.3	—

स्रोत: आई.डी.बी.आई., रिपोर्ट ऑन डेवलपमेंट बैंकिंग इन इंडिया, 1988-89, पृष्ठ 22

7. विदेशी निर्माताओं से पूंजीगत वस्तुओं के उधार क्रय की गारण्टी देना। केन्द्रीय सरकार के अनुमोदन पर विदेशी संस्थाओं से जुटाई गई विदेशी मुद्रा में ऋण की गारण्टी देना।
8. औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा निर्गमित शेयरों के लिये प्रत्यक्ष रूप से अभिदान करना।
9. सुलभ ऋण योजना के अन्तर्गत कुछ चुने हुए उद्योगों जैसे सीमेंट, कपड़ा, जूट, इंजीनियरिंग आदि को उनकी मशीनों के आधुनिकीकरण, प्रतिस्थापन और नवीनीकरण के लिये सहायता प्रदान करना।
10. यह निगम बहुत से प्रवर्तन कार्य करता रहा है। इसके लिये आवश्यक वित्त सरकार से प्राप्त हितकारी रिज़र्व कोष (Benevolent Reserve Fund) और विभेदक ब्याज कोषों के आवंटन (Allocation of Interest Differential Funds) से प्रयोग किया जाता है। निगम पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर जोर देता रहा और लघु व मध्यम औद्योगिक उद्यमकर्ताओं का विकास और उनकी सहायता करता रहा है। यह उनको इन इकाइयों की स्थापना और प्रबंध के लिये आवश्यक मार्गदर्शन भी प्रदान करता रहा है।

प्रगति

जून, 1990 में इस निगम ने 42 वर्ष पूरे किये। इस अवधि में इसने औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में एक अग्रगामी संस्था के रूप में कार्य किया है। इसने राष्ट्रीय महत्त्व के विभिन्न उद्यमों को वित्तीय सहायता स्वीकृत की है। निगम द्वारा 1970-71 से हाल ही तक स्वीकृत की गयी सहायता तालिका 11.1 में दिखायी गयी है।

अपनी स्थापना के 42 वर्षों में निगम ने कुल 6,570 करोड़ रु. की वित्तीय सहायता स्वीकृत की और 4,295 करोड़ रु. की सहायता का भुगतान किया। हाल ही में निगम की स्वीकृतियां और भुगतान तेजी से बढ़े हैं। 1988-89 में ही इसने 1,005 करोड़ रु. की स्वीकृतियां दीं। इसी से इस निगम के भारत में औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में बढ़ते हुए महत्त्व का पता लगता है।

अपनी स्थापना के शुरू के वर्षों में निगम द्वारा दी गयी सहायता परम्परागत उद्योगों, जैसे कि चीनी, कपड़ा, जूट आदि तक ही सीमित रही। लेकिन बाद में राष्ट्रीय प्राथमिकताओं और उद्देश्यों का अनुसरण करते हुए इसने गैर परम्परागत उद्योगों जैसे कि मूल धातुओं, उर्वरक, रसायन आदि उद्योगों और बहुत तरह के इंजीनियरिंग उद्योगों को बहुत सहायता दी। 1988-89 से सर्वाधिक सहायता उर्वरक उद्योग को स्वीकृत की गयी (238 करोड़ रु.)। इसके बाद मूल धातुओं (161 करोड़ रु.), सीमेंट (144 करोड़ रु.), बिजली की मशीनों (134 करोड़ रु.), खाद्य उत्पादों (133 करोड़ रु.) और कपड़ा उद्योगों (126 करोड़ रु.) को सहायता दी गयी। इन छः उद्योगों को कुल स्वीकृतियों का लगभग आधा भाग मिला।

भारतीय वित्त निगम द्वारा किये गये कार्यों पर कुछ विवाद है। यदि हम इसकी पूंजी में वृद्धि, स्वीकृत और दी गयी वित्तीय सहायता और इसके लाभों को देखें तो इसके द्वारा किये गये कार्य प्रभावशाली दिखते हैं। लेकिन यदि इसकी क्रियाओं को ध्यान से देखें तो कुछ दूसरी ही स्थिति नज़र आती है। बहुतों ने निगम की कार्यप्रणाली की निम्नलिखित कारणों से आलोचना की है :

1. हालांकि इसने हाल के वर्षों में पिछड़े क्षेत्रों को काफी सहायता दी है, लेकिन इस सहायता का बड़ा भाग विकसित राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों की परियोजनाओं को ही मिला। महाराष्ट्र, गुजरात आदि जैसे विकसित राज्यों के अल्पविकसित क्षेत्रों और असम, उड़ीसा, केरल, राजस्थान और मध्यप्रदेश जैसे अल्पविकसित राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों को समान आधार पर वित्तीय सहायता देना उचित नहीं है।
2. निगम की कार्य प्रणाली की दूसरी आलोचना यह है कि इसने ऐसे बड़े प्रतिष्ठानों को वित्तीय सहायता दी, जो आसानी से पूंजी बाजार से साधन जुटा सकते थे।
3. यह चूक करने वाले ऋणियों पर नियंत्रण करने में असफल हो रहा है।

11.6 भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India)

भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम भारत में स्थापित की जाने वाली अखिल भारतीय स्तर की दूसरी वित्तीय संस्था है। यह जनवरी, 1955 में स्थापित की गयी। यह भारत में अन्य विकास बैंकों से भिन्न निजी क्षेत्रक का निगम है। इस निगम की स्थापना में विश्व बैंक की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

उद्देश्य

इस निगम के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1. औद्योगिक प्रतिष्ठानों को उनके प्रवर्तन, विकास और आधुनिकीकरण के लिए वित्तीय साधन प्रदान करना।
2. निजी क्षेत्र की इकाईयों में विदेशी पूंजी के प्रवाह और सहभागिता को प्रोत्साहित करना।
3. औद्योगिक निवेश में निजी स्वामित्व को प्रोत्साहित करना और निवेश बाजार के क्षेत्र को बढ़ाना।

साधन

इस निगम की अधिकृत पूंजी 200 करोड़ रु. है। 31 मार्च, 1990 को इसकी निर्गमित पूंजी 91.56 करोड़ रु. थी। इसके साधनों का मुख्य स्रोत ऋण है। यह निगम भारत सरकार, विश्व बैंक, विकास ऋण कोष (इसे अब अंतर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी के साथ मिला दिया गया है), Creditan-staltfur-Wiederaufbau (जर्मन सरकार की एक एजेंसी), ब्रिटिश सरकार और भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से ऋण लेता है।

प्रबंध

इसका स्वामित्व और प्रबंध एक निदेशक मंडल के हाथ में है, जिसमें 12 निदेशक होते हैं। मंडल का अध्यक्ष व प्रबंध निदेशक भारत सरकार द्वारा भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से परामर्श करने के बाद नियुक्त किया जाता है।

विभिन्न प्रकार की सहायता

भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम से निम्नलिखित प्रकार की सहायता उपलब्ध है :

1. यह ऐसे ऋण प्रदान करता है, जिन्हें 15 वर्ष में लौटाना होता है।
2. यह शेयर पूंजी में सहभागिता के द्वारा वित्त प्रदान करता है।
3. यह शेयरों और अन्य प्रतिभूतियों के नये निर्गमनों को प्रवर्तित करता है और उनका अभिगोपन करता है।
4. यह निवेश के शीघ्रातिशीघ्र आवर्तन द्वारा निवेश के लिए कोष उपलब्ध कराता है।
5. यह निजी निवेश स्रोतों से प्राप्त ऋणों की गारंटी देता है।
6. यह पूंजीगत उपकरणों के आयात के लिए विदेशी मुद्रा में ऋण प्रदान करता है।

तालिका 11.2

भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम द्वारा स्वीकृत और दी गई सहायता

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	स्वीकृतियां	संवृद्धि दर (%)	दी गई सहायता	संवृद्धि दर (%)
1970-71	43.9	—	28.9	—
1971-72	39.7	9.6	30.3	4.8
1972-73	49.4	24.4	39.7	31.0
1973-74	61.1	23.7	43.5	9.6
1974-75	62.9	2.9	45.4	4.4
1975-76	78.6	25.0	61.1	34.6
1976-77	98.7	25.0	67.3	10.1
1977-78	108.3	9.7	91.6	36.1
1978-79	182.8	68.8	109.2	19.2
1979-80	204.3	11.8	135.8	24.4
1980-81	314.1	53.7	185.3	36.5
1981-82	302.4	(−)3.7	264.7	42.8
1982-83	392.1	29.7	282.2	6.6
1983-84	507.6	29.5	334.2	18.4
1984-85	620.7	22.3	392.7	17.5
1985-86	708.2	14.1	482.2	22.8
1986-87	1118.3	57.9	695.5	44.2
1987-88	1283.3	14.8	771.2	10.9
1988-89	2056.1	60.2	1085.6	40.8
मार्च, 1989 तक संचयी	9313.3	—	6445.0	—

स्रोत : आई.सी.आई., रिपोर्ट ऑन डेवलपमेंट बैंकिंग इन इंडिया, 1988-89, पृष्ठ 28

7. यह उद्योग को प्रबंधकीय, तकनीकी और प्रशासनिक सेवाएं प्रदान करता है।

8. यह पिछड़े क्षेत्रों का विकास करने के लिए प्रवर्तन कार्य करता है।

भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम द्वारा किये गये कार्य

केवल इसी निगम को औद्योगिक प्रतिभूतियों के लिए विदेशों से सहायता प्राप्त करने में विशेषज्ञता प्राप्त है। यह निजी क्षेत्रक में औद्योगिक इकाइयां लगाने में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान कर रहा है। पिछले 35 वर्षों में इसने निजी निगम क्षेत्रक को बहुत सहायता प्रदान की। जैसा कि तालिका 11.2 में दिखाया गया है, 31 मार्च, 1989 तक इसके द्वारा स्वीकृत और दी गयी संचयी वित्तीय सहायता क्रमशः 9,313 करोड़ रु. और 6,445 करोड़ रु. थी।

हाल ही में इसके द्वारा दी गयी सहायता में बहुत वृद्धि हुई है। इसने 1988-89 में ही 2,056 करोड़ रु. की सहायता की स्वीकृति दी और 1,085 करोड़ रु. की सहायता दी।

1988-89 की 2,056 करोड़ की कुल स्वीकृतियों में से भारतीय मुद्रा में ऋण 1,400 करोड़ रु. के थे और 539 करोड़ रु. के ऋण विदेशी मुद्रा में थे, 19 करोड़ रु. अभिगोपन और प्रत्यक्ष अभिदान के लिए थे और 7.9 करोड़ रु. गारंटी के लिए थे।

निगम द्वारा दी गयी वित्तीय सहायता का बड़ा भाग गैर-परम्परागत उद्योगों, जैसे कि रसायन, पैट्रो-केमिकल, भारी इंजीनियरिंग और धातु उत्पादों आदि को मिला। इसके द्वारा दी गयी सहायता को यदि राज्यों के अनुसार देखें तो महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश को इससे बहुत सहायता मिली। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में उड़ीसा, हिमाचल प्रदेश आदि जैसे अल्प विकसित राज्यों को दी गयी सहायता में बहुत वृद्धि हुई।

वर्ष 1988-89 में नई परियोजनाओं को अधिकतम सहायता मिलती रही। लेकिन विस्तार/विविधीकरण योजनाओं को मिली सहायता में सर्वाधिक वृद्धि हुई। विभिन्न क्षेत्रकों को दी गयी सहायता के विश्लेषण से पता चलता है कि निजी क्षेत्रक को अधिकतम सहायता (84%), संयुक्त क्षेत्रक को 12.9%, सहकारी क्षेत्रक को 2.3% और सार्वजनिक क्षेत्र को 0.9% मिली।

भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम द्वारा औद्योगिक इकाइयों को वित्तीय सहायता करने में, खास तौर से निजी क्षेत्रक को वित्तीय सहायता प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। देश में अभिगोपन संस्था के रूप में इसके अग्रगामी कार्य की व्यापक सराहना हुई है। विदेशी मुद्रा में ऋणों का प्रावधान वह दूसरा क्षेत्र है, जिसमें इसने प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

ऊपर बतायी गयी उपलब्धियों के बावजूद इसकी कार्यप्रणाली की निम्नलिखित कारणों से आलोचना की गई है :

1. इसने केवल कुछ ही उद्योगों, जैसे कि रसायन, कपड़ा, सीमेंट, उर्वरक आदि को सहायता प्रदान करने की ओर ध्यान केन्द्रित किया है।
2. इसने राष्ट्रीय प्राथमिकता के अनुरूप संतुलित क्षेत्रीय विकास के लिए प्रभावपूर्ण रूप में कार्य नहीं किया। उदाहरण के लिए, मार्च 1989 तक कुल स्वीकृत संचयी वित्तीय सहायता का 23.4% महाराष्ट्र को, 14.8% गुजरात को, 9.8% उत्तर प्रदेश को, 8.7% तमिलनाडु को और 8.1% आंध्र प्रदेश को मिला। यानि इसके द्वारा स्वीकृत कुल सहायता (7,923 करोड़ रु.) का लगभग 65% इन 5 विकसित राज्यों को मिला।
3. सरकार की नीति के विपरीत यह निजी क्षेत्रक में केवल बड़ी इकाइयों को ही सहायता देता रहा है।

बोध प्रश्न ख

1 रिक्त स्थानों को भरिये :

i) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम का निर्माण मुख्यतः.....और.....वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए किया गया था।

ii) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम.....सरकार और.....द्वारा स्वीकृत किये गये ऋणों के लिए एजेंट के रूप में कार्य करता है।

iii) भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम की अधिकृत पूंजी.....करोड़ रु. है।

2 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

i) भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम ही ऐसा निगम है, जिसे विदेशों से औद्योगिक प्रतिभूतियों के लिए वित्तीय सहायता प्राप्त करने में विशेषज्ञता प्राप्त है।

ii) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना में विश्व बैंक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

iii) भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम द्वारा अपनी स्थापना के शुरू के वर्षों में दी गयी वित्तीय सहायता मुख्यतः परम्परागत उद्योगों, जैसे कि चीनी, जूट आदि तक ही सीमित थी।

iv) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम ने अपने रिज़र्व कोष और विभेदक ब्याज कोषों से प्रवर्तन क्रियाओं के लिए वित्त प्रदान किया है।

v) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम मशीनों के आधुनिकीकरण, प्रतिस्थापन और नवीनीकरण के लिए सुलभ ऋण प्रदान करता रहा है।

11.7 भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India)

अप्रैल 1964 में संसद के एक अधिनियम के द्वारा जुलाई 1964 में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गयी। इस पर भारतीय रिज़र्व बैंक का पूर्ण स्वामित्व था और यह उसका सहायक बैंक था। 16 फरवरी, 1976 से इसे भारतीय रिज़र्व बैंक से अलग कर दिया गया और एक स्वायत्त निगम बना दिया गया। ऐसा इसकी एक शिखर वित्तीय संस्था के रूप में भूमिका को विस्तृत करने के लिए किया गया, ताकि देश की सभी वित्तीय संस्थाओं के बीच प्रभावी समन्वय हो सके।

उद्देश्य

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य अधिकतम औद्योगिक संवृद्धि प्राप्त करने के लिए समन्वित प्रयत्न करना था। इस बैंक की सभी क्रियाओं को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : समन्वय, वित्त प्रबंध और प्रवर्तन। संक्षेप में इसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1. उद्योग को सावधि वित्त प्रदान करने के लिए एक शिखर संस्था के रूप में कार्य करना।
2. वित्त प्रबंध, प्रवर्तन और उद्योगों के विकास में कार्यरत संस्थाओं की कार्य-प्रणाली को समन्वित करना और इन संस्थाओं के विकास में सहायता करना।
3. उद्योग को सावधिक वित्त प्रदान करना।
4. देश के औद्योगिक ढांचे में कमी को पूरा करने के लिए उद्योगों की योजना बनाना तथा उनका प्रवर्तन और विकास करना।
5. उद्योगों के प्रवर्तन और विस्तार के लिए तकनीकी और प्रशासनिक सहायता प्रदान करना।
6. उद्योग के विकास से संबंधित तकनीकी व आर्थिक अध्ययन करना और बाजार और निवेश का अनुसंधान व सर्वेक्षण करना।
7. राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप परियोजनाओं के वित्त प्रबंध के लिए अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करना।

साधन

मार्च, 1989 को इसकी अधिकृत पूंजी 1,000 करोड़ रु. और प्रदत्त पूंजी 540 करोड़ रु. थी। इसके रिज़र्व 608 करोड़ रु. थे। भारतीय रिज़र्व बैंक, केन्द्रीय सरकार और विदेशी स्रोतों से ऋण प्राप्त करने के अतिरिक्त इसने देश के पूंजी बाजार से भी कोष प्राप्त किया।

प्रबंध और संगठन

इसका प्रबंध एक निदेशक मंडल करता है जिसमें केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त एक पूर्णकालिक अध्यक्ष व प्रबंध निदेशक सहित 22 निदेशक होते हैं। मंडल के अन्य सदस्यों में से एक भारतीय रिज़र्व बैंक का प्रतिनिधि होता है, दो केन्द्रीय सरकार के अधिकारी होते हैं, पांच वित्तीय संस्थाओं के प्रतिनिधि होते हैं, छै सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों और राज्य वित्त निगमों के प्रतिनिधि होते हैं, दो वित्तीय संस्थाओं के कर्मचारी होते हैं और भारत सरकार द्वारा मनोनीत ऐसे पाँच सदस्य होते हैं, जिन्हें विशेष ज्ञान और व्यावसायिक अनुभव होता है।

निदेशक मंडल ने एक कार्यकारिणी समिति बनायी है, जिसमें अध्यक्ष व प्रबंध निदेशक सहित 10 निदेशक हैं। निदेशक मंडल नीति संबंधी मामलों पर विचार करता है और कार्यकारिणी समिति वित्तीय सहायता की स्वीकृति के प्रस्तावों व अन्य मामलों पर विचार करती है।

बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है। इसके कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, बम्बई और अहमदाबाद में पाँच क्षेत्रीय कार्यालय हैं। इन क्षेत्रीय कार्यालयों के अतिरिक्त इसकी 11 शाखाएं हैं, जो बंगलौर, भोपाल, भुवनेश्वर, चंडीगढ़, कोचीन, हैदराबाद, जयपुर, जम्मू, कानपुर, पटना और शिमला में स्थित हैं।

कार्य

भारतीय विकास बैंक के कार्य निम्नलिखित हैं :

1. **प्रत्यक्ष वित्तीयन :** यह औद्योगिक संस्थानों को दीर्घावधि ऋण व अग्रिम देकर प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता प्रदान करता है।
2. **ऋणों की गारंटी :** यह औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा खुले बाजार में या बैंकों या अन्य वित्तीय संस्थानों से जुटाए गए ऋणों की गारंटी देता है।
3. **बिलों की स्वीकृति और कटौती :** यह औद्योगिक प्रतिष्ठानों के विनिमय पत्रों, वचन-पत्रों, हुंडियों आदि को स्वीकार करता है तथा उनकी कटौती और पुनर्कटौती करता है।

4. **प्रत्यक्ष अभिदान और अभिगोपन :** यह औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा निर्गमित शेयरों, बाण्डों और ऋणपत्रों के लिए अभिदान करता है और ऐसे निर्गमनों का अभिगोपन भी करता है।

5. **पुनर्वित्तीयन :** यह अनुसूचित बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं को पुनर्वित्तीयन की सुविधाएं प्रदान करता है। इसके पुनर्वित्त में (1) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगमों या अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा 3 वर्ष से 25 वर्ष की अवधि के लिए दिये गये ऋण, (2) किसी औद्योगिक संस्थान को अनुसूचित या सहकारी बैंक द्वारा 3 से 10 वर्ष तक की अवधि के लिए दिये गये ऋण और (3) अनुसूचित बैंक या सहकारी बैंक या किसी अन्य वित्तीय संस्था द्वारा 6 माह से 10 वर्ष की अवधि के लिए दिये गए निर्यात ऋण शामिल होते हैं।

6. **प्रवर्तन क्रियाएं :** यह उद्योग के प्रवर्तन, प्रबंध और विस्तार के लिए तकनीकी और प्रबंधकीय सहायता प्रदान करता है। इसे देश के औद्योगिक ढांचे में कमियों को पूरा करने के लिए उद्योगों के नियोजन, प्रवर्तन और विकास की जिम्मेवारी भी सौंपी गयी है।

7. **अन्य कार्य :** यह विपणन और निवेश के क्षेत्रों में अनुसंधान और सर्वेक्षण भी करता है। यह अपने कार्यों को करने के लिए सहायक संस्थाओं का निर्माण कर सकता है। यह केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये किसी भी कार्य को करता है।

प्रगति

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक भारत का एक प्रमुख विकास बैंक है। इसकी क्रियाओं के आधार पर इसका मूल्यांकन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसकी प्रगति आश्चर्यजनक रही है।

अपनी स्थापना के समय से 1988-89 तक इसके द्वारा स्वीकृत व दी गयी कुल वित्तीय सहायता तालिका 11.3 में दिखायी गयी है। मार्च, 1989 तक इसकी संचयी सहायता 34,400 करोड़ रु. हो गयी और इसने इस अवधि में 25,112 करोड़ रु. के ऋण दिये। आखिर के तीन वर्षों में स्वीकृत और दी गयी सहायता बहुत महत्त्वपूर्ण रही। 1988-89 में इसने 7,117 करोड़ रु. की सहायता की स्वीकृति दी और 4,746 करोड़ रु. दिया।

तालिका 11.3

स्वीकृत और दी गई सहायता

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	स्वीकृतियां	संवृद्धि दर (%)	दी गई सहायता	संवृद्धि दर (%)
1964-65	28.6	—	20.7	—
1970-71	69.6	—	57.6	—
1971-72	148.9	113.9	80.1	39.1
1972-73	96.6	(-) 35.1	81.7	2.0
1973-74	167.0	72.9	137.0	67.7
1974-75	253.7	51.9	203.1	48.2
1975-76	304.6	20.1	223.5	10.0
1976-77	539.6	77.1	341.4	52.8
1977-78	679.5	25.9	410.3	20.2
1978-79	724.8	6.7	618.1	50.6
1979-80	1131.9	56.2	752.9	21.8
1980-81	1291.2	14.1	1014.1	34.7
1981-82	1549.8	20.0	1217.9	20.1
1982-83	1800.2	16.2	1498.5	23.0
1983-84	2303.4	27.9	1774.3	18.4
1984-85	3342.0	45.1	2073.7	16.9
1985-86	3517.2	5.2	2783.9	34.2
1986-87	4427.0	25.9	3205.9	15.2
1987-88	4791.3	8.2	3613.6	12.7
1988-89	7117.6	48.6	4745.8	31.3
मार्च, 1989 तक संचयी	34400.4	—	25112.2	—

स्रोत : आई.डी.बी.आई., रिपोर्ट ऑन डेवलपमेंट बैंकिंग इन इंडिया, 1988-89, पृष्ठ 17।

स्वीकृत वित्तीय सहायता का उद्योगों के अनुसार विश्लेषण करने पर पता चलता है कि मार्च 1989 तक स्वीकृत संचयी सहायता में सेवा उद्योग का भाग सबसे अधिक (17%) रहा। कपड़ा उद्योग का हिस्सा 12.8%, बिजली उत्पादन का 10.6%, विविध रसायन का 6.6%, उर्वरक का 6.6% और खाद्य उत्पादों का 5.5% रहा।

इसके द्वारा स्वीकृत सहायता का बड़ा भाग कुछ विकसित राज्यों को ही मिला। 1989-90 में महाराष्ट्र (737 करोड़ रु.), गुजरात (845 करोड़ रु.), तमिलनाडु (722 करोड़ रु.), उत्तर प्रदेश (784 करोड़ रु.), आंध्र प्रदेश (552 करोड़ रु.) और राजस्थान (523 करोड़ रु.) को इसके द्वारा स्वीकृत सहायता का 60% भाग मिला। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से बैंक ने पिछड़े क्षेत्रों को सहायता में काफी वृद्धि की है।

मार्च 1989 तक संचयी स्वीकृतियों का तीन चौथाई भाग निजी क्षेत्रक की परियोजनाओं को मिला। सार्वजनिक क्षेत्रक को 5,797 करोड़ रु., संयुक्त क्षेत्र को 1,895 करोड़ रु. और सहकारी क्षेत्रक को 675 करोड़ रु. प्राप्त हुए।

राष्ट्रीय विकास में इस बैंक की भूमिका

शिखर बैंक के रूप में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक राष्ट्रीय निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। निम्नलिखित क्षेत्रों में इसका योगदान विशेषतः सराहनीय रहा :

1. **अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना :** इसने रोजगार के अवसरों को बढ़ाने में काफी योगदान किया है। इसके द्वारा उद्यमों को दी गयी सहायता के फलस्वरूप अब तक लगभग 84.7 लाख नौकरियां उपलब्ध करायी गयीं।
2. **कमजोर इकाइयों को सहायता :** यह उन औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए विशेष रूप से सहायक है, जिनके लिए किसी न किसी कारण से सामान्य स्रोतों से वित्त जुटाना कठिन होता है।
3. **लघु इकाइयों का विकास :** 1990 में भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना से पहले इस बैंक ने लघु क्षेत्रक के विकास में विशेष दिलचस्पी ली। इसने लघु क्षेत्रक की समस्याओं का हल करने के लिए इस शिखर संस्था की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।
4. **नये उद्यमकर्ताओं को सहायता :** इसने नये उद्यमकर्ताओं को उदार शर्तों पर वित्त प्रदान करने के अलावा उनकी और कई तरह से सहायता की है, जैसे कि प्रशिक्षण सुविधाएं प्रदान की हैं और बहुत तरह की सेवाएं उन्हें प्रदान की है।
5. **तकनीकी परामर्श संगठनों का प्रवर्तक :** बैंक ने देश के विभिन्न भागों में 8 तकनीकी परामर्श संगठनों को प्रवर्तित किया। ये संगठन परियोजना बनाने, बाजार सर्वेक्षणों और विविध रिपोर्टों आदि में नये व छोटे उद्यमकर्ताओं की जरूरतों को पूरा करते हैं। ये तकनीकी और प्रबंधकीय सहायता भी प्रदान करते हैं। ये नये उद्यमकर्ताओं की पहचान के लिए भी प्रयत्नशील हैं और उन्हें प्रशिक्षण सुविधाएं प्रदान करते हैं।
6. **पिछड़े क्षेत्रों का विकास :** बैंक ने अपने कोषों का एक बड़ा भाग पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित उद्योगों में लगाया है। यह देश के आर्थिक विकास में क्षेत्रीय असंतुलन को ठीक करने में सक्रिय रहा है।
7. **सुलभ ऋण योजना :** बैंक ने कुछ चुने हुए उद्योगों जैसे कपड़ा, जूट, सीमेंट, चीनी, इंजीनियरिंग की औद्योगिक इकाइयों को सुलभ ऋण प्रदान किया। सुलभ ऋण योजना के अन्तर्गत भारतीय औद्योगिक विकास बैंक इन उद्योगों की औद्योगिक इकाइयों की मशीनों के आधुनिकीकरण, प्रतिस्थापन और नवीनीकरण, जो बहुत उपेक्षित रहे हैं, के लिए ऋण स्वीकृत करता है।
8. **सावधि ऋण देने वाली संस्थाओं में समन्वय :** यह देश में सावधि ऋण देने वाली संस्थाओं के बीच सहयोग स्थापित करने में सफल हुआ है। औद्योगिक इकाइयों के वित्त के लिए प्रस्तावों पर अब संयुक्त रूप से विचार किया जाता है और वित्त भी संयुक्त रूप से प्रदान किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप क्रियाओं का परस्पर व्यापन नहीं होता, जोखिमों में विविधता आई है और वित्त प्रबंध राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप है।

आलोचना

1964-65 से 1988-89 की अवधि में बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों, दिये गये ऋणों, लघु क्षेत्रक को सहायता और पिछड़े क्षेत्रों को सहायता में बहुत वृद्धि हुई है। लेकिन यदि इसकी क्रियाओं को ध्यान से देखें तो कुछ कमियां नजर आयेंगी :

1. **दिये गये ऋणों में कमी :** 1980 के दशक में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों में लगातार वृद्धि हुई। लेकिन इसी अवधि में दिये गये ऋणों में कमी आई। उदाहरण के लिए 1980-81 में स्वीकृतियाँ कुल ऋणों का 56% थीं, जो 1984-85 तक बढ़कर 62.4% हो गयीं, जबकि इसी अवधि में दिये गये ऋण 44% से घटकर 37.5% रह गये।
2. **पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर अपर्याप्त ध्यान :** इस बैंक ने पिछड़े राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों की तुलना में विकसित राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों पर अधिक ध्यान दिया। उदाहरण के लिए मार्च 1989 तक इसके द्वारा दी गयी कुल सहायता का 46.8% चार विकसित राज्यों को मिला। महाराष्ट्र को कुल सहायता का 13.5%, गुजरात को 12.2%, उत्तर प्रदेश को 11% और तमिलनाडु को 10.1% मिला। इसके विपरीत 9 पिछड़े राज्यों को इसके द्वारा दी गयी कुल सहायता का केवल 2.4% मिला। इसके अतिरिक्त किसी भी पिछड़े राज्य को इसके द्वारा दी गयी कुल सहायता का 1% से अधिक नहीं मिला।

3. **शहरों की ओर झुकाव :** क्योंकि इसका मुख्य कार्यालय, क्षेत्रीय कार्यालय और शाखा कार्यालय महानगरों और राज्यों की राजधानियों में स्थित हैं, इसलिए इसका शहरों और विशिष्ट वर्गों की ओर ही झुकाव रहा है।
4. **प्रार्थना पत्रों के निपटारे में देरी :** यह कहा जाता है कि बैंक औद्योगिक प्रतिष्ठानों से वित्तीय सहायता के लिए प्राप्त प्रार्थना पत्रों पर निर्णय लेने में अनावश्यक रूप से लम्बा समय लेता है।
5. **बाहर की एजेंसियों के साथ कोई संबंध नहीं :** इसने एशियाई विकास बैंक, विश्व बैंक और अन्य ऐसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ नजदीकी संबंध स्थापित करने के लिए पर्याप्त प्रयत्न नहीं किये।

11.8 अन्य विकास बैंकिंग संस्थाएं (Other Development Banking Institutions)

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम तथा भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के अतिरिक्त राष्ट्रीय स्तर पर कुछ अन्य बैंकिंग संस्थाएं भी हैं। भारतीय औद्योगिक पुनर्निमाण बैंक और भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक ऐसी ही संस्थाएं हैं। आइए, अब इन पर विस्तार से विचार करें।

11.8.1 भारतीय औद्योगिक पुनर्निमाण बैंक Industrial Reconstruction Bank of India)

भारतीय औद्योगिक पुनर्निमाण बैंक की स्थापना एक सांविधिक निगम के रूप में 20 मार्च, 1985 को की गयी। इस बैंक ने भारतीय औद्योगिक पुनर्निमाण निगम के कार्यों को अपने हाथ में ले लिया। **इसका मुख्य उद्देश्य अस्वस्थ उद्योगों के पुनरुत्थान के लिए एक प्रमुख साख और पुनर्निमाण एजेंसी के रूप में कार्य करना था। इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य ऐसी इकाइयों के पुनरुत्थान के लिए काम करने वाली विभिन्न एजेंसियों में समन्वय स्थापित करना था।** इसका प्रबंध एक निदेशक मंडल के हाथ में होता है, जिसमें अध्यक्ष और प्रबंध निदेशक के अतिरिक्त 12 निदेशक होते हैं। ये सभी भारत सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इसकी अधिकृत पूंजी 200 करोड़ रु. थी और जून 1988 तक इसकी प्रदत्त पूंजी 98 करोड़ रु. थी। इसे केन्द्रीय सरकार से प्रतिवर्ष 80 करोड़ रु. बिना ब्याज के प्राप्त करने का विशेषाधिकार है। यह भारत सरकार द्वारा गारंटित विदेशी ऋण भी जुटा सकता है।

इसके कार्य निम्नलिखित हैं :

1. यह सहायता की गयी अस्वस्थ औद्योगिक इकाइयों का प्रबंध अपने हाथ में ले सकता है, उन्हें पट्टे पर दे सकता है, उन्हें चालू संस्थानों के रूप में बेच सकता है या उनके देयताओं को कम करके उनके पुनरुत्थान के लिए योजनाएं बना सकता है।
2. यह ऋण व अग्रिम प्रदान करके और शेयरों व ऋणपत्रों में अभिदान व उनका अभिगोपन करके औद्योगिक विकास में सहायता कर सकता है।
3. इसके कार्य क्षेत्र में आधारिक संरचना सुविधाएं, परामर्श, प्रबंधकीय सेवाएं आदि प्रदान करना भी आता है।

प्रगति

इसने 1988-89 में 208.7 करोड़ रु. की स्वीकृति और 116.5 करोड़ रु. की सहायता दी। जैसा कि तालिका 11.4 में दिखाया गया है; जून 1988 तक इसने 535 इकाइयों की सहायता की और उन्हें दी गयी सहायता 522 करोड़ रु. थी। यदि इसके द्वारा दी गयी सहायता को उद्योगों के अनुसार देखें तो कपड़ा उद्योग को 14.8%, कागज उद्योग को 6.1% और इस्पात उद्योग को 5.6% मिले। जून 1988 तक इसके द्वारा दी गयी वित्तीय सहायता का सबसे बड़ा भाग पश्चिमी बंगाल को मिला (219 करोड़ रु.)। महाराष्ट्र को 55 करोड़ रु. और गुजरात को 50 करोड़ रु. मिले।

जून 1988 तक इसने जिन 535 इकाइयों की सहायता की, उसमें से 257 इकाइयों ने 6,362 करोड़ रु. के मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन किया और 6,450 करोड़ रु. की वस्तुओं की बिक्री की। इस प्रकार इसने अस्वस्थ इकाइयों के पुनरुत्थान के लिए उपयोगी कार्य किया।

तालिका 11.4

भारतीय औद्योगिक पुनर्निमाण बैंक द्वारा स्वीकृत और दिए गए ऋण

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	स्वीकृतियां	दिए गए ऋण
1986-87	148.9	94.6
1987-88	186.5	101.9
1988-89	208.8	116.5
31-3-1989 तक कुल संचयी	912.2	624.1

स्रोत : आई.डी.बी.आई., रिपोर्ट ऑन डेवलपमेंट बैंकिंग इन इंडिया, 1988-89।

इसके द्वारा किये गये उपयोगी कार्यों के बावजूद इसकी निम्नलिखित आलोचनाएं की गयी :

i) इस पर यह दोष लगाया गया कि इसने कुछ चुने हुए उद्योगों, जैसे इंजीनियरिंग और कपड़ा उद्योग की ही सहायता की। इसके द्वारा दी गयी सहायता का लगभग दो-तिहाई भाग इन उद्योगों को ही मिला।

ii) ऋणों की स्वीकृतियों और ऋण देने में बहुत बड़ा अन्तर रहा। स्वीकृत ऋणों में से औसतन 55% ही दिये गये।

iii) इसे जितने आवेदन-पत्र मिलते हैं, उनमें से बहुत कम पर विचार किया जाता है। इस प्रकार बहुत से आवेदन-पत्र अनिर्णीत पड़े हैं।

11.8.2 भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (Small Industries Development Bank of India)

इसकी स्थापना भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक अधिनियम, 1990 के अन्तर्गत भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के स्वामित्व वाले एक सहायक बैंक के रूप में की गयी। यह लघु उद्योगों के प्रवर्तन, वित्त प्रबंध और विकास के लिये एक प्रमुख वित्तीय संस्था है। इससे ऐसे कामों में लगी मौजूदा संस्थाओं के कार्यों को समन्वित करने की भी अपेक्षा की जाती है। इसने अपना कार्य 2 अप्रैल, 1990 से शुरू किया और भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से लघु उद्योग विकास कोष और राष्ट्रीय ईक्विटी कोष का संचालन अपने हाथ में ले लिया है।

11.9 भारत में विकास बैंकों का मूल्यांकन

हाल के वर्षों में राष्ट्रीय स्तर की वित्तीय संस्थाओं जैसे भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम, भारतीय जीवन बीमा निगम, सामान्य बीमा निगम और यूनिट ट्रस्ट ने अपने कार्यों में काफी प्रगति की है। ये वित्त को उद्योगों और सम्बन्धित क्षेत्रों में प्रवाहित करने में प्रेरणा के प्रमुख स्रोत रहे हैं। नयी और नव प्रवर्तन योजनाएं भी बनायी गयीं।

सभी वित्तीय संस्थाओं द्वारा दी गयी स्वीकृतियों और दिये गये ऋणों के बारे में आंकड़े तालिका 11.5 में दिये गये हैं। इस तालिका से यह स्पष्ट है कि विकास बैंकों द्वारा दी गयी ऋणों की स्वीकृतियों और भुगतानों में लगातार वृद्धि हुई है। 1948 से 1964 तक की अवधि में इनके द्वारा कुल स्वीकृत सहायता 458 करोड़ रु. थी। यह 1964-65 में 118 करोड़ रु. थी और 1969-70 में बढ़कर 177 करोड़ रु. हो गयी। 1980 के दशक में स्वीकृतियों व भुगतानों में प्रभावशाली वृद्धि हुई। 1988-89 में स्वीकृत ऋण 13,722 करोड़ रु. तक पहुंच गये। मार्च, 1989 तक कुल संचयी स्वीकृतियां 59,104 करोड़ रु. थी। ऋणों के भुगतान के बारे में भी यही प्रवृत्ति नजर आती है। 1964-65 में दिये गये ऋणों की राशि 91 करोड़ रु. थी, जो 1988-89 में बढ़कर 8,375 करोड़ रू. हो गयी। मार्च, 1989 तक इनका संचयी योग 42,112 करोड़ रु. था।

तालिका 11.5

अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा स्वीकृत व दी गई सहायता

(करोड़ रू. में)

वर्ष	स्वीकृतियां	संवृद्धि दर (%)	दी गई सहायता	संवृद्धि दर (%)
1980-81	2293.5	—	1599.6	—
1981-82	2367.1	3.2	1826.2	14.2
1982-83	2907.2	22.8	2152.2	17.9
1983-84	3721.4	28.0	2687.3	24.9
1984-85	5031.9	35.2	3180.1	18.3
1985-86	5942.9	18.1	4552.9	43.2
1986-87	7237.6	21.8	5204.0	14.3
1987-88	8579.3	18.5	6233.5	19.8
1988-89	13722.8	60.0	8375.3	34.4
मार्च, 1989 तक संचयी	59103.8	—	42112.5	

स्रोत : आई.डी.बी.आई., रिपोर्ट ऑन डेवलपमेंट बैंकिंग इन इंडिया, 1988-89, पृष्ठ 11।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाओं के निम्नलिखित दोष हैं :—

i) **कार्य विधिक विलंब :** आवेदन-पत्र देने से लेकर ऋण के भुगतान करने तक की जाने वाली कार्यविधि जटिल होने से अनावश्यक देरी होती है। जब तक ऋण प्राप्त होता है, तब तक परियोजना की लागत बढ़ जाती है। इससे ऋण प्राप्त करने वाली इकाइयों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

ii) **शहरी और विशिष्ट वर्गों वाला व्यवहार :** क्योंकि सभी विकास बैंकों के सभी कार्यालय (मुख्य कार्यालय, क्षेत्रीय कार्यालय और शाखा कार्यालय) महानगरों और राज्यों की राजधानियों में स्थित हैं, इसलिये इनके कर्मचारियों की ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों तक कोई पहुंच नहीं होती। इन्हें इन क्षेत्रों की समस्याओं को समझने का अवसर ही नहीं मिलता। दूसरी ओर उनका व्यवहार शहरी हो जाता है, जिससे इन बैंकों की स्थापना का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

iii) **विकसित राज्यों की ओर झुकाव :** लगभग सभी विकास बैंकों ने असम, उड़ीसा, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, त्रिपुरा, सिक्किम और नागालैंड जैसे पिछड़े राज्यों को सहायता देने की बजाय महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु और पश्चिमी बंगाल जैसे विकसित राज्यों को सहायता दी। शायद इसका कारण इन राज्यों में आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं की कमी है। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिये कि जब तक औद्योगिक इकाइयों को वित्तीय सहायता नहीं दी जाएगी, आधारिक संरचनात्मक सुविधाएं विकसित करना कठिन होगा।

iv) **ऋणों की विलम्बित अदायगी:** विकास बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों की अदायगी की विलम्बित राशि बढ़ती जा रही है और एक भायनक स्थिति में पहुंच गयी है। बहुत से कानूनी उपाय करने पर भी ऋणों के एक तिहाई भाग की अदायगी बाकी है।

v) **कोषों की कमी:** विकास बैंकों के पास कोषों की कमी है। इनके दायित्व बहुत हैं और साधन सीमित हैं। इसके अतिरिक्त सरकारें भी सहायता देने में असमर्थ हैं। बढ़ती हुई कीमतों और औद्योगिक क्रियाओं के कारण इनके सीमित साधन बढ़ती हुई मांग को पूरा नहीं कर सके।

vi) **समन्वय:** भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के प्रयत्नों के बावजूद इन संस्थाओं के कार्यों में बहुधा समन्वय नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप कार्य में द्विगुणन होता है।

बोध प्रश्न ग

बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत:

i) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक भारत में सवधि वित्त की एक शिखर संस्था है।

ii) मार्च 1989 को भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की प्रदत्त पूंजी 1,000 करोड़ रु. थी।

iii) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक का निदेशक मंडल वित्तीय सहायता की स्वीकृति के प्रस्तावों पर विचार करता है।

iv) देश के औद्योगिक ढांचे में कमियों को पूरा करने के लिये भारतीय औद्योगिक विकास बैंक को उद्योगों के नियोजन, प्रवर्तन और विकास करने की जिम्मेदारी भी सौंपी गयी है।

v) आठ तकनीकी परामर्श संगठन भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा प्रवर्तित किये गये हैं।

vi) लघु उद्योगों को बढ़ावा देने के लिये भारतीय औद्योगिक विकास बैंक एक प्रमुख एजेन्सी है।

vii) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों के प्रतिशत के रूप में दिये गये ऋण घटे हैं।

viii) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की क्रियाएं नये उद्यमकर्ताओं के लिये बाधक सिद्ध हुई हैं।

ix) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक निवेश के क्षेत्र में सर्वेक्षण भी करता है।

11.10 सारांश

विकास बैंक विशेष प्रकार की संस्थाएं हैं जो वित्त निगम और विकास निगम का संयोजन हैं। ये विकास बैंक उद्योग को तीन मूल संघटक प्रदान करने के लिये स्थापित किये गये हैं। ये संघटक 1) पूंजी, 2) ज्ञान, और 3) उद्यम हैं।

यद्यपि विकास बैंकिंग की शुरूआत तो 19वीं शताब्दी के शुरू में ही हो गयी थी लेकिन यह आधुनिक रूप में केवल दूसरे विश्व युद्ध के बाद ही आई। भारत में स्थापित किया गया पहला विकास बैंक भारतीय औद्योगिक वित्त निगम था। यह 1948 में स्थापित किया गया। इसके बाद राज्य वित्त निगम स्थापित किये गये। बाद में भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक और राज्य औद्योगिक विकास निगम स्थापित किये गये।

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक इकाइयों को मध्यावधि और दीर्घावधि साख प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त यह ऋणों की गारण्टी देता है; शेयरों, ऋण पत्रों और बांडों का अभिगोपन करता है और उद्योग द्वारा निर्गमित शेयरों में प्रत्यक्ष रूप से अभिदान करता है। अपनी स्थापना के 42 वर्षों में इसने लगभग 6,600 करोड़ रु. के ऋण स्वीकृत किया और इसमें से 1,005 करोड़ रु. की स्वीकृतियां केवल 1988-89 में दी। यद्यपि इसने अच्छा कार्य किया लेकिन इसकी बड़े प्रतिष्ठानोन को और विकसित राज्यों में पिछड़े क्षेत्रों को सहायता प्रदान करने के लिये आलोचना की गयी है।

भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम की स्थापना 1955 में निजी स्वामित्व वाले निगम के रूप में की गयी। एक विकास बैंक के सामान्य उद्देश्यों के अलावा इसके मुख्य उद्देश्य हैं: निजी क्षेत्रक में विदेशी पूंजी की सहभागिता को प्रोत्साहित करना और उद्योग में निजी निवेश को प्रोत्साहित करना। यह ऋण, अभिगोपन, गारण्टी, और पूंजी में सहभागिता की सुविधाएं प्रदान करता है। इसका मुख्य लाभ गैर-परम्परागत उद्योगों को मिला।

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना पूर्णतया भारतीय रिजर्व बैंक के स्वामित्व में एक सहायक बैंक के रूप में 1964 में की गयी। लेकिन 1976 में इसे एक स्वायत्त संस्था बना दिया गया और इसे एक शिखर वित्तीय संस्था की भूमिका निभाने को कहा गया। यह सावधि वित्त तथा तकनीकी व प्रशासनिक सहायता प्रदान करता है और उन संस्थाओं की कार्यप्रणाली में समन्वय करता है जो उद्योग के लिये वित्त प्रबंध और उनके प्रवर्तन में कार्यरत हैं। यह अनुसूचित बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं को पुनर्वित्त सुविधाएं भी प्रदान करता है। इसके द्वारा स्वीकृत दी गयी वित्तीय सहायता के आधार पर इसका कार्य बहुत अच्छा रहा। लेकिन इस वित्तीय सहायता का बड़ा भाग महाराष्ट्र, गुजरात और तमिलनाडु आदि जैसे विकसित राज्यों को मिला। कुल सहायता का 75% निजी क्षेत्रक को मिला। तथापि, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने कमजोर औद्योगिक इकाइयों की सहायता करके, लघु इकाइयों का विकास करके और पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिये कोष प्रदान करके काफी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

भारतीय औद्योगिक पुनर्निमाण बैंक की स्थापना भारत में अस्वस्थ उद्योगों के पुनरुत्थान में सहायता करने के लिये की गयी। इसने अस्वस्थ इकाइयों के पुनरुत्थान में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, लेकिन केवल कुछ चुने हुए उद्योगों को सहायता देने, इसकी कार्यप्रणाली तथा इसकी स्वीकृतियों और दिये गये ऋणों में बहुत अन्तर के आधार पर इसकी आलोचना की जाती है। भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना लघु उद्योगों के प्रवर्तन, वित्त प्रबन्ध और विकास के लिये 1990 में की गयी।

11.11 शब्दावली

अधिकृत पूंजी (Authorised Capital): शेयर पूंजी की वह राशि जिसे कम्पनी की अंतर्नियमावली और सीमानियम में देना कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत आवश्यक होता है।

विकास बैंक (Development Bank): एक वित्तीय एजेन्सी जो औद्योगिक संस्थाओं को ऋणों के रूप में मध्यावधि और दीर्घावधि आर्थिक सहायता प्रदान करती है।

प्रदत्त पूंजी (Paid up Capital): कम्पनी की निर्गमित पूंजी का वह भाग जो शेयरधारकों ने दे दिया है।

11.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1 i) सही ii) गलत iii) सही iv) सही v) गलत

2 i) सबसे पहला ii) विदेशों, आस्थगित iii) पूंजी, ज्ञान और उद्यम

ख 1 i) मध्यावधि, दीर्घावधि ii) केन्द्रीय, विश्व बैंक iii) 200

2 i) सही ii) गलत iii) गलत iv) सही v) सही

ग 1 i) सही ii) गलत iii) गलत iv) सही v) सही vi) गलत vii) सही viii) गलत ix) सही

11.13 स्वपरख प्रश्न

1 सावधि ऋण देना क्या होता है? सावधि वित्त की समस्या के हल के लिये भारत में हाल ही में स्थापित विशेष संस्थाओं की भूमिका का विवेचन कीजिये।

2 एक शिखर संस्था के रूप में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की भूमिका का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिये।

3 भारतीय औद्योगिक वित्त और निवेश निगम के उद्देश्यों और उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।

4 क्या भारत में बहुत सी विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की स्थापना से भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की कोई भूमिका नहीं रही? विवेचन कीजिये!

इकाई 12 सावधिक ऋण देने वाली वित्तीय संस्थाएं (Term-lending Financial Institutions): राज्य स्तर पर

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 राज्य स्तर पर सावधिक ऋण देने वाली संस्थाओं की आवश्यकता

12.3 राज्य वित्त निगमें

12.4 राज्य औद्योगिक विकास निगमें

12.5 तकनीकी परामर्श संगठन

12.6 सारांश

12.7 शब्दावली

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.9 स्वपरख प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगें कि:

- राज्य स्तर पर विकास बैंकों की आवश्यकता बता सकें
- राज्य स्तर पर सावधिक ऋण देने वाली संस्थाओं के उद्देश्यों, साधनों व कार्यों का वर्णन कर सकें
- राज्य स्तर पर सावधिक ऋण देने वाली संस्थाओं के कार्यों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकें

12.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपको अखिल भारतीय सावधिक ऋण देने वाली विभिन्न वित्तीय संस्थाओं के बारे में जानकारी दी गयी थी। आपने उनके उद्देश्यों, प्रबंध, कार्यों और कार्य प्रणाली का अध्ययन किया। इस इकाई में आप भारत में राज्य स्तर पर के विकास बैंकों से सम्बन्धित विभिन्न मामलों के बारे में अध्ययन करेंगे।

12.2 राज्य स्तर पर सावधिक ऋण देने वाली संस्थाओं की आवश्यकता (Need for State Level Term Lending Institutions)

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI) की अखिल भारतीय स्तर पर स्थापना 1948 में की गयी थी। इसकी स्थापना केवल बड़े उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए ही की गयी थी। मध्यम और लघु उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताएं इसके द्वारा पूरी नहीं की जानी थी। इसलिये, सरकार ने क्षेत्रीय स्तर पर ऐसे विकास बैंक शुरू करने की आवश्यकता महसूस की जो लघु उद्योग को सहायता दें। परिणामस्वरूप, सभी राज्यों में राज्य वित्त निगम (SFCs) और राज्य औद्योगिक विकास निगम (SIDCs) स्थापित किये गये। राज्य स्तर पर विकास बैंकों की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों से की गयी:

1) राज्य में औद्योगिक इकाइयों को, खास तौर से लघु इकाइयों को, वित्तीय सहायता प्रदान करना।

2) औद्योगिक बस्तियों की स्थापना और उनका प्रबंध।

3) आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं जैसे सड़कें, बिजली, जल-निकास और जल आपूर्ति के प्रावधान के द्वारा राज्यों के अल्पविकसित भागों पर ध्यान केंद्रित करना।

4) मध्यम और ऊंचे स्तर के तकनीशियनों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये संस्थाएं स्थापित करना।

5) विकासात्मक बैंकिंग क्रियाओं का विकेन्द्रीकरण करना और उन्हें राज्य के अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों तक ले जाना।

6) ऋण लेने वालों और ग्राहक-गणों को बेहतर पहुंच प्रदान करना।

7) स्थानीय स्थितियों और समस्याओं की पूरी जानकारी प्राप्त करना।

8) भाषा और सम्पर्क की समस्या को दूर करना।

आइये राज्य स्तर की दो महत्त्वपूर्ण सावधिक ऋण देने वाली संस्थाओं यानि राज्य वित्त निगम और राज्य औद्योगिक विकास निगम और इनके साथ-साथ तकनीकी परामर्श संगठनों (TCOs) के कार्यों, इनके द्वारा प्रदान की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सहायता और कार्य प्रणालियों का अध्ययन करें।

12.3 राज्य वित्त निगमें (State Financial Corporations)

राज्य वित्त निगम अधिनियम, 1951 में लागू किया गया ताकि सभी राज्य सरकारें (जम्मू व कश्मीर को छोड़कर) क्षेत्रीय विकस बैंकों के रूप में राज्य वित्त निगमों की स्थापना कर सकें। इन निगमों को अपने-अपने राज्य में लघु व मध्यम औद्योगिक इकाइयों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करना था। पहला राज्य वित्त निगम पंजाब में 1953 में स्थापित किया गया। इसके बाद आंध्र प्रदेश और बिहार की राज्य सरकारों ने 1960 में राज्य वित्त निगम स्थापित किये और उसके बाद उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, गुजरात, महाराष्ट्र और उड़ीसा ने। आजकल देश में विभिन्न राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में 18 राज्य वित्त निगम कार्य कर रहे हैं।

वित्तीय साधन

राज्य वित्त निगम की पूंजी की संरचना सम्बद्ध राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है। इनकी न्यूनतम पूंजी 50 लाख रु. है और अधिकतम 5 करोड़ रु.। इन्हें शेयर पूंजी के निर्गमन और राज्य सरकारों द्वारा गारण्टी दिये गये बांडों व ऋणपत्रों के निर्गमन द्वारा कोष जुटाने का भी अधिकार प्राप्त है। ये जनता से मध्यावधि व दीर्घावधि जमाएं भी स्वीकार कर सकते हैं। इन सबके अलावा ये अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण भी ले सकते हैं।

प्रबंध

प्रत्येक राज्य वित्त निगम का प्रबंध 12 सदस्यों के एक निदेशक मंडल द्वारा किया जाता है। सम्बद्ध राज्य सरकार इसका अध्यक्ष और प्रबंध संचालक नियुक्त करती है और 3 निदेशक मनोनीत करती है। भारतीय औद्योगिक वित्त निगम और भारतीय औद्योगिक विकास बैंक एक-एक निदेशक मनोनीत करते हैं। तीन निदेशक वित्तीय संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं। एक-एक निदेशक अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं से होते हैं। एक निदेशक गैर-संस्थागत शेयर होल्डरों द्वारा चुना जाता है।

सहायता के प्रकार

राज्य वित्त निगम निम्नलिखित प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं:

1) उद्योगों को भूमि, भवन व मशीन के क्रय के लिये दीर्घकालीन ऋण देना।

2) भारत में सप्लायरों से आस्थिगत भुगतान पर मशीन खरीदने के लिये उद्यमकर्ता की ओर से भुगतान की गारंटी देना।

3) औद्योगिक संस्थाओं के शेयरों, बाण्डों और ऋणपत्रों के निर्गमन का अभिगोपन करना।

4) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा 20 वर्ष की अवधि तक के लिये जुटाये गये ऋणों की गारंटी देना।

5) स्थायी परिसम्पत्तियां प्राप्त करने के लिये उद्योगों द्वारा व्यापारिक बैंकों या सहकारी बैंकों से जुटाए गये ऋणों की गारण्टी देना।

6) औद्योगिक इकाइयों के ऋणपत्रों में अभिदान करना।

7) विश्व बैंक साख के अन्तर्गत उद्योगों के लिये विदेशी विनिमय ऋणों का प्रावधान करना।

8) 2 लाख रु. तक की विशेष पूंजीगत सहायता देना।

9) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI) और भारतीय औद्योगिक साख एवं निवेश निगम (ICICI) जैसी केन्द्रीय वित्तीय संस्थाओं के सहयोग से उद्योगों को ऋण देना और राज्य औद्योगिक विकास निगमों तथा व्यापारिक बैंकों के साथ परियोजनाओं का संयुक्त वित्त प्रबन्ध करना।

10) राज्य या केन्द्रीय सरकार के या केन्द्रीय सरकार द्वारा इस बारे में घोषित किसी अन्य वित्तीय संस्था के एजेन्ट के रूप में कार्य करना।

पात्रता (Eligibility)

किसी भी प्रकार के स्वामित्व वाली औद्योगिक संस्थाएं जैसे कि एकल स्वामित्व वाली संस्था, संयुक्त हिन्दू परिवार, पंजीकृत सहकारी समिति, निजी या सार्वजनिक सीमित कंम्पनी, जो निम्नलिखित क्रियाओं में से किसी एक या एक से अधिक में कार्यरत हैं या कार्यरत होना चाहती हैं, वे वित्तीय सहायता प्राप्त करने योग्य होती हैं।

1) वस्तुओं का विनिर्माण
2) वस्तुओं का परिरक्षण
3) वस्तुओं का प्रक्रमण
4) खनन
5) होटल उद्योग
6) औद्योगिक बस्ती का विकास
7) बिजली या शक्ति के किसी अन्य रूप का उत्पादन व वितरण
8) परिवहन उद्योग
9) मशीन या शक्ति की सहायता से किसी वस्तु का समनुक्रमण (assembling), मरम्मत या पैकिंग।
10) मछली पकड़ना या मछली पकड़ने के लिये तटीय सुविधाएं प्रदान करना या उसका अनुरक्षण।
11) औद्योगिक संवृद्धि के प्रवर्तन के लिये विशेष या तकनीकी ज्ञान या अन्य सेवाएं प्रदान करना।

राज्य वित्त निगमों द्वारा किये गये कार्य

1950 और 1960 के दशकों में राज्य वित्त निगमों ने साधारण स्तर पर कार्य किया। लेकिन 1970 के दशक में इनकी क्रियाओं में तीव्र वृद्धि हुई। इसका कारण यह था कि इस अवधि में सरकार ने लघु उद्योगों, नये उद्यमकर्ताओं और पिछड़े क्षेत्रों के विकास को बढ़ावा देने पर जोर दिया। मार्च 1989 तक इनकी संचयी स्वीकृतियां और भुगतान क्रमशः 8,651 करोड़ रु. और 6,356 करोड़ रू. थे। वर्ष 1988-89 में ही इनकी स्वीकृतियां व भुगतान क्रमशः 1,405 करोड़ रु. और 1,053 करोड़ रु. थे। राज्य वित्त निगमों द्वारा दी गयी वित्तीय सहायता का विस्तृत विवरण तालिका 12.1 में दिया गया है।

तालिका 12.1

1965-66 से 1988-89 के बीच राज्य वित्त निगमों द्वारा स्वीकृत और भुगतान की गई सहायता

1965-66	25.3	—	18.0	—
1970-71	49.6	—	33.5	—
1971-72	64.1	29.2	39.6	18.2
1972-73	78.7	22.8	44.7	12.9
1973-74	103.1	31.0	54.6	22.1
1974-75	141.8	37.5	79.6	45.8
1975-76	155.5	9.7	98.8	24.1
1976-77	163.3	5.0	105.2	6.5
1977-78	166.2	1.7	107.4	2.1
1978-79	200.7	20.8	135.0	25.7
1979-80	263.8	31.4	184.8	36.9
1980-81	370.5	40.4	248.0	34.2
1981-82	509.6	37.5	317.7	28.1
1982-83	611.6	20.0	404.0	27.2
1983-84	644.9	5.4	435.5	7.8
1984-85	713.1	15.2	497.7	14.3
1985-86	1009.1	35.8	608.5	22.3
1986-87	1,210.8	20.0	791.9	30.1
1987-88	1,284.7	6.1	938.0	18.4
1988-89	1,404.7	9.3	1,053.1	12.3
मार्च, 1989 तक संचयी	8,651.5	—	6,356.2	—

स्रोतः आई.डी.बी.आई., भारत में विकास बैंकिंग पर रिपोर्ट, 1988-89, पृष्ठ 49

राज्य वित्त निगम अपने-अपने राज्यों में लघु व मध्यम पैमाने के प्रतिष्ठानों के वित्त प्रबंध में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। लेकिन इनकी निम्नलिखित कारणों से आलोचना की जाती है :

1. **प्राप्य राशि की वसूली** : प्राप्य राशि की वसूली संतोषजनक नहीं है। उदाहरण के लिए 1979-80 में इनकी बकाया राशि 215 करोड़ रु. थी, जो 1984-85 तक तीन गुनी यानि 623 करोड़ रु. हो गयी। बहुत से राज्य वित्त निगमों की पुरानी बकाया राशि उनके द्वारा दिये जा रहे ऋणों की राशि से अधिक है। दूसरी व्याकुल करने वाली प्रवृत्ति यह है कि अतिदेय राशि और बकाया ऋणों का अनुपात बढ़ता जा रहा है, जैसा कि तालिका 12.2 में नजर आता है। बढ़ती हुई बकाया राशि का राज्य वित्त निगमों के साधनों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

तालिका 12.2

अतिदेय राशि बकाया ऋणों के प्रतिशत के रूप में

वर्ष	प्रतिशत
1980-81	25
1981-82	26
1982-83	26
1983-84	27
1984-85	29

स्रोत : इकनॉमिक टाइम्स, सितम्बर 15, 1986.

2. **बहुत छोटे उद्योगों को सहायता** : राज्य वित्त निगमों द्वारा लघु उद्योगों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता घटती जा रही है। यह प्रवृत्ति तालिका 12.3 से स्पष्ट हो जाती है। 50,000 रु. तक की सहायता प्राप्त करने वाली इकाइयों का हिस्सा, संख्या और राशि दोनों ही दृष्टि से घट रहा है। इसके विपरीत 10 लाख रु. से अधिक की सहायता की स्वीकृति प्राप्त करने वाली इकाइयों का हिस्सा, संख्या और राशि दोनों ही दृष्टि से निरंतर बढ़ रहा है। इसके अतिरिक्त 1984-85 के दौरान जिन इकाइयों को 10 लाख रु. से अधिक के ऋण स्वीकृत किये गये उनके 6.2% को राज्य वित्त निगमों द्वारा दी गयी कुल सहायता का लगभग 50% भाग मिला। इसके मुकाबले लघु इकाइयों को कुल इकाइयों का 42% हैं, राज्य वित्त निगमों द्वारा दी गयी कुल स्वीकृतियों का केवल 3.5% मिला।

तालिका 12.3

सहायता के आकार के अनुसार वर्गीकरण

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	50,000 रु. तक की सहायता		10 लाख रु. से ऊपर की सहायता	
	इकाइयों की संख्या	राशि	इकाइयों की संख्या	राशि
1980-81	19,603 (67.8)	28.82 (7.8)	787 (2.7)	142.95 (38.6)
1981-82	19,158 (59.8)	28.42 (5.6)	1,158 (3.6)	281.07 (43.4)
1982-83	17,382 (51.0)	27.99 (4.6)	1,366 (4.1)	256.63 (42.0)
1983-84	14,930 (48.1)	28.46 (4.4)	1,528 (4.9)	295.70 (16.0)
1984-85	13,087 (41.5)	26.89 (3.5)	1,955 (6.2)	385.13 (49.4)

नोट : ब्रैकेटों में दी गई संख्या कुल के प्रतिशत को बताती है।
स्रोत : इकानॉमिक टाइम्स, सितम्बर 15, 1986.

3. **अपर्याप्त साधन:** बहुत से राज्य वित्त निगमों के पास वित्तीय सहायता की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने केलिये पर्याप्त साधन नहीं हैं। पिछले कुछ वर्षों में राज्य सरकारों का ध्यान कल्याणकारी कार्यक्रमों पर अधिक केन्द्रित रहा है। अतः राज्य वित्त निगमों के लिये अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिये कोषों की व्यवस्था करना बहुत कठिन लग रहा है।

4. **बढ़ती हुई अस्वस्थता:** जिन इकाइयों की सहायता की गयी उनमें से बहुत सी इकाइयां अस्वस्थ हो रही हैं जिससे ऋणों का भार बढ़ रहा है।

5. **बहुत अधिक औपचारिकताएं:** राज्य वित्त निगम ऋण के लिये आवेदन पत्रों पर विचार करने की और उनकी छानबीन करने की पुरानी प्रक्रिया को ही अपना रहे हैं। परिणामस्वरुप, किसी ऋण के लिये जब तक स्वीकृति दी जाती है और उसका भुगतान किया जाता है तब तक व्यावसायिक स्थिति में इतने परिवर्तन हो सकते हैं कि परियोजना आकर्षक ही न रहे।

बोध प्रश्न क

1 राज्य स्तर पर सावधिक ऋण देने वाली संस्थाओं की आवश्यकता किन कार्यों के लिए महसूस की गई?

.....

.....

.....

.....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलतः

i) राज्य वित्त निगमों के निदेशक मंडल के सभी निदेशक सम्बद्ध राज्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं।

ii) राज्य वित्त निगम बड़े उद्योगों को ऋण देते हैं।

iii) राज्य वित्त निगम ऋणों की वसूली कुशलतापूर्वक नहीं कर पाये हैं।

iv) लगभग सभी राज्य वित्त निगमों के पास अतिरिक्त कोष हैं।

v) राज्य वित्त निगम औद्योगिक इकाइयों की ओर से भुगतान की गारंटी देने की सुविधा प्रदान करते हैं।

12.4 राज्य औद्योगिक विकास निगमें (State Industrial Development Corporations)

1960 से बहुत से राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों ने अपने-अपने राज्यों में औद्योगिक विकास को तेज करने के लिये राज्य औद्योगिक विकास निगम (SIDC) शुरू किये। कुछ राज्यों में इन्हें राज्य औद्योगिक निवेश निगम (State Industrial Investment Corporation) भी कहते हैं। सबसे पहले आंध्र प्रदेश और बिहार ने 1960 में इनकी स्थापना की, इसके बाद 1961 में केरल और उत्तर प्रदेश ने और 1962 में महाराष्ट्र, गुजरात और उड़ीसा ने। 1988 तक 26 राज्य औद्योगिक विकास निगम थे, जो पूरे देश में फैले हुए थे।

वित्तीय साधन

प्रदत्त पूंजी और राज्य सरकारों से ऋणों के अतिरिक्त राज्य औद्योगिक विकास निगम बांडों और ऋणपत्रों के द्वारा बाजार से भी कोष उधार लेता है और भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से पुनर्वित्त के द्वारा सहायता प्राप्त करता है। 1988-89 में राज्य औद्योगिक विकास निगमों द्वारा एकत्र किये गये 1,113 करोड़ रु. के कुल साधनों में विभिन्न स्रोतो का योगदान इस प्रकार था:

1) प्रदत्त पूंजी में वृद्धि	10.1%
2) बांडों के द्वारा ऋण	2.8%
3) ऋणियों द्वारा अदायगी	14.8%
4) संस्थागत ऋण	33.5%
5) अन्य	38.8%

प्रबंध

राज्य औद्योगिक विकास निगम अपनी-अपनी राज्य सरकारों के मार्ग दर्शन के अन्तर्गत कार्य करते हैं। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के एक मनोनीत सदस्य को छोड़कर निदेशक मंडलों के अन्य सभी सदस्य राज्य सरकारों द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। ये मंडल जब भी और जैसे भी आवश्यक समझते हैं विशेष समितियां बनाते हैं। ये समितियां मंडल को व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न मामलों पर सलाह देती हैं। प्रबंध निदेशक राज्य औद्योगिक विकास निगम का प्रमुख प्रशासक होता है। वह दिन-प्रतिदिन की व्यवस्था की देख भाल करता है।

कार्य

राज्य औद्योगिक विकास निगम के कार्य निम्नलिखित हैं:

1. औद्योगिक क्रियाओं को बढ़ावा देना, जैसे कि परियोजना की पहचान, व्यवहार्यता रिपोर्ट तैयार करना, उद्यमकर्ताओं का पता लगाना और परियोजना के कार्यान्वयन में उनकी सहायता करना।
2. संयुक्त क्षेत्र में या पूर्ण स्वामित्व वाली सहायक इकाइयों के रूप में मध्यम व बड़ी औद्योगिक परियोजनाओं की स्थापना करना।
3. आधारिक संरचनात्मक सुविधाएं और बाजार समाचार सेवाएं प्रदान करना।
4. सावधिक ऋण/पूरक ऋण (bridge loan) के द्वारा वित्तीय सहायता देना और ईक्विटी व पूर्वाधिकार शेयरों का अभिगोपन या अभिदान करना।
5. अनुदान, प्रोत्साहन आदि देने के बारे में राज्य व केन्द्रीय सरकारों के एजेन्ट के रूप में कार्य करना।

राज्य औद्योगिक विकास निगम द्वारा किये गये कार्य

राज्य औद्योगिक विकास निगमों द्वारा दी गयी स्वीकृतियां और भुगतान तालिका 12.4 में दिये गये हैं। जैसा कि इस तालिका से स्पष्ट है मार्च 1989 तक इनकी संचयी स्वीकृतियां और भुगतान क्रमशः 4,356 करोड़ रु. और 3,136 करोड़ रु. थे वर्ष 1988-89 के दौरान स्वीकृतियां और भुगतान क्रमशः 742 करोड़ रु. और 531 करोड़ रु. थे। हाल के वर्षों में राज्य औद्योगिक विकास निगमों के कार्यों का तेजी से विस्तार हुआ है और यह तथ्य इस बात से प्रकट होता है कि 1985 से 1989 तक की चार वर्ष की अवधि में इनके द्वारा दी गयी कुल सहायता इनकी स्थापना से 1985 तक की अवधि में दी गयी सहायता से अधिक थी।

तालिका 12.4

राज्य औद्योगिक विकास निगमों द्वारा स्वीकृत और भुगतान की गई सहायता

वर्ष	स्वीकृतियां		भुगतान	
	राशि (करोड़ रु. में)	संवृद्धि दर (%)	राशि (करोड़ रु. में)	संवृद्धि दर (%)
1971-72	23.6		14.4	
1972-73	23.5	(—) 0.4	16.6	15.3
1973-74	27.9	18.7	20.6	24.1
1974-75	33.5	20.1	26.7	29.6
1975-76	37.5	11.9	26.4	(—) 1.1
1976-77	71.8	91.5	35.0	32.6
1977-78	87.9	22.4	44.8	28.0
1978-79	98.3	11.8	60.1	34.2
1979-80	157.7	60.4	85.3	41.9
1980-81	216.4	37.2	124.6	46.1
1981.82	299.6	38.4	191.1	53.4
1982-83	296.6	(—) 1.0	208.0	8.8
1983-84	364.6	22.9	236.5	13.7
1984-85	477.9	31.1	297.6	25.8
1985-86	527.0	10.3	364.0	22.3
1986-87	570.3	8.2	425.1	16.8
1987-88	619.4	8.6	449.1	5.6
1988-89	742.3	19.8	530.7	18.2
मार्च, 1989 तक संचयी	4356.4		3135.8	

स्रोत: आई.डी.बी.आई, भारत में विकास बैंकिंग पर रिपोर्ट, 1988-89 पृष्ठ 56.

राज्य औद्योगिक विकास निगम उद्योग के संरचनात्मक रूपान्तरण में बहुत सहयोग दे रहे हैं। वास्तव में इनके द्वारा दी गयी कुल स्वीकृतियों में 60% गैर-परम्परागत उद्योगों जैसे रेसायन, मूल धातु और धातु की वस्तुएं, मशीन आदि के लिये थीं। इनके द्वारा पिछडे क्षेत्रों में औद्योगिक विकास को तेज करने के लिये दी जाने वाली सहायता बहुत बढ़ रही है। उदाहरण

के लिये मार्च 1989 तक इनकी संचयी स्वीकृतियों का 62.9% पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों के लिये था। तालिका 12.5 देखिये जिसमें राज्य औद्योगिक विकास निगमों द्वारा पिछड़े क्षेत्रों को स्वीकृत सहायता का ब्योरा दिया गया है।

तालिका 12.5

राज्य औद्योगिक विकास निगमों द्वारा पिछड़े क्षेत्रों को स्वीकृत सहायता

(करोड़ रु० में)

वर्ष	पिछड़े हुए क्षेत्र	जो क्षेत्र पिछड़े हुए नहीं हैं	कुल
1986-87	362.0	208.3	570.3
	(63.5)	(36.5)	(100.0)
1987-88	411.2	208.2	619.4
	(66.4)	(33.6)	(100.0)
1988-89	438.9	303.4	742.3
	(59.1)	(40.9)	(100.0)
मार्च, 1989 तक संचयी	2,741.4	1,615.0	4,356.4
	(62.9)	(37.1)	(100.0)

नोट: ब्रैकेटों में दिए गए अंक कुल के प्रतिशत के द्योतक हैं।
स्रोत: आई.डी.बी.आई., भारत में विकास बैंकिंग पर रिपोर्ट, 1988-89.

प्रारंभिक पूंजी (Seed Capital) के लिये सहायता: राज्य औद्योगिक विकास निगम भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (Small Industries Development Bank of India) की ओर से प्रारंभिक पूंजी योजना चलाकर उद्यम आधार को विस्तृत करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। इस योजना के अन्तर्गत उन नये उद्यमकर्ताओं को जिनके पास आवश्यक कौशल तो है लेकिन पर्याप्त साधन नहीं है, ईक्विटी की तरह की सहायता प्रदान की जाती है।

लेकिन राज्य औद्योगिक विकास निगमों की निम्नलिखित समस्याएं व कमियाँ हैं—

1) इनमें से बहुतों को कोषों की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। कोषों की वर्तमान उपलब्धता औद्योगिक इकाइयों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं है।

2) लगभग सभी राज्य औद्योगिक विकास निगमों के लिये उपरिव्यय (Overheads) एक बड़ी समस्या बन रही है।

3) इनकी क्रियाओं में राजनीतिक हस्तक्षेप भी बढ़ रहा है।

12.5 तकनीकी परामर्श संगठन (Technical Consultancy Organisation)

वित्त की उपलब्धता के अतिरिक्त तकनीकी परामर्श सेवाओं की भी देश के आद्योगिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। बड़े उद्योग तो अलग से तकनीकी परामर्श विभाग रखने में समर्थ होते हैं या वे अच्छे परामर्श संगठनों से सहायता ले सकते हैं और इस पर काफी पैसा खर्च कर सकते हैं।

लेकिन पूर्णतया व्यावसायिक आधार पर कार्य करने वाली निजी परामर्श इकाइयों की सेवा प्राप्त करने की लागत लघु इकाइयों की सामर्थ्य से बाहर होती है। ऐसी स्थिति के कारण ही 1970 के दशक के शुरू के वर्षों में तकनीकी परामर्श संगठनों की स्थापना की गयी। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक % भारतीय औद्योगिक वित्त निगम और भारतीय औद्योगिक साख और निवेश निगम ने राज्य स्तर की वित्तीय विकास संस्थाओं और व्यापारिक बैंकों के सहयोग से तकनीकी परामर्श संगठनों का एक जाल सा बिछा दिया। आजकल देश में 17 तकनीकी परामर्श संगठन हैं और इनमें से कुछ एक से अधिक राज्यों में कार्य करते हैं।

तकनीकी परामर्श संगठन एक ही स्थान पर परियोजना के जितने भी चरण हैं उन सभी के लिये सभी परामर्श सेवायें प्रदान करने के लिये स्थापित किये गये हैं। ये संगठन राज्य सरकारों, राज्य स्तर की विकासात्मक वित्तीय संस्थाओं और बैंकों को भी तकनीकी परामर्श सेवाएं प्रदान करते हैं। तकनीकी परामर्श संगठनों का मुख्य कार्य क्षेत्रीय परियोजना रिपोर्टें तैयार करना और व्यवहार्यता का अध्ययन है। पिछले वर्षों में इस क्षेत्र में अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद इन संगठनों ने अपने कार्य क्षेत्र को संभाव्य उद्यमकर्ताओं का पता लगाने और उनके प्रशिक्षण, परियोजना के कार्यान्वयन, पुनः स्थापन, प्रबंध परामर्श, संरक्षण आदि बहुत से कार्यों तक विस्तृत कर दिया है।

वर्ष 1988-89 के दौरान तकनीकी परामर्श संगठनों ने कुल 3,550 नियत कार्य पूरे किये, जबकि इससे पिछले वर्ष में इनकी संख्या 3,082 थी। इन नियत कार्यों में निम्नलिखित थे:

- 2,983 व्यवहार्यता अध्ययन/परियोजना रिपोर्टें/रूपरेखाएं
- 31 परियोजना मूल्यांकन
- 170 औद्योगिक संभाव्यता/बाजार/क्षेत्रीय विकास और अन्य का सर्वेक्षण
- 9 कार्यात्मक औद्योगिक कंप्लेक्स/टर्न-की कार्य
- 219 आधुनिकीकरण, पुनःस्थापन/तैदानिक अध्ययन
- 138 अन्य नियत कार्य/विशेष अध्ययन।

तकनीकी परामर्श संगठनों ने अर्थ-तकनीकी व्यवहार्यता रिपोर्टें भी तैयार की जिनमें 503 करोड़ रु. का निवेश होना था और 31,438 व्यक्तियों को रोजगार मिलने की संभावना थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने उद्यमकर्ताओं के लिये 178 विकासात्मक कार्यक्रम किये, जहां 3,316 उद्यमकर्ताओं को प्रशिक्षण दिया गया। तकनीकी परामर्श संगठनों ने उद्यमकर्ताओं के लिये 54 जानकारी कैम्प लगाये और शिक्षित बेरोजगार युवकों के लिये स्वनियोजन योजना के अन्तर्गत 12 प्रशिक्षण कार्यक्रम किये।

बोध प्रश्न ख

1 राज्य औद्योगिक विकास निगमों के मुख्य कार्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2 रिक्त स्थानों को भरिये:

i) .....और.....राज्य औद्योगिक विकास निगमों की स्थापना करने वाले पहले राज्य थे।

ii) राज्य औद्योगिक विकास निगम अपने-अपने.....के मार्ग दर्शन के अन्तर्गत कार्य करते हैं

iii) .....योजना के अन्तर्गत नयी पीढ़ी के योग्य उद्यमकर्ताओं को ईक्विटी तरह की सहायता प्रदान की जाता है।

3 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत:—

i) राज्य औद्योगिक विकास निगम उद्यम आधार को विस्तृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

ii) राज्य सरकार के एक मनोनीत निदेशक को छोड़कर, राज्य औद्योगिक विकास निगमों के निदेशक मंडल के अन्य सभी सदस्य भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से आते हैं।

iii) राज्य औद्योगिक विकास निगम उद्योग के संरचनात्मक रूपांतरण में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

vi) तकनीकी परामर्श संगठन केवल राज्य स्तर की विकासात्मक वित्तीय संस्थाओं को ही तकनीकी परामर्श प्रदान करते हैं।

12.6 सारांश

छोटे पैमाने के उद्योगों की आधारिक संरचनात्मक सुविधाएं, प्रशिक्षण सुविधाएं और वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए राज्य स्तर में सावधिक ऋण प्रदान करने वाली संस्थाओं की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त ये राज्य में पिछड़े क्षेत्रों के विकास से भी सहायता करती हैं।

राज्य वित्त निगम लघु और मध्यम औद्योगिक इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए 18 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में स्थापित किये गये। प्रत्येक राज्य वित्त निगम का प्रबंध एक निदेशक मंडल करता है जिसमें 12 सदस्य होते हैं। यह उद्योगों को भूमि भवन व मशीन खरीदने के लिये ऋण देता है। यह उद्यमकर्ताओं की ओर से भुगतान की गारण्टी भी देता है और प्रत्यक्ष रूप से विदेशी विनिमय ऋण प्रदान करता है तथा औद्योगिक इकाइयों के ऋण पत्रों में

आवदान करता ह। राज्य वित्त निगम अपने-अपने राज्यों में लघु व मध्यम उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। लेकिन ऋण की वसूली संतोषजनक नहीं है और लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता कम होती जा रही है। राज्य वित्त निगम साधनों की अपर्याप्तता और अनावश्यक औपचारिकताओं से पीड़ित हैं।

राज्य औद्योगिक विकास निगम/राज्य औद्योगिक निवेश निगम भारत में विभिन्न राज्यों में मध्यम व बड़ी औद्योगिक योजनाओं को वित्तीय और आधारिक संरचना संबंधी सुविधाएं प्रदान करके उनका प्रवर्तन करने के लिये स्थापित किये गये हैं। हाल के वर्षों में राज्य औद्योगिक विकास निगमों/राज्य औद्योगिक निवेश निगमों की क्रियाओं में काफी विस्तार हुआ है, खास तौर से गैर-परम्परागत उद्योगों में, पिछड़े क्षेत्रों के विकास में और प्रारंभिक पूंजी की सहायता देने में। राज्य वित्त निगमों की भांति राज्य औद्योगिक विकास निगमों/राज्य औद्योगिक निवेश निगमों को भी कोषों की कमी और उपरिव्ययों की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। लघु इकाइयों की सहायता करने के लिये राज्य स्तर पर तकनीकी परामर्श संस्थाओं की स्थापना की गयी। आजकल भारत में 17 तकनीकी परामर्श संस्थाएं हैं और इन्होंने तकनीकी परामर्श प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

12.7 शब्दावली

सावधिक ऋण (Term Lending): एक निर्दिष्ट अवधि (साधारणतया 3 से 10 वर्ष) के लिये दिया गया बैंक अग्रिम, जिसकी अदायगी ब्याज सहित प्रायः नियमित अन्तराल पर की जाती है।

प्रारंभिक पूंजी की सहायता (Seed Capital Assistance): नयी पीढ़ी के उन योग्य उद्यमकर्ताओं को ईक्विटी की तरह की सहायता जिनके पास आवश्यक कौशल तो है लेकिन पर्याप्त साधनों का अभाव है।

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1 लघु इकाइयों को वित्तीय सहायता; अल्प विकसित क्षेत्रों के विकास में सहायता; आधारिक संरचनात्मक और प्रशिक्षण संबंधी सुविधाएं प्रदान करना

2 i) गलत ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही।

ख 1 औद्योगिक क्रियाओं को बढ़ावा देना; आधारिक संरचनात्मक और वित्तीय सुविधाएं प्रदान करना; औद्योगिक परियोजनाएं स्थापित करना; राज्य सरकारों की ओर से आर्थिक सहायता देना

2 i) आंध्र प्रदेश और बिहार ii) राज्य सरकारों iii) प्रारंभिक पूंजी

3 i) सही ii) गलत iii) गलत iv) गलत

12.9 स्वपरख प्रश्न

1 भारत में राज्य स्तर पर सावधिक ऋण देने वाली वित्तीय संस्थाओं की संरचना का वर्णन कीजिये।

2 भारत में राज्यों में उद्योग के विकास में राज्य वित्त निगमों की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

3 राज्य औद्योगिक वित्त निगमों/राज्य औद्योगिक निवेश निगमों के प्रबंध और कार्यों के बारे में संक्षेप में बताइये।

नोटः ये प्रश्न/अभ्यास इस इकाई को बेहतर ढंग से समझने में आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अपने अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 13 भारत में कृषि वित्त (Agricultural Finance in India)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 कृषि वित्त का महत्त्व

13.3 सहकारी साख समितियाँ और सहकारी बैंक

13.3.1 प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियाँ

13.3.2 केन्द्रीय सहकारी बैंक

13.3.3 राज्य सहकारी बैंक

13.4.4 भू-विकास बैंक

13.4 व्यापारिक बैंक

14.4.1 कृषि वित्त के प्रकार

13.4.2 ग्रामीण साख के स्रोत के रूप में व्यापारिक बैंकों की सीमाएं

13.5 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक

13.6 राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक

13.6.1 कार्य

13.6.2 निष्पादन

13.7 सारांश

13.8 शब्दावली

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.10 स्वपरख प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि—

- भारत में कृषि वित्त का महत्त्व बता सकें
- भारत में कृषि वित्त के स्रोत पहचान सकें।
- कृषि वित्त में व्यापारिक बैंकों की भूमिका बता सकें
- क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की कार्यप्रणाली का वर्णन कर सकें
- भारत में कृषि और ग्रामीण विकास को पुनर्वित्तीयन की सुविधाएं प्रदान करने में राष्ट्रीय कृषि एवं विकास बैंक की भूमिका का मूल्यांकन कर सकें
- भारत में कृषि वित्त की चिरस्थायी समस्याएं बता सकें।

13.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में आपने उन विभिन्न वित्तीय संस्थाओं के बारे में पढ़ा था जो मुख्यतया औद्योगिक संस्थाओं को सहायता प्रदान करती हैं। इस इकाई में आप उन वित्तीय संस्थाओं का अध्ययन करेंगे जो विशेष रूप से कृषि और उससे सम्बन्धित क्षेत्रकों को वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं।

13.2 कृषि वित्त का महत्त्व

कृषि का महत्त्व तो इस बात से ही स्पष्ट है कि हमारे देश की लगभग 70% जनसंख्या का व्यवसाय कृषि है। यह भी सबको पता है कि भारतीय किसान गरीब और अशिक्षित होता है तथा कर्ज में डूबा होता है। कृषि ऋणग्रस्तता को कम करने के लिये भारत सरकार और राज्य सरकारों नें ऋण देने के कार्य को नियमित करने का प्रयत्न किया है, भूमि का कृषि से गैर कृषि वर्गों को हस्तांतरण रोका है और **तकावी ऋणों** के रूप में प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता प्रदान की है। दुर्भाग्यवश सरकार के इन प्रयत्नों के बावजूद कृषि क्षेत्र में लोगों की स्थिति लगातार खराब होती गयी और ऋणग्रस्तता बढ़ती गयी। संस्थागत साख प्रणाली शुरू होने से पहले किसानों के लिये साख का प्रमुख स्रोत गांव का महाजन होता था। बहुत से अनुचित तरीके अपनाने के अलावा महाजन ब्याज बहुत ऊंची दरों पर लिया करते थे।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विघटित होने पर ऋण व्यक्तिगत जमानत पर नहीं मिलते थे बल्कि भूमि की जमानत पर उपलब्ध थे। भारतीय संविदा अधिनियम (Indian Contract Act) और सिविल प्रक्रिया संहिता (Civil Procedure Code) जैसे नये कानून भी महाजन के पक्ष में ही थे और इनके कारण वह ऊंची ब्याज दर लेने से समर्थ था तथा ऋणी की जमीन, पशु और उपकरण ज़ब्त कर सकता था। परिणामस्वरूप किसान बरबाद हो गया था।

सरकार ने स्थिति की गंभीरता को समझा और हाल ही के वर्षों में बहुत सी समितियां नियुक्त की जो ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएं प्रदान करने के बारे में तरीके सुझाएं, जिससे कि वहां के अतिरेक कोषों का संग्रह किया जा सके और किसानों को वित्तीय सहायता प्रदान की जा सके। इनकी सिफारिशों पर सहकारी बैंकों, व्यापारिक बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गयी। इसी क्रम में राष्ट्रीय कृषि व ग्रामीण विकास बैंक की भी स्थापना की गयी।

उस अवधि के आधार पर जिसके लिये किसानों को वित्त चाहिये उनकी वित्तीय आवश्यकताओं को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

1. **अल्पकालीन या मौसमी ऋण:** किसान को अल्पकालीन ऋण बीज व उर्वरक खरीदने, मजदूरी देने और लगान, ऋण पर ब्याज आदि जैसे आकस्मिक व्ययों के लिये चाहिये। अल्पकालीन ऋण साधारणतया अगली फसल की बिक्री से चुका दिये जाते हैं।
2. **मध्यावधि ऋण:** किसान को पशु, महंगे उपकरण खरीदने के लिये और औसत अवधि के भू-सुधार करने के लिये मध्यकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है। इस ऋण को दो से पांच साल की अवधि में किश्तों में चुकाया जाता है।
3. **दीर्घकालीन ऋण:** इनसे किसान भूमि, मशीन आदि खरीद सकता है या भूमि पर स्थायी सुधार, जैसे पानी की निकासी, सिंचाई आदि कर सकता है। ऐसे कार्यों पर पैसा लगाने का प्रतिफल धीरे -धीरे प्राप्त होता है, इसलिये किसान इस ऋण को थोड़ी-थोड़ी राशि में लम्बी अवधि में अदा कर सकता है (30 वर्षों तक)।

13.3 सहकारी साख समितियां और सहकारी बैंक (Cooperative Credit Societies and Cooperative Banks)

सहकारिता आन्दोलन का उद्देश्य किसान को आर्थिक बुराइयों और नैतिक पतन से बचाना है और इसके साथ-साथ आपसी सहायता के महत्त्व पर जोर देना है।

भारत में सहकारिता आन्दोलन की शुरुआत 1904 के सहकारी साख समिति अधिनियम के पास होने के साथ हुई मानी जाती है। दिसम्बर 1954 में ग्रामीण साख सर्वेक्षण रिपोर्ट का प्रकाशन देश में सहकारिता आन्दोलन की एक ऐतिहासिक घटना थी। रिपोर्ट में दी गयी विभिन्न सिफारशें भारत सरकार ने स्वीकार की और राज्य सरकारों को निदेश दिये गये कि वे योजना अवधि में सहकारिता आंदोलन के विकास के लिये प्रस्ताव तैयार करें। दूसरी पंच वर्षीय योजना में तीन मूलभूत सिद्धातों के आधार पर एक समन्वित ग्रामीण साख ढांचा स्थापित करने पर विचार किया गया। ये तीन सिद्धांत थेः i) विभिन्न स्तरों पर राज्य की सहभागिता ii) साख और आर्थिक क्रियाओं (विशेष रूप से विपणन और प्रक्रमण) में पूर्ण समन्वय, और iii) ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा प्रशासन।

भारत में मध्यावधि और अल्पावधि सहकारी साख संरचना तीन स्तरीय हैः (1) गाँव के स्तर पर प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियाँ हैं, (2) जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकरी बैंक हैं, और (3) राज्य स्तर पर शिखर संस्था के रूप में राज्य सहकारी बैंक हैं। राज्य सहकारी बैंक जिला स्तर के संलग्न सहकारी बैंकों को कोष प्रदान करता है और ये बैंक ग्रामीण स्तर पर सहकारी साख समितियों को ऋण देते हैं। सहकारी साख संरचना का दूसरा पक्ष दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है और यह दो स्तरीय प्रणाली हैः 1) तालुका स्तर पर प्राथमिक भू विकास बैंक, और 2) राज्य स्तर पर केन्द्रीय विकास बैंक। आइये अब इनका विस्तार से अध्ययन करें।

13.3.1 प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियाँ (Primary Agricultural Cooperative Credit Societies)

भारत में प्राथमिक कृषि सहकारी समितियाँ सहकारिता आन्दोलन का केन्द्र बिन्दु हैं। यह समिति 10 या अधिक व्यक्तियों द्वारा, उपनियमों व अन्य निर्धारित विवरणों की एक प्रतिलिपि सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार के पास दाखिल करके, बनायी जा सकती है। इसका कार्य क्षेत्र प्रायः एक गांव या गांवों का एक समूह होता है। इसके सदस्यों की संख्या व शेयर पूंजी पार्याप्त होनी चाहिये। इसके कार्य क्षेत्र में आने वाले लोगों की सुविधा को ध्यान में रखकर इसके मुख्य कार्यालय का स्थान चुना जाता है।

प्राथमिक कृषि साख समिति को देश के ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक व आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। ये कृषि में प्रयोग की जाने वाली और उपभोग वस्तुएं सप्लाई करने के अलावा वित्त प्रदान करने के लिए लघु बैंक के रूप में भी कार्य करती हैं। ये किसानों के अनाज का परिरक्षण करने व स्टोर करने के लिये गोदामों की सुविधाएं भी प्रदान करती हैं। सहकारी वित्त प्रणाली के संघीय ढांचे के अन्तर्गत केन्द्रीय सहकारी बैंक और राज्य सहकारी बैंक जैसी ऊंचे स्तर की संस्थाओं द्वारा प्राथमिक कृषि सहकारी समितियों को अनुदान व अभिदान के रूप में पर्याप्त सहायता देनी होती है।

पिछले वर्षों में भारत में प्राथमिक समितियों की संख्या बढ़ती रही है। 1983-84 के अन्त तक इनकी संख्या 89,925 थी, जिनमें से 83,766 समितियाँ सक्रिय थीं और बाकी निष्क्रिय। 1983-84 में इनकी कार्यशील पूंजी 484.7 करोड़ रु. थी जबकि निर्गमित ऋणों की राशि 415.44 करोड़ रु. थी। इन ऋणों में से 289 करोड़ रु. के ऋण अल्पकालीन थे और 126.4 करोड़ रु. के ऋण मध्यावधि कार्यों के लिए थे।

13.3.2 केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Cooperative Banks)

केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारणतया जिला मुख्यालय में या जिलों के अन्य महत्त्वपूर्ण शहरों में स्थित होते हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंक को अपनी कार्यशील पूंजी के लिये कोष दो स्रोतों से प्राप्त होते हैं : (1) अपनी पूंजी (जिसमें पूंजी व कोष आते हैं) और (2) उधार ली गयी पूंजी (जिसमें जमाएं व ऋण आते हैं)। केन्द्रीय सहकारी बैंकों का कार्य प्राथमिक साख समितियों को वित्त प्रदान करना है।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में केन्द्रीय सहकारी बैंक को एक विशेष भूमिका निभानी होती है। भारत में जिला केन्द्रीय सहकारी बैंक सहकारी साख संरचना की श्रृंखला में एक कड़ी हैं। सहकारी साख कार्यक्रमों की प्रगति मुख्यतया इन बैंकों की शक्ति पर निर्भर करती है क्योंकि मौसमी कृषि कार्यों और कृषि उत्पाद के विपणन के वित्त प्रबंध के लिये भारतीय रिजर्व बैंक से उपलब्ध सभी कोष इन बैंकों को इनकी स्थिरता और सामर्थ्य के आधार पर दिये जाते हैं। वर्ष 1983-84 में इनके द्वारा दिये गये नये ऋणों में 468.4 लाख रु. की वृद्धि हुई और पिछले 13 वर्षों में इनकी कार्यशील पूंजी में 465 करोड़ रु. की वृद्धि हुई।

13.3.3 राज्य सहकारी बैंक (State Cooperative Banks)

सहकारिता आंदोलन के शिखर पर राज्य सहकारी बैंक होता है। मेकलन समिति ने इन बैंकों की स्थापना पर जोर दिया। इस समिति ने एक ऐसे प्रान्तीय सहकारी बैंक के निर्माण की सिफारिश की जो शहरी वर्गों से जमाएं प्राप्त कर सके और जिला केन्द्रीय बैंकों के माध्यम से इसे कृषि क्षेत्र में प्रयोग कर सके।

राज्य सहकारी बैंक प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय सहकारी बैंकों को वित्त प्रदान करते हैं और उनकी कार्यप्रणाली में समन्वय और उन पर नियंत्रण करते हैं। ये इन केन्द्रीय सहकारी बैंकों की कार्यशील पूंजी के आधिक्य और कमी के समाशोधन गृहों के रूप में कार्य करते हैं। ये सामान्य मुद्रा बाजार और गांवों में प्राथमिक सहकारी समितियों के बीच एक कड़ी के रुप में भी कार्य करते हैं। साधारणतया ये शिखर बैंक प्राथमिक समितियों के साथ प्रत्यक्ष रुप से लेन-देन नहीं करते बल्कि यह कार्य केन्द्रीय सहकारी बैंकों के माध्यम से किया जाता है। लेकिन जहां केन्द्रीय सहकारी बैंक विकसित रुप में न हों वहां ये प्राथमिक समितियों के साथ प्रत्यक्ष लेनदेन करते हैं।

इन शिखर बैंकों के कार्यों में केन्द्रीय सहकारी बैंकों को वित्तीय सहायता देना और उनके माध्यम से प्राथमिक समितियों को सहायता देना शामिल है। सामान्य बैंकिंग क्रियाओं के अतिरिक्त इन्होंने अन्य सहकारी क्रियाओं में भी दिलचस्पी ली है, जैसे कि विभिन्न सहकारी संगठनों को एक साथ लाने में मदद करना, आवश्यक वस्तुओं की सप्लाई के लिये वित्त प्रबन्ध और उनका वितरण आदि करना।

13.3.4 भू-विकास बैंक (Land Development Banks)

साधारण सहकारी समितियां और सहकारी बैंक अपने सदस्यों को दीर्घकालीन ऋण नहीं देते क्योंकि सहकारी ऋण के नियम की यह अपेक्षा है कि ऋण सदस्यों की व्यक्तिगत साख पर दिये जायें। लेकिन दीर्घावधि ऋण केवल व्यक्तिगत जमानत पर नहीं दिये जा सकते। इसलिये भू-विकास बैंक उन काश्तकारों को ऋण देता है जिनके पास जमानत के लिये भूमि है। ये बैंक अपने सदस्यों को दीर्घकालीन ऋण उनके ऋणों को कम करने के लिये, भूमि पर स्थायी सुधार लाने के लिये और

भूमि खरीदने के लिये देते हैं। तमिल नाडु और महाराष्ट्र में केन्द्रीय भू विकास बैंक वित्त प्राप्त करने के लिये ऋणपत्रों का निर्गमन भी करते हैं। इन ऋणपत्रों की प्रायः राज्य सरकार द्वारा गारण्टी दी जाती है। ये जनता से सावधि जमाएं भी स्वीकार करते हैं। ये बैंक भारतीय जीवन बीमा निगम से भी वित्तीय सहायता प्राप्त करते हैं।

ग्रामीण सहकारी बैंकिंग की भांति भूमि विकास बैंकिंग ने भी महाराष्ट्र, गुजरात और तमिल नाडु राज्यों में कुछ प्रगति की है। प्राथमिक सहकारी बैंकों की भांति ये भी काश्तकारों को दिये गये ऋणों पर ऊंची ब्याज दर लेते हैं। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी के कारण ऋण स्वीकृत करने में बहुत देर लगती है। इन कमियों के कारण ये बैंक भारत में काश्तकारों को जितना दीर्घ कालीन ऋण चाहिये उसका एक नगण्य भाग ही प्रदान कर पाये हैं।

बोध प्रश्न क

1 भारत में सहकारी साख संरचना के तीन स्तर हैं:

.....

.....

.....

2 भू-विकास बैंक अपने सदस्यों को जिन कार्यों के लिये ऋण देते हैं वे हैं:

.....

.....

.....

3 केन्द्रीय सहकरी बैंक अपनी कार्यशील पूंजी के लिये दो स्रोतों से कोष प्राप्त करते हैं:

i) ..... पूंजी जिसमें पूंजी व रिजर्व आते हैं

ii) ..... उधार ली गयी पूंजी जिसमें ..... और ..... आते हैं।

4 रिक्त स्थानों को भरिये:

i) संस्थागत साख प्रणाली शुरू होने से पहले ग्रामीण साख का मुख्य स्रोत ..... था।

ii) बीज और उर्वरक खरीदने के लिये जिस प्रकार के ऋण की आवश्यकता होती है वह ..... ऋण होता है।

iii) दीर्घकालीन ऋण की अदायगी ..... वर्षों में की जा सकती है।

iv) सहकारिता आंदोलन के शिखर पर ..... है।

13.4 व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)

यद्यपि कृषि और उससे सम्बन्धित क्रियाओं का भारत की राष्ट्रीय आय में योगदान लगभग 40% है और ये लगभग 75% जनसख्यां को रोजगार प्रदान करती हैं, फिर भी 1955 तक व्यापारिक बैंकों का कृषि विकास में योगदान अपने कुल साधनों का 1% भी नहीं था। 1969 में व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन आया है।

बैंकों की कृषि वित्त में वास्तविक सहभागिता 1967 में इन पर सामाजिक नियंत्रण के साथ शुरू हुई। अक्टूबर, 1969 में प्रोफेसर डी.आर. गाडगिल की अध्यक्षता में नियुक्त किये गये अध्ययन दल और एफ.के.एफ. नारीमन की अध्यक्षता में 1969 में भारतीय रिर्जव बैंक द्वारा स्थापित बैंकरों की समिति ने उन जिलों में बैंकिंग सुविधाएं प्रदान करने के लिये जहां ये सुविधाएं नहीं थी, क्षेत्रीय दृष्टिकोण अपनाने की सिफारिश की। इसके फलस्वरूप भारतीय रिजर्व बैंक ने दिसम्बर 1969 में **लीड बैंक स्कीम** शुरू की। इस योजना के अन्तर्गत देश के विभिन्न जिलों को सभी सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंकों और तीन निजी क्षेत्रक के बैंकों में बांट दिया गया। बैंकों को अपने-अपने जिलों के लिये विकास कार्यक्रम बनाने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। इस योजना ने व्यापारिक बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में लाकर कृषि वित्त में उन्हें सहभागी बना दिया। जुलाई 1969 में 14 प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण ने बैंकों के कृषि वित्त में सहयोग को और तेज कर दिया।

व्यापारिक बैंकों को कृषि वित्त से जोड़ने के लिये जिम्मेवार तीन मुख्य बातों (सामाजिक नियंत्रण, लीड बैंक स्कीम और बैंकों का राष्ट्रीयकरण) के अलावा इन बैंकों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में खोली गयी शाखाओं की संख्या में तीव्र वृद्धि ने भी कृषि तथा संबंधित क्रियाओ के विकास में योगदान दिया।

व्यापारिक बैंकों के कृषि वित्त में भाग लेने में तीन अवस्थाएं सामने आती हैं। **पहली अवस्था** जो लगभग 1952 से 1967 तक रही, वह अवधि थी जब बैंकर यह सोच रहे थे कि कृषि वित्त उनका काम नहीं है और इस जिम्मेदारी से शीघ्र ही उन्हें मुक्ति मिल जाएगी। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इन वर्षों में कृषि वित्त का विकास अनियमित रहा। **दूसरी अवस्था** की अवधि 1967 से 1975 तक रही। इस अवधि में बैंकों ने यह महसूस किया कृषि वित्त व्यवस्था तो स्थायी तौर पर रहेगी। ये वे वर्ष थे जब बैंकों ने विभिन्न योजनाएं बनाकर प्रयोग किये और कृषि वित्त को बढ़ाने के लिये कार्य किये। इस अवधि में व्यापारिक बैंकों ने कृषि वित्त में महत्वपूर्ण अनुभव प्राप्त किये। इन्होंने अपने ग्राहकों के बारे में और क्षेत्रों के बारे में आवश्यक जानकारी प्राप्त की जिससे इन्हें कृषि वित्त के बारे में एक उपयुक्त नीति अपनाने में सहायता मिली। **तीसरी अवस्था** 1975 से शुरू हुई। इसमें बैंकों को यह बोध हुआ कि केवल उनके प्रयत्न पर्याप्त नहीं हैं। उन्हें इस कार्य के आकार का भी ज्ञान हुआ और उन्होंने स्वीकार किया कि अन्य एजेन्सियों से सहयोग आवश्यक है। अब ये कृषि वित्त में किसान सेवा समितियों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों और प्राथमिक कृषि सहकारी समितियों जैसे संगठनों के साथ मिलकर भी प्रयोग कर रहे हैं।

13.4.1 कृषि वित्त के प्रकार (Types of Agricultural Finance)

व्यापारिक बैंक सभी कृषि कार्यों व उससे सम्बन्धित कार्यों के लिये ऋण प्रदान करते हैं। मौटे तौर पर इन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है: (i) प्रत्यक्ष अग्रिम और (ii) अप्रत्यक्ष अग्रिम।

प्रत्यक्ष कृषि साख: ये अल्पावधि, मध्यावधि या दीर्घावधि के लिये ऋण होते हैं। अल्पावधि ऋण (i) फसल ऋण या (ii) उत्पादन ऋण के रूप में हो सकते हैं। फसल ऋण वार्षिक फसलों की लागत का वित्त प्रबन्ध करने के लिये होते हैं। ये फसलें अनाज, जैसे गेहूं, चावल आदि), तिलहन (जैसे मूंगफली आदि) और नकद फसलें (जैसे गन्ना, मिर्च, तम्बाकू, कपास आदि) हैं। उत्पादन ऋण बारहमासी बागान फसलों जैसे चाय, काफी, इलायची आदि की वार्षिक अनुरक्षण लागत को पूरा करने के लिये होते हैं।

यद्यपि अल्पावधि साख मुख्यतया ऋणों के रूप में होती है फिर भी कुछ स्थितियों में उत्पादन साख भी नकद साख सीमा के रूप में दी जाती है। **बैंकों द्वारा दी गयी अल्पावधि साख सहायता में फसलों की कटाई के बाद एक या दो मास के भीतर अदायगी की शर्त होती है। उधार की वसूली सुनिश्चित करने के लिये और कोषों का प्रवाह बनाये रखने के लिये बैंक जहां भी संभव हो वहां साधारणतया एक ताल-मेल** (tie-up) **व्यवस्था प्रणाली अपनाते हैं** उदाहरण के लिये गन्ना उगाने वालों को दिये गये ऋण की स्थिति में बहुधा चीनी मिलों के साथ ताल-मेल व्यवस्था की जाती है और काफी बोर्ड के साथ काफी उगाने वालों के दिये गये ऋण के सम्बन्ध में।

यद्यपि अल्पावधि साख मुख्यतया ऋणों के रूप में होती है फिर भी कुछ स्थितियों में उत्पादन साख भी नकद साख सीमा के रूप में दी जाती है। **बैंकों द्वारा दी गयी अल्पावधि साख सहायता में फसलों की कटाई के बाद एक या दो मास के भीतर अदायगी की शर्त होती है। उधार की वसूली सुनिश्चित करने के लिये और कोषों का प्रवाह बनाये रखने के लिये बैंक जहां भी संभव हो वहां साधारणतया एक ताल-मेल** (tie-up) **व्यवस्था प्रणाली अपनाते हैं** उदाहरण के लिये गन्ना उगाने वालों को दिये गये ऋण की स्थिति में बहुधा चीनी मिलों के साथ ताल-मेल व्यवस्था की जाती है और काफी बोर्ड के साथ काफी उगाने वालों के दिये गये ऋण के सम्बन्ध में।

मध्यावधि और दीर्घावधि ऋण विभिन्न कृषि विकास कार्यक्रमों की निवेश लागतों को पूरा करने के लिये दिये जाते हैं। ये कार्यक्रम पूंजी प्रधान होते हैं और इनसे लाभ बहुधा तीन वर्षों के बाद ही मिलना शुरू होता है। ऐसे ऋण की अदायगी 3 से 15 वर्षों में करनी होती है और यह अवधि परियोजना की प्रकृति व आकार तथा उनसे होने वाली नकदी प्राप्ति पर निर्भर करती है। आर्थिक व तकनीकी रूप में व्यवहार्य ऐसी कृषि परियोजनाओं में सभी प्रकार के निवेश बैंक साख की परिधि में आते हैं।

सावधि ऋणों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है क्योंकि और अधिक क्षेत्र पर खेती संभावना तो बहुत सीमित है, इसलिये मौजूदा कृषि योग्य भूमि को ही और अधिक उपजाऊ बनाने की आवश्यकता है। लेकिन कृषि की दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताएं बहुत अधिक हैं और अकेले व्यापारिक बैंक ही इन्हें पूरा नहीं कर सकते। व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले सावधि ऋणों में से अधिकांश के लिये राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण बैंक ने पुनर्वित्त सहायता प्रदान करके व्यापारिक बैंकों को आवश्यक प्रोत्साहन दिया है ताकि वे बड़े पैमाने पर कृषि वित्त प्रदान करें।

अप्रत्यक्ष अग्रिम

अप्रत्यक्ष अग्रिम चार प्रकार के होते हैं:—

1. वे अग्रिम जो प्रत्यक्ष कृषि साख के लिये निर्धारित किये गये मापदण्डों को पूरा करते हैं, लेकिन जो अन्य एजेन्सियों (जैसे किसान सेवा समितियों, प्राथमिक कृषि साख समितियों आदि) के जरिये दिये जाते हैं।
2. विद्युतीकरण के लिये राज्य बिजली बोर्डों को दिये गये अग्रिम जिससे कि कृषि के लिये पम्पसेटों को बिजली मिलती रहे।
3. उर्वरक व्यापार करने वालों को दी गयी साख जिससे कि वे अपने कार्यशील पूंजी की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।
4. सहकारी दुग्ध समितियों, भेड़ पालन सहकारी समितियों आदि को दिये गये अग्रिम, जो अपने सदस्यों को पशु खरीदने के लिए ऋण देती हैं।

13.4.2 ग्रामीण साख के स्रोत के रूप में व्यापारिक बैंकों की सीमाएं

पिछले दो दशकों में व्यापारिक बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्र में बैंकिंग सुविधाएं प्रदान करने का कार्य काफी तत्परता से किया है। लेकिन इस प्रक्रिया में व्यापारिक बैंकों को बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ा, जिनमें से कुछ पर नीचे विचार करेंगे :

1. व्यापारिक बैंकों ने शायद जनता को कृषि अग्रिम प्रदान करने की लागत के बारे में साफ-साफ जानकारी नहीं दी। ये बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएं खोलने और उन्हें चलाने से भारी हानि उठा रहे हैं। कृषि अग्रिम देने के लिए कर्मचारियों को प्रशिक्षण देकर उन्हें ग्रामीण केन्द्रों में भेजने की समस्या भी है। पिछले बीस वर्षों में इनके बहुत से अधिकारी हेरा-फेरी या लापरवाही के लिए दोषी पाये गये।
2. देश के 5.75 लाख गाँवों में से व्यापारिक बैंकों की क्रियाएं केवल 45,000 गांवों तक ही फैल सकीं।
3. अपनी ग्राम अंगीकरण नीति को लागू करने में भी ये काफी चयनात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं। इन्होंने उन गाँवों का अंगीकरण नहीं किया, जो अपेक्षाकृत अधिक पिछड़े हुए हैं और जहाँ तुरन्त सहायता देने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त उन किसानों की ओर भी अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया, जिन्हें सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं और जो भारत की कृषि जनसंख्या का 75% हैं।
4. यद्यपि छोटे और सीमान्त किसान व्यापारिक बैंकों की 'लक्ष्य जनसंख्या' सूची में हैं, लेकिन अग्रिमों पर इनसे जो ब्याज दर ली जाती है, वह बहुत ऊँची है। बहुत से व्यापारिक बैंकों में अग्रिम देने की वही पुरानी प्रणाली जारी है, जिसके अंतर्गत किसानों को कानूनी औपचारिकताएं पूरी करने में बहुत समय लगाना पड़ता है और अनावश्यक व्यय करना पड़ता है।

इस प्रकार भारत में अभी भी ग्रामीण साख की मांग और पूर्ति में अन्तर बना हुआ है। वर्तमान कार्यप्रणाली की कमियों और समस्या को ध्यान में रखते हुए यथार्थवादी नियोजन की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 4

1. लीड बैंक स्कीम क्या है?

   .....

   .....

   .....

2. बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत?

   i) कृषि वित्त में व्यापारिक बैंकों का योगदान 1969 तक बहुत अधिक था।

   ii) लीड बैंकों को अपने-अपने जिलों के लिए विकास कार्यक्रम बनाने की जिम्मेवारी सौंपी गयी है।

   iii) व्यापारिक बैंक कृषि साख के लिए अपने कोषों को किसान सेवा समितियों के जरिये भी देते हैं।

   iv) अग्रिमों पर व्यापारिक बैंकों द्वारा ली जाने वाली ब्याज दरें बहुत कम हैं।

3. रिक्त स्थानों को भरिए :

   i) उत्पादन ऋणों की आवश्यकता.....फसलों की अनुरक्षण लागत पूरी करने के लिए होती है।

   ii) .....में उरवर्क के व्यापारियों को अपनी कार्यशील पूंजी की आवश्यकता को पूरी करने के लिए दी जाने वाली साख आती है।

   iii) व्यापारिक बैंकों का ग्राम अंगीकरण कार्यक्रम को लागू करने में काफी.....दृष्टिकोण रहा है।

13.5 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (Regional Rural Banks)

बैंकिंग कमीशन ने 1972 में सरकार को दी गयी अपनी रिपोर्ट में ग्रामीण बैंकों की स्थापना की सिफारिश की थी। इन ग्रामीण बैंकों को प्राथमिक बैंकिंग संस्थाएं बताया गया था और प्रत्येक ग्रामीण बैंक को गांवों के एक समूह में 5,000 से 20,000 लोगों को सेवाएं प्रदान करनी थी। ग्रामीण ऋणग्रस्तता को समाप्त करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सरकार क्षेत्रीय बैंकों की स्थापना जल्दी से जल्दी करना चाहती थी। इसीलिए 26 सितम्बर, 1975 को क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अध्यादेश जारी किया गया और तभी से यह सारे देश में लागू हो गया।

अध्यादेश का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेषतया छोटे तथा सीमांत किसानों, कृषि श्रमिकों, कारीगरों और छोटे उद्यमकर्ताओं को साख व अन्य सुविधाओं का प्रावधान करने के लिए क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना करना था। केन्द्रीय

सरकार किसी भी बैंक, (प्रायः उस क्षेत्र का लीड बैंक) जिसे 'प्रवर्तक बैंक' कहते हैं, की प्रार्थना पर किसी राज्य या केन्द्र शासित प्रदेश में एक या अधिक ग्रामीण बैंक स्थापित कर सकती है। प्रत्येक ग्रामीण बैंक अपने स्थानीय सीमा क्षेत्र में कार्य करेगा। यदि आवश्यक हो तो ग्रामीण बैंक किसी भी ऐसे स्थान पर जो सरकार द्वारा घोषित किया गया हो, शाखाएं या एजेंसियां भी स्थापित कर सकता है।

प्रवर्तित बैंक कई तरह से ग्रामीण बैंक की सहायता करेगा। यह ग्रामीण बैंक की शेयर पूंजी के लिए अभिदान करेगा, इसकी स्थापना में सहायता देगा, और इसके कार्यकाल की शुरू की अवधि में इसके कर्मचारियों की नियुक्ति व प्रशिक्षण में सहायता देगा। अध्यादेश के अनुसार प्रत्येक ग्रामीण बैंक की अधिकृत पूंजी 1 करोड़ रु. होगी और निर्गमित पूंजी 25 लाख रु. होगी। निर्गमित पूंजी का 50% केन्द्रीय सरकार द्वारा, 15% सम्बद्ध राज्य सरकार द्वारा और 35% प्रवर्तक बैंक द्वारा अभिदत्त की जाएगी। केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से रिज़र्व बैंक और प्रवर्तित बैंक से सलाह करके अधिकृत और निर्गमित पूंजी को बढ़ाने का भी प्रावधान है।

ग्रामीण बैंकों का संचालन व प्रबंध एक निदेशक मंडल करता है। इस मंडल को व्यापारिक नियमों के आधार पर कार्य करना चाहिए और सार्वजनिक हित का उचित ध्यान रखना चाहिए। ग्रामीण बैंक के निदेशक मंडल का अध्यक्ष व अधिक से अधिक तीन सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं, अधिक से अधिक दो सदस्य सम्बद्ध राज्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं और अधिक से अधिक तीन सदस्य प्रवर्तित बैंक द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। ग्रामीण बैंकों द्वारा ली जाने वाली ब्याज दरें उस राज्य में सहकारी समितियों द्वारा ली जाने वाली ब्याज दरों से अधिक नहीं होंगी। ग्रामीण बैंकों को जमाओं पर 1/2% अधिक ब्याज दर देने की अनुमति है। ग्रामीण बैंकों के कर्मचारी ऐसे होंगे, जिन्हें स्थानीय स्थितियों का ज्ञान हो और जो ग्रामीण आवश्यकताओं के प्रति जागरूक हों।

2 अक्तूबर, 1975 को पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और हरियाणा में पहले पांच क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित किये गये। 1985 के अन्त तक 337 जिलों में 187 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक थे, जिनकी 12,000 शाखाएं थीं। इन बैंकों द्वारा एकत्रित कुल जमाएं 1,159 करोड़ रु. थी और दी गयी कुल अग्रिम राशि 1,333 करोड़ रु. थी।

यह बताना जरूरी है कि जून 1977 में भारतीय रिज़र्व बैंक ने क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के कार्य का पुनरवलोकन करने के लिए दत्तावाला समिति बनायी, जिसने इनको जारी रखने और इनका विस्तार करने का जोरदार समर्थन किया। समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, क्योंकि ये ग्रामीण क्षेत्रों में साख की कमी को उत्तरोत्तर पूरा करने में बहुत उपयुक्त हैं। समिति का मत था कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा अपनी जिम्मेवारी को पूरा करने की क्षमता को ध्यान में रखते हुए व्यापारिक बैंकों को इस बात के लिए राजी करना चाहिए कि उनकी ग्रामीण शाखाओं द्वारा किये जाने वाले साख व्यापार को उत्तरोत्तर इन बैंकों को सौंप दें। दत्तावाला समिति व्यापारिक बैंकों की ग्रामीण शाखाओं को पूर्णतया क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा प्रतिस्थापित करने के पक्ष में नहीं थी। लेकिन इसने यह सुझाव दिया कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को ग्रामीण साख संरचना का एक समन्वित हिस्सा बनाने की दिशा में कार्य किया जाना चाहिए।
राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) की स्थापना के बाद क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को पुनर्वित्त सुविधा (जो अब तक रिज़र्व बैंक से मिलती थी) अब इस नये बैंक से मिलती है। 1984-85 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के लिए राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की पुनर्वित्त नीति में परिवर्तन हुआ। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को अब तक स्वीकृत संयुक्त सीमा को दो भागों में बाँट दिया गया : अल्पावधि सीमा और मध्यावधि सीमा। नयी नीति के अन्तर्गत जिन क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों ने 1 जुलाई, 1984 तक पाँच वर्ष पूरे कर लिये हैं, उन्हें अल्पावधि व मध्यावधि के अन्तर्गत पृथक् सीमाओं के लिए आवेदन देना होता है। अन्य क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अब तक स्वीकृत संयुक्त सीमा के ही योग्य हैं। 1984-85 में राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक ने 126 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को कुल 202.5 करोड़ रु. के मध्यावधि ऋण स्वीकृत किये। 30 जून, 1985 को मध्यावधि व अल्पावधि सीमाओं के अन्तर्गत दी गयी क्रमशः 124.7 करोड़ रु. और 182.7 करोड़ की राशि बकाया थी।

ग्रामीण भारत में स्थापित किये गये क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को ग्रामीण साख में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। इन्हें कम लागत व ग्रामीण आधार वाली संस्थाओं के रूप में विकसित किया गया है। इनका कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होगा और इसके कर्मचारी स्थानीय लोगों में से नियुक्त किये जाएंगे, क्योंकि उन्हें स्थानीय स्थिति व भाषा का ज्ञान होगा। ये बैंक साख सुविधाएं गरीब ग्रामीणों तक पहुँचाकर उन्हें महाजनों के चंगुल से मुक्त कराने में सहायक होंगे। इन बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋणों का सबसे अधिक लाभ छोटे/सीमान्त किसानों, कृषि मजदूरों, कारीगरों और ग्रामीण क्षेत्रों के अन्य गरीब वर्गों को हुआ है।

यह ध्यान रखें कि लीड बैंक स्कीम और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना का प्रस्ताव एक दूसरे के पूरक हैं। अब तक लीड बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के प्रवर्तक बैंक रहे हैं, इसलिए इन बैंकों की स्थापना को ऐसी उपयुक्त संस्था के रूप में देखना चाहिए, जो उन जिलों में संस्थागत संरचना को सुदृढ़ बनाएगी, जहां वित्त प्रदान करने में लीड बैंकों से प्रमुख भूमिका निभाने की अपेक्षा की जाती है।

क्योंकि ग्रामीण बैंक अब सभी बैंकिंग योग्य योजनाओं को कार्यान्वित कर रहे हैं, इसलिए यह जरूरी है कि उन सभी जिलों की, जहाँ ये कार्य कर रहे हैं, जिला परामर्श समितियों में इनके प्रतिनिधि हों। इससे लीड बैंक योजना में ग्रामीण बैंकों की भागीदारी बढ़ेगी। इसके अतिरिक्त जिलों में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक शुरू करने से बैंकिंग प्रणाली को लीड बैंक स्कीम को कार्यान्वित करने में जिन दो समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था, उन्हें दूर करने में सहायता मिलेगी। ये दो समस्याएं

हैं : (1) देश के दूर-दराज हिस्सों में बैंकिंग अधिकारियों की अपर्याप्त संख्या, और (2) छोटे खातों को रखने की ऊँची लागतें।

1980 में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किये गये अध्ययनों से यह पता चलता है कि व्यापारिक बैंकों और सहकारी बैंकों की ओर से प्रतिस्पर्धा के कारण तथा सीमित क्षमता वाले क्षेत्रों में स्थित होने के कारण क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की कुछ शाखाओं के लिए आर्थिक रूप से व्यवहार्य बनना संभव नहीं है। फिर भी, यह खुशी की बात है कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक गांव के गरीबों की साख आवश्यकताओं को पूरा करने के अपने मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सफलतापूर्वक प्रयत्न करते रहे हैं।

13.6 राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (National Bank for Agriculture and Rural Development)

भारतीय रिजर्व बैंक ने मार्च 1979 में कृषि और ग्रामीण विकास के लिये संस्थागत साख व्यवस्था का पुनर्विलोकन करने के लिये एक समिति बनायी। इस समिति ने मार्च 1981, में अपनी अन्तिम रिपोर्ट दी। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर 12 जून, 1982 को राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की स्थापना की गयी। रिजर्व बैंक की स्वयं केवल आवश्यक नियंत्रणों के कार्य करने की नीति के अनुरूप ही इस बैंक की ग्रामीण साख के लिये एक शिखर संस्था के रूप में स्थापना की गयी। यद्यपि राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक को पूरी ग्रामीण साख प्रणाली का निरीक्षण करने का कार्य सौंपा गया है लेकिन इसमें और भारतीय रिजर्व बैंक में मूलभूत सम्बन्ध रहने दिया गया है। इसकी आधी शेयर पूंजी रिजर्व बैंक द्वारा दी गयी है और रिजर्व बैंक का उप गवर्नर इसका अध्यक्ष नियुक्त किया जाता है और इसके निदेशक मंडल के तीन निदेशक रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक ने कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम (Agricultural Refinance and Development Corporation) के सारे कार्यों और रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सहकारी बैंकों व क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को पुनर्वित्त के कार्य को अपने हाथ में ले लिया है।

इस बैंक की पूंजी 100 करोड़ रु. हैं जिसमें केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक का आधा-आधा हिस्सा है। सावधि ऋणों के लिये यह भारत सरकार, विश्व बैंक, अन्य बहुपक्षीय व द्विपक्षीय एजेन्सियों तथा घरेलू मुद्रा बाजार से कोष प्राप्त करता है।

13.6.1 कार्य

वित्तीय कार्य

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य सहकारी बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं को उत्पादन और विपणन साख प्रदान करना है। इसमें वे पुनर्वित्त ऋण और अग्रिम आते हैं जिनकी अदायगी 18 महीने में करनी होती है। ऋणों और अग्रिमों की यह सुविधा कृषि कार्यों व फसलों के विपणन, कृषि-आगतों के विपणन और वितरण, कारीगरों और लघु उद्योगों की विपणन क्रियाओं आदि के लिये उपलब्ध है। यह बैंक स्टॉक और वचन पत्रों की जमानत पर भी ऋण दे सकता है। राज्य सहकारी बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों और भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा अनुमोदित वित्तीय संस्थाओं को दिये गये अल्पावधि ऋणों को अकाल व अन्य प्राकृतिक विपदाओं की स्थिति में मध्यावधि ऋणों में परिवर्तित किया जा सकता है और उस स्थिति में इनकी अवधि 7 वर्षों से अधिक नहीं हो सकती। 18 महीने से अधिक और 7 वर्षों से कम की अवधि के मध्यावधि ऋण राज्य सहकारी बैंकों और क्षेत्रीय सहकारी बैंकों को कृषि व ग्रामीण विकास और राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक द्वारा समय-समय पर निर्धारित कुछ अन्य कार्यों के लिये दिये जाते हैं। यह बैंक कृषि और ग्रामीण विकास में लगी किसी भी संस्था की शेयर पूंजी के लिये अभिदान या उसके शेयरों का क्रय विक्रय या उसकी प्रतिभूतियों में निवेश कर सकता है।

कृषि और ग्रामीण विकास को बढ़ावा देने के लिये राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक भूविकास-बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों, व्यापारिक बैंकों, राज्य सहकारी बैंकों, और अन्य और अन्य वित्तीय संस्थाओं को दीर्घावधि ऋण व अग्रिम भी देता है। इसके अतिरिक्त यह बैंक राष्ट्रीय ग्रामीण साख (दीर्घावधि कार्य) कोष से राज्य सरकारों को 20 वर्ष तक की अवधि के लिये ऋण व अग्रिम दे सकता है जिससे कि वे सहकारी साख समितियों की शेयर पूंजी के लिये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अभिदान कर सकें।

समन्वयी, परामर्शी और विविध कार्य

विभिन्न प्रकार के ऋणों और अग्रिमों का स्रोत होने के अतिरिक्त राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक को ग्रामीण साख में कार्यरत विभिन्न संस्थाओं के कार्यों में समन्वय करने का काम भी सौंपा गया है। इसे कृषि व ग्रामीण विकास की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये विशेषज्ञ भी रखने होते हैं।

यह कृषि व ग्रामीण विकास में अनुसंधान को बढ़ावा देने और उसमें सहायता करने के लिये एक अनुसंधान व विकास कोष भी रखता है। यह अनुसंधान व प्रशिक्षण सुविधाओं के लिये प्रावधान करता है और इस कार्य के लिये अनुदान भी देता है। राष्ट्रीय कृषि एवं विकास बैंक का केन्द्रीय बोर्ड एक 'रक्षित कोष' या किसी अन्य कोष का निर्माण कर सकता है।

यह सहकारी बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का निरीक्षण भी करता है। ये बैंक जब नयी शाखाएं खोलना चाहते हैं तो इन्हें इसके लिये आवेदन पत्र राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक को देना होता है और यह बैंक अपनी टिप्पणी सहित उसे भारतीय रिजर्व बैंक के पास पहुंचाता है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को बैंकिंग विनियमन अधिनियम की विभिन्न धाराओं के अन्तर्गत भारतीय रिजर्व बैंक को जो विवरण देने होते हैं उनकी प्रतिलिपि राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक को भी देनी होती है। उसी प्रकार सहकारी बैंकों भी इस विवरण की प्रतिनिधि इस बैंक को भेजनी होती है।

13.6.2 प्रगति

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक ने शुरू से ही ग्रामीण क्षेत्र में साख के प्रवाह को बढ़ाने के लिये और खास तौर से छोटे और सीमान्त किसानों को अधिक ऋण उपलब्ध कराने के लिये बहुत से उपाय संस्थागत ग्रामीण साख संरचना को सुदृढ़ बनाकर किया। हाल ही में इसे ऋण देने की शर्तों को उदार बनाया ताकि ग्रामीण गैर-कृषि क्षेत्रक में साख का प्रवाह बढ़ाया जा सके। व्यापारिक बैंकों, सहकारी बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को दी जाने वाली पुनर्वित्त सहायता की मात्रा को बैंक ऋणों का 90% से बढ़ाकर 100% कर दिया गया।

राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक ने कृषि व गैर-कृषि क्षेत्रों में संवृद्धि लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता की है। इसके कार्यों व उद्देश्यों तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों, जैसे कि संतुलित क्षेत्रीय संवृद्धि, ग्रामीण क्षेत्रों में कमजोर वर्गों की आर्थिक स्थिति में सुधार आदि के बीच सामन्जस्य स्थापित किया गया।

राज्य सहकारी बैंकों की मौसमी कृषि क्रियाओं के वित्त प्रबन्ध के लिये स्वीकृत कुल अल्पावधि साख सीमा 1983-84 में 1,245 करोड़ रु. थी, यह 1984-85 में बढ़कर 1,233 करोड़ रु. हो गयी। मध्यावधि व दीर्घावधि साख प्रदान करने में भी इसने काफी प्रभावशाली कार्य किया। अनुमोदित कृषि कार्यों के लिये इसके द्वारा दिये गये मध्यावधि ऋण जो जून 1984 तक 32 करोड़ रु. थे तेजी से बढ़कर जून 1985 तक 158 करोड़ रु. हो गये। गहन ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) के लिये इस बैंक ने 302 करोड़ रु. देने का वादा किया और इसमें से 1985-86 में 291 करोड़ रु. दिया।

इसके कृषि साख पर बहुत जोर दिया, जिसके फलस्वरूप, इसकी कृषि व उससे सम्बन्धित क्रियाओं को दी गयी सहायता में तीव्र वृद्धि हुई। इसने गहन ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के लिये और गरीबी हटाने वाले कार्यक्रमों के लिये दिये जाने वाले ऋणों में आवश्यक सुधार लाने के लिए काफी पुनर्वित्त प्रदान किया।

यदि ग्रामीण साख प्रवाह का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करें तो यह पता चलता है कि राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक को ग्रामीण विकास में असन्तुलन को कम करने में बहुत कम सफलता मिली है। 1985-86 में उत्तर पूर्वी क्षेत्र को इसके द्वारा दी गयी पुनर्वित्त का केवल 2.1% मिला जबकि, उत्तरी, दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों को इसके संचयी भुगतानों का दो तिहाई भाग मिला।

बोध प्रश्न ग

1 बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत:—

i) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अध्यादेश 1975 में जारी किया गया।

ii) प्रवर्तक बैंक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक के साथ प्रतिस्पर्धा करता है।

iii) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को पुनर्वित्त सुविधाएं देता है।

iv) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक उन सभी कार्यक्रमों में भाग ले रहे हैं जो सीमान्त किसानों, ग्रामीण कारीगरों, और भूमिहीन श्रमिकों की सहायता के लिये हैं।

v) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की स्थापना 1972 में की गयी।

vi) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की अभिदत्त पूंजी 100 करोड़ रु. है।

vii) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक भू-विकास बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को दीर्घावधि ऋण देता है।

viii) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक का निरीक्षण करते हैं।

ix) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक ग्रामीण साख का आधार सुदृढ़ करने का प्रयत्न कर रहा है।

x) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त करने में सफल हुआ है।

13.7 सारांश

ग्रामीण ऋणग्रस्तता में हो रही निरंतर वृद्धि किसानों की गरीबी को दर्शाती है। किसानों को दो प्रकार के ऋणों की आवश्यकता

होती है: (i) उपभोग ऋण, और (ii) उत्पादन ऋण। समय को आधार पर ऋणों की तीन वर्गों में बांटा जा सकता है: अल्पावधि, मध्यावधि और दीर्घावधि ऋण।

किसान संस्थागत एजेन्सियों और गैर-संस्थागत एजेन्सियों, दोनों से ही ऋण ले सकते हैं। सहकारी बैंकों की स्थापना के कुल ऋणों में संस्थागत साख का हिस्सा बढ़ा है। 1970 से भारत ने ग्रामीण साख के क्षेत्र में बहु एजेन्सी नीति अपनायी है जिसमें सहकारी समितियों व्यापारिक बैंकों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों जैसी सस्थाओं ने भाग लिया है।

सहकारी संस्थाओं की संरचना तीन स्तरीय है: प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियां, केन्द्रीय सहकारी बैंक और राज्य सहकारी बैंक। ये अल्पावधि व मध्यावधि ऋण प्रदान करते हैं। भू-विकास बैंक दीर्घावधि ऋण प्रदान करते हैं। लेकिन ये सब मिलकर कृषि क्षेत्र को पर्याप्त वित्त प्रदान नहीं कर सके। 1969 से व्यापारिक बैंकों ने ग्रामीण साख में भाग लेना शुरू किया। ये सावधि ऋण व फसल ऋण प्रदान करते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में कमजोर वर्गों की सहायता करने के लिये क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित किये गये। सार्वजनिक क्षेत्रक के बैंक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को प्रवर्तित कर सकते हैं। ये इन बैंकों की शेयर पूंजी में भागीदार बन सकते हैं और शुरू में इनके संगठन और इनके कर्मचारियों की नियुक्ति में सहायक हो सकते हैं। यद्यपि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक समाज के कमजोर व गरीब वर्गों की सहायता करने में सफल हुए हैं लेकिन साधनों की अपर्याप्तता और बढ़ती हुई बकाया ऋण राशि इनकी प्रमुख समस्याएं हैं।

1972 में राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक स्थापित किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य अल्पावधि, मध्यावधि और दीर्घावधि के लिये कृषि सहकारी समितियों, ग्रामीण बैंकों और व्यापारिक बैंकों को पुनर्वित्त सुविधाएं प्रदान करना है। इसका असली उद्देश्य तो कृषि साख प्रणाली में इस प्रकार का परिवर्तन लाना है कि यह गरीब किसानों के कल्याण का एक प्रभावी उपकरण बन जाए।

13.8 शब्दावली

साख संरचना (Credit Structure): विभिन्न स्तर जिन पर साख उपलब्ध कराया जाता है।

सामाजिक नियंत्रण (Social Control): जब उत्पादक इकाइयों को व्यापारिक उद्देश्यों के साथ-साथ सामाजिक प्राथमिकताओं के अनुरूप भी कार्य करना पड़ता है।

13.9 बोध प्रश्नें के उत्तर

क 1 प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियां, केन्द्रीय सहकारी बैंक, राज्य सहकारी बैंक

2 भूमि खरीदने के लिये, भूमि पर स्थायी सुधार करने के लिये, ऋण कम करने के लिये

3 i) अपनी ii) जमाएं एवं ऋण

4 i) महाजन ii) अल्पावधि iii) 30 iv) राज्य सहकारी बैंक

ख 2 i) गलत ii) सही iii) सही iv) गलत

3 i) बारहमासी बागान ii) अप्रत्यक्ष अग्रिमों iii) चयनात्मक

ग 1 i) सही ii) गलत iii) सही iv) सही v) गलत
vi) सही vii) सही viii) गलत ix) सही x) गलत

13.10 स्वाध्याय प्रश्न

1 भारत में कृषि के लिये संस्थागत वित्त की आवश्यकता स्पष्ट कीजिये।

2 बताइये कि सहकारी बैंक किस प्रकार किसानों की ऋणग्रस्तता की समस्या को हल करने में सहायक हैं।

3 भारत में कृषि वित्त में सहकारी समितियों का योगदान स्पष्ट कीजिये।

4 भारत में कृषि साख के मुख्य स्रोत बताइये। राष्ट्रीयकृत बैंक किस हद तक किसानों की साख की आवश्यकताओं को पूरा कर सके हैं?

5 भारत में व्यापारिक बैंकों की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।

6 राष्ट्रीय कृषि व ग्रामीण विकास बैंक भारत में अन्य बैंकों को पुनर्वित्त सुविधाएं प्रदान करने में किस हद तक सफल हुआ है?

7 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की मुख्य विशेषताएं बताइये।

8 भारत में ग्रामीण साख की उपलब्धता में हाल ही में हुए परिवर्तनों का विवेचन कीजिये।

नोट: ये प्रश्न/अभ्यास इस इकाई को बेहतर ढंग से समझने में आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अपने अभ्यास के लिए हैं।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

डा. एस.के. मिश्राः *मुद्रा एवं बैंकिंग*, (दिल्लीः श्री महावीर बुक डिपो, 1990)

श्री के.पी.एम. सुंदरम एवं टी.एन. चतुर्वेदीः *मुद्रा, बैंकिंग व व्यापार*, (नई दिल्लीः सुल्तान चंद एंड संस, 1990)

शर्मा एवं सिंघईः *मुद्रा, बैंकिंग तथा राजस्व*, (आगरा, साहित्य भवन, 1991).

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

B.Com-D-4
मुद्रा बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएं

खंड

4

अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली

इकाई 14

अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली—परिचय 5

इकाई 15

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष 18

इकाई 16

विश्व बैंक 31

खंड 4 अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली

खंड 3 में आपने भारत के उन वित्तीय संस्थाओं के बारे में पढ़ा जो इस देश के उद्योगों को मध्यकालिक और दीर्घकालिक ऋण प्राप्त होने में सहायक होती हैं। अर्थशास्त्र और वाणिज्य के छात्र के लिए उन अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की भूमिका के बारे में भी जानना आवश्यक है जो एक देश से दूसरे देश को कोषों के अंतरण में सहायता करती हैं तथा अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली के प्रमुख अंग होती हैं। इस खंड में आप जिन विषयों का अध्ययन करेंगे वे हैं, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली की संकल्पना तथा 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' और 'विश्व बैंक' नामक दो प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की कार्य प्रणाली। इस खंड में तीन इकाइयाँ हैं (इकाई 14 से 16)।

इकाई 14 में अंतर्राष्ट्रीय वित्त और संस्थागत तंत्र की उस आवश्यकता का स्पष्टीकरण किया गया है जो राष्ट्रों के बीच कोषों के प्रवाह को सुविधाजनक बनाने के लिए होती है।

इकाई 15 में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों और कार्यविधि को स्पष्ट किया गया है तथा विनिमय दर स्थायित्व और अंतर्राष्ट्रीय तरलता से संबंधित समस्याओं का विवेचन किया गया है।

इकाई 16 में विश्व बैंक के उद्देश्यों और कार्यों का विवेचन किया गया है। इसमें विश्व बैंक के कार्यों, उसके योगदान और उसकी असफलताओं के संबंध में भी बताया गया है।

इकाई 14 अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली—परिचय

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता
  14.2.1 कोषों का अल्पकालीन प्रवाह
  14.2.2 दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह
14.3 विदेशी विनिमय बाजार
  14.3.1 विदेशी विनिमय बाजार का संघटन
  14.3.2 हाज़िर और वायदा बाजार
  14.3.3 विनिमय दर व्यवस्थाएं
14.4 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और पूंजी बाजार
  14.4.1 मुद्रा बाजार
  14.4.2 पूंजी बाजार
14.5 अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं
  14.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
  14.5.2 विश्व बैंक
  14.5.3 विश्व बैंक से सम्बद्ध संस्थाएं
14.6 सारांश
14.7 शब्दावली
14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
14.9 स्वपरख प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता बता सकें
- अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की संरचना का वर्णन कर सकें
- विदेशी विनिमय बाजार की कार्यप्रणाली बता सकें
- अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और पूंजी बाजारों की प्रकृति और कार्य-प्रणाली बता सकें
- प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की भूमिका का वर्णन कर सकें।

14.1 प्रस्तावना

विभिन्न देशों के बीच कोषों के प्रवाह की प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली कहलाती है। कोषों के प्रवाह की आवश्यकता दो कारणों से होती है। प्रथम, देशों में व्यापार के लिये बहुधा कोषों के अन्तर्राष्ट्रीय हस्तांतरण की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि व्यापार मुश्किल से ही वस्तु-विनिमय के रूप में होता है, इसलिये किसी भी देश के व्यापार-शेष (balance of trade) में सामान्यतया या तो अधिशेष (बचत) होता है या घाटा होता है। इसके लिये देशों में कोषों के हस्तांतरण की आवश्यकता होगी। विभिन्न देशों में कोषों के हस्तांतरण की दूसरी श्रेणी में दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह आते हैं। ऐसे प्रवाह सरकारी और निजी दोनों स्तरों पर हो सकते हैं। इस इकाई में आप अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रवाहों की आवश्यकता और कोषों के ऐसे प्रवाहों को सरल बनाने के लिये विद्यमान संस्थागत व्यवस्था के बारे में पढ़ेंगे। विशेष रूप से आप विदेशी विनिमय बाजार, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और पूंजी बाजारों की कार्यप्रणाली तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और उससे सम्बद्ध संस्थाओं की भूमिका के बारे में भी पढ़ेंगे।

14.2 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता दो प्रकार की होती है: (1) अल्पकालीन, और (2) दीर्घकालीन। लगभग सभी देशों के भुगतान शेष में सदा असंतुलन होता है, अर्थात् भुगतान शेष में या तो बचत होती है या घाटा होता है। ऐसी स्थिति में बचत वाले देशों से घाटे वाले देशों को कोषों का अल्पकालीन हस्तांतरण आवश्यक होता है। दूसरी ओर, विभिन्न देशों में दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह दो कारणों से होता है: (1) विकासशील देशों की अपनी विकास परियोजनाओं के लिये विदेशी पूंजी की आवश्यकता, और (2) विदेशों में निवेश के अवसर। आइये, अब अल्पकालीन आवश्यकताओं और दीर्घकालीन आवश्यकताओं पर अलग-अलग विचार करें।

14.2.1 कोषों का अल्पकालीन प्रवाह (Short Term Flow of Funds)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोषों के अल्पकालीन प्रवाह की आवश्यकता विभिन्न देशों के भुगतान-शेष (balance of payments) में असन्तुलन से उत्पन्न होती है। लेकिन इस असंतुलन का अर्थ क्या है? किसी देश के भुगतान शेष से तात्पर्य एक निश्चित अवधि के दौरान लेनदेनों से बाकी देशों के विरुद्ध होने वाले शुद्ध दावों से है। **जब ये दावे धनात्मक होते हैं तो भुगतान शेष अनुकूल कहा जाता है और जब ये दाव ऋणात्मक होते हैं तो उन्हें प्रतिकूल कहा जाता है।** इस बात को समझने के लिये भुगतान शेष की लेखा पद्धति को समझना आवश्यक है। तालिका 14.1 में संक्षेप में एक देश के भुगतान शेष का खाता प्रस्तुत किया गया है।

तालिका 14.1
एक देश के भुगतान शेष का खाता (एक उदाहरण)

प्राप्तियाँ (क्रेडिट)	राशि (रु.)	भुगतान (डेबिट)	राशि (रु.)
वस्तुओं का निर्यात	1,300	वस्तुओं का आयात	1,400
सेवाओं का निर्यात	140	सेवाओं का आयात	120
एकपक्षीय प्राप्तियां	160	एकपक्षीय भुगतान	40
पूंजीगत प्राप्तियां	300	पूंजीगत भुगतान	400
सोने का निर्यात	100	सोने का आयात	40
कुल प्राप्तियां	2,000	कुल भुगतान	2,000

किसी भी देश का भुगतान शेष खाता दोहरी प्रविष्ट खाता बही प्रणाली (double entry book-keeping) के आधार पर बनाया जाता है और इसलिये इसके दोनों ओर के योग सदा बराबर होते हैं अर्थात् कुल प्राप्तियां सदा कुल भुगतानों के बराबर होती हैं। तालिका 14.1 को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि डेबिट और क्रेडिट दोनों ओर के योग 2000 रु. हैं। फिर भी, यह संभव है कि इस देश के भुगतान शेष में संतुलन न हो और इस देश और विश्व के शेष देशों के बीच अल्पकालीन कोषों के प्रवाह की आवश्यकता पड़े। यह वास्तव में एक विरोधाभासी स्थिति है और इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि यह कुछ जटिल सी स्थिति है इसलिये भुगतान शेष खाते की प्रत्येक मद पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

1) **वस्तुओं का निर्यात व आयात:** एक देश के भुगतान शेष खाते में सबसे महत्वपूर्ण मद वस्तु व्यापार यानि निर्यात और आयात है। वस्तु निर्यात से देश के आयात करने वाले देशों पर दावे बनते हैं, जब कि वस्तु आयात से इस देश के, उन देशों के प्रति, जिन्होंने इसे माल निर्यात किया है, ऋण दायित्व बनते हैं। जब तक कि एक देश सख्ती से निर्यात और आयात केवल वस्तु विनिमय आधार पर न करे, ये दोनों बराबर नहीं होते। उन स्थितियों में भी जहां विदेशी व्यापार देश की सरकार द्वारा नियोजित और विनियमित होता है, देश के व्यापार शेष में अधिशेष (surplus) या घाटा (deficit) हो सकता है, इससे इस देश और उन देशों के बीच, जिससे यह व्यापार करता है, अल्पकालीन कोषों का प्रवाह होगा बशर्ते कि अन्य शीर्षकों (जैसा कि तालिका 14.1 में दिखाये गये हैं) के अन्तर्गत होने वाली प्राप्तियां और भुगतान ऐसे प्रवाह की आवश्यकता को समाप्त न कर दें।

2) **अदृश्य निर्यात और आयात:** वस्तुओं के निर्यात की भांति सेवाओं का भी विभिन्न रूपों में निर्यात किया जाता है, जिससे विदेशियों के विरुद्ध दावे उत्पन्न होते हैं। ये सभी दावे देश के भुगतान शेष खाते में प्राप्तियों की ओर दिखाये जाते हैं। तालिका 14.1 में आप देखेंगे कि सेवाओं का निर्यात भुगतान शेष खाते के क्रेडिट की ओर लिखा गया है। एक देश किस रूप में सेवाओं का निर्यात करता है यह समझना आवश्यक है। पोत-परिवहन व भाड़ा सेवाएं, बैंकिंग, बीमा और दलाली सेवाओं के लिये भुगतान, विदेशी निवेश पर प्रतिफल, विदेशी पर्यटकों और विदेशों में रहने वाले देशवासियों द्वारा व्यय, विदेशों में

सरकारी एजेन्सियों द्वारा व्यय और देश में विदेशी सरकारी एजेन्सियों द्वारा व्यय, सेवाओं की मुख्य मदें हैं जो भुगतान शेष खातों में शामिल की जाती हैं। आइये भारत जैसे देश की स्थिति पर विचार करें। मान लीजिये कि भारतीय कम्पनियों द्वारा विदेशी फर्मों को पोत-परिवहन, बैंकिंग, बीमा और अन्य ऐसी ही सेवाएं प्रदान की जाती हैं। ऐसी स्थिति में इन फर्मों के विरुद्ध दावों का सृजन होगा और इस प्रकार ये सेवाएं भारत के भुगतान शेष खाते में प्राप्तियों की ओर दिखायी जाएंगी। इसके विपरीत, जब भारतीय फर्में विदेशी जल-परिवहन निगमों, बैंकों और बीमा कम्पनियों की सेवाएं प्राप्त करती हैं तो उनके दावे भारतीय फर्मों के विरुद्ध होंगे और ये भारत के भुगतान शेष खाते में भुगतान की ओर दिखाये जाएंगे। अन्य प्राप्तियों और भुगतानों की मदों का लेखा भी इसी प्रकार होगा।"

3) **एकपक्षीय हस्तांतरण (Unilateral transfer):** व्यक्तिगत रूप से भेजी गई राशि, जैसे उपहार, अनुदान और हरजाने आदि जैसे एकपक्षीय हस्तांतरणों में वापसी का कोई दावा नहीं होता और इसलिये इन्हें अप्रतिदत्त हस्तांतरण (unrequired transfer) कहते हैं। ये हस्तांतरण देश के भुगतान शेष खाते में दोनों ओर आते हैं। पहले यह देखें की कौन से एकपक्षीय हस्तांतरण भुगतान शेष खाते में क्रेडिट की ओर आएंगे। एक देश को विदेशी सरकारों व संस्थानों से उपहार और अनुदान प्राप्त हो सकते हैं और इन्हें वापस नहीं करना होता। भुगतान शेष खातों में इन्हें प्राप्तियों के रूप में क्रेडिट की ओर दिखाया जाएगा। पिछले तीन दशकों के दौरान कम विकसित देशों ने विकसित देशों से बहुत अनुदान प्राप्त किये हैं। विदेशों से प्रेषित धन (remittance) तो हाल में ही आने लगा है। भारत के भुगतान शेष खाते के क्रेडित पक्ष में जो एकपक्षीय अंतरण होता है उसका बहुत बड़ा भाग प्रेषित धन का ही है। क्षतिपूर्ति (indemnitees) और हानिपूर्ति (reparation) सामान्य हस्तांतरण नहीं हैं। ये प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका और उसके सहयोगी देशों द्वारा जर्मनी से लिये गये थे। ये प्राप्तियां हरजाना प्राप्त करने वाले देशों के भुगतान शेष खातों में क्रेडिट की ओर दिखायी गयीं। जब ये एक तरफा हस्तांतरण किसी देश के भुगतान शेष खाते के डेबिट की ओर दिखाये जाते हैं तो इसका अर्थ है कि इस देश ने उपहार, अनुदान व हरजाने दिये हैं और देश से राशि भेजने की अनुमति मिली है।

4) **पूंजीगत प्राप्तियां और भुगतान:** वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात और आयात के कारण प्राप्तियों और भुगतानों तथा एकपक्षीय भुगतानों से भुगतान शेष का चालू खाता बनता है। इस खाते में घाटा या अधिशेष अवश्य होता है। देश के भुगतान शेष के पूंजी खाते में वे सभी स्वायत्त लेन-देन आते हैं जिनमें मौद्रिक पूंजी की प्राप्तियां और भुगतान होते हैं। देशों के बीच पूंजीगत प्रवाह के कई रूप में होते हैं, जैसे ऋण, ऋणों की वापसी और विदेशों के निजी व सार्वजनिक निवेश। जब एक देश ऋण प्राप्त करता है या शेयर पूंजी एकत्र करता है तो इस प्रकार एकत्र की गयी राशि को क्रेडिट की ओर पूंजीगत प्राप्तियों के रूप में दिखाया जाता है। ऋणों की अदायगी या विदेशी पूंजी की वापसी को भुगतान शेष खाते में डेबिट की ओर दिखाया जाता है। भुगतान शेष के चालू खाते की ही भांति पूंजी खाता भी घाटा या अधिशेष दर्शाता है। लेकिन चालू खाता और पूंजी खाता दोनों को एक साथ लेने से ही हमें पता चलता है कि देश के भुगतान शेष खातों में शुद्ध अधिशेष है या शुद्ध घाटा है।

5) **सोने का संचलन:** विभिन्न देशों के बीच सोने का संचलन दो रूपों में होता है। पहला, इसका अन्य किसी वस्तु की भांति निर्यात या आयात किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में इसमें और अन्य वस्तुओं में भेद नहीं किया जाता। दूसरा, भुगतान शेष के घाटे को पूरा करने के लिये सोना दिया जाता है। जब ऐसा किया जाता है तो सोना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विनिमय के माध्यम का कार्य करता है। देश के भुगतान शेष खाते में सोने के निर्यात और आयात का लेखा अन्य वस्तुओं के निर्यात और आयात के भांति ही किया जाता है यानि सोने का निर्यात क्रेडिट की ओर और सोने का आयात डेबिट की ओर दिखाया जाता है। इस प्रकार केवल भुगतान शेष खाते से सोने के संचलन के वास्तविक कारणों का पता नहीं चलता।

भुगतान शेष सम्बंधी लेखांकन पर विचार करने के पश्चात् अब हम भुगतान शेष में असंतुलन का अर्थ समझने की स्थिति में हैं। किसी देश के निर्यात व आयात के अन्तर को व्यापार शेष कहते हैं। **जब निर्यात आयात से अधिक होते हैं तो व्यापार शेष अनुकूल कहा जाता है। इसके विपरीत जब आयात निर्यात से अधिक होते हैं तो व्यापार शेष को प्रतिकूल माना जाता है।** व्यापार शेष में घाटा दूर हो सकता है या बढ़ सकता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि अन्य शीर्षकों के अन्तर्गत अधिशेष (बचत) है या घाटा। तालिका 14.1, उस देश में 60 रु. का घाटा दिखाती है। यदि हम चालू खाते, जिसमें वस्तुओं व सेवाओं के व्यापार और एकपक्षीय हस्तांतरण आते हैं, को लें तो हम देखते हैं कि 40 रु. का अधिशेष है। क्योंकि पूंजीगत प्राप्तियां 300 रु. हैं जबकि पूंजीगत भुगतान 400 रु. है, इसलिये पूंजी खाते में 100 रु. का घाटा है। चालू खाता और पूंजी खाता दोनों को साथ लेने पर शुद्ध घाटा 60 रु. का है। इससे 60 रु. मूल्य के सोने का शुद्ध निर्यात आवश्यक हुआ। यह घाटा उन विकसित देशों से, जिनके पास पूंजी अधिशेष है, और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से अल्पकालीन ऋण लेकर भी पूरा किया जा सकता है।

14.2.2 दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह (Long Term Capital Flows)

भुगतान शेष का लेखांकन बताते समय पूंजी-गत प्रवाहों का जिक्र किया गया था। अब आप यह जानेंगे कि

दीर्घकालीन पूंजीगत प्रवाह विभिन्न देशों की विकासात्मक आवश्यकताओं से होते हैं। आज की दुनियां को पूंजी अधिशेष देश और पूंजी घाटा देश, इन दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। अधिकांश विकसित देश पूंजी अधिशेष देश हैं जबकि हैं सभी विकासशील देश पूंजी घाटा देश हैं। क्योंकि दूसरी श्रेणी में आने वाले देश अपनी निवेश आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त बचत नहीं कर पाते, इसलिये वे पूंजी अधिशेष देशों से विदेशी पूंजी का आयात करते हैं।

विदेशी पूंजी के प्रायः दो रूप होते हैं: (i) निजी विदेशी निवेश, और (ii) विदेशी सहायता। दूसरे विश्व युद्ध से पहले, उपनिवेशी शक्तियों द्वारा उपनिवेशों के बाजार का शोषण करने के लिये निजी विदेशी निवेश का प्रयोग किया गया। क्योंकि अब ये उपनिवेश स्वतंत्र हो गये हैं इसलिये निजी विदेशी निवेश इनमें पहले वाले रूप में नहीं हो पा रहा है। आजकल निजी विदेशी निवेश दो रूप में किया जाता है: (1) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, और (2) अप्रत्यक्ष विदेशी निवेश। **अधिकांश प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अब बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा किया जाता है।** ये बहुराष्ट्रीय निगम उन देशों को पर्याप्त वित्तीय साधन प्रदान करते हैं जहाँ ये अपनी शाखाएं और सहायक कम्पनियां खोल लेते हैं। इस प्रकार पूंजी प्राप्त करने वाले देशों को अपनी संवृद्धि के लिये आवश्यक पूंजी प्राप्त करने में काफी सहायता मिल जाती है। लेकिन जब ये निगम लाभ को अपने देशों में भेजना शुरू करते हैं या इनकी उत्पादन योजनाओं से इन देशों के औद्योगिक ढांचे में विकार आने लगते हैं तो इन्हें उस समय कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। **अप्रत्यक्ष विदेशी निवेश तब होता है जब किसी देश के नागरिक विदेशी कम्पनियों के शेयरों और ऋणपत्रों में निवेश करते हैं।** आजकल अधिकांश निजी विदेशी निवेश प्रत्यक्ष रूप में होता है, अप्रत्यक्ष रूप में नहीं।

विदेशी सहायता का तात्पर्य सरकारी ऋणों और अनुदानों से है जो विकसित देशों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा अल्पविकसित देशों को करेंसी या माल के रूप में दिये जाते हैं। ये ऋण और अनुदान विकासात्मक कार्यों के लिये दिये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में केवल वे ऋण और अनुदान ही प्रासंगिक हैं जो करेंसी के रूप में दिये जाते हैं। ऐसी सहायता की मुख्य विशेषता यह है कि ये रियायती शर्तों पर दी जाती है जिसका अर्थ है नीची ब्याज दर और लम्बी भुगतान-अवधि। जब विदेशी सहायता प्रदान की जाती है तो इसमें साधारणतया विदेशी विनिमय की कोई समस्या नहीं होती। क्योंकि विकसित देशों द्वारा सहायता अपनी करेंसी में दी जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा यह विकसित देशों की करेंसी में दी जाती है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में पूंजीगत उपकरणों और प्रौद्योगिकी खरीदने के लिये आसानी से इसका प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन जब ऋण भार के दायित्वों को पूरा करना होता है तो समस्या उत्पन्न होती है। इन दायित्वों को पूरा करने के लिये सहायता प्राप्त करने वाले देशों को विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी जिसे वे केवल अपने भुगतान शेष में अधिशेष होने से ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु अधिकांश स्थितियों में भुगतान शेष में अधिशेष प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। इससे विदेशी पूंजी प्राप्त करने के इच्छुक देश अब कठिन स्थिति में आ गये हैं। ये या तो ऋण जाल में फंस चुके हैं या इसमें फंसने की जोखिम में हैं।

बोध प्रश्न क

1 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता के लिये दो मुख्य कारण बताइये।

.....

.....

.....

.....

2 अन्तर्देशीय दीर्घकालीन पूंजी प्रवाहों के दो मुख्य रूप बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

3 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलत :

i) यदि किसी देश के बाकी की दुनियां के साथ होने वाले लेनदेनों से उत्पन्न शुद्ध दावे धनात्मक हैं तो उस देश के भुगतान शेष को अनुकूल कहा जाता है।

ii) एक देश की वस्तुओं के निर्यात और आयात के अन्तर को व्यापार शेष कहते हैं।

iii) लेखांकन की दृष्टि से किसी देश के भुगतान शेष के डेबिट और क्रेडिट ओर के योग सदा बराबर होते हैं और इसलिये उसमें असंतुलन नहीं हो सकता।

iv) व्यापार घाटों और अधिशेषों के कारण देशों के बीच कोषों के प्रवाह की आवश्यकता नहीं होती।

v) सेवाओं के निर्यात व आयात तथा एकपक्षीय हस्तांतरण कोषों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को प्रभावित करते हैं।

vi) जब तक भुगतान शेष खातों के चालू खाते और पूंजी खाते को एक साथ न लिया जाए, तब तक यह पता नहीं लगाया जा सकता कि किसी देश के भुगतान शेष में अधिशेष है या घाटा।

14.3 विदेशी विनिमय बाजार (Foreign Exchange Market)

आज की दुनियाँ में अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्थाएं खुली अर्थव्यवस्थाएं हैं, जिसका अर्थ है कि इन देशों के कुछ नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन करते हैं। ये लेन-देन वस्तुओं के निर्यात व आयात के रूप में हो सकते हैं, सेवाओं के निर्यात व आयात के रूप में हो सकते हैं, अन्तरदेशीय एकपक्षीय हस्तांतरण, पूंजीगत प्रवाह और सोने के निर्यात व आयात के रूप में हो सकते हैं। इन अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों में से अधिकांश की एक खास विशेषता होती है, जो इन्हें घरेलू लेन-देनों से भिन्न बनाती है। इसके लिये, लेन-देन करने वालों को, विदेशी मुद्रा का प्रयोग करना पड़ता है। उदाहरण के लिये, अमेरिका से आयात करने वाली एक भारतीय फर्म को उस देश को भुगतान करने के लिये डालर प्राप्त करने पड़ेंगे। इसी प्रकार, कनाडा के देशवासी को, जो कि भारत आता है, अपने डालर के बदले रुपये प्राप्त करने पड़ेंगे। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों के लिये एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा से विनिमय करना पड़ता है। मुद्राओं का यह क्रय-विक्रय विदेशी विनिमय बाजार में होता है।

संकीर्ण दृष्टिकोण से विदेशी विनिमय का तात्पर्य विदेशी मुद्राओं से है। यदि विस्तृत दृष्टिकोण अपनायें तो विदेशी विनिमय में न केवल विदेशी मुद्राएं शामिल होती हैं बल्कि विदेशी मुद्रा में व्यक्त बैंक जमा और विदेशी मुद्रा में व्यक्त विदेशियों पर अल्पकालीन दावे भी शामिल होते हैं। लेकिन आजकल अधिकांश विदेशी विनिमय लेन-देनों में विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय और विदेशी मुद्राओं में व्यक्त बैंक जमा शामिल होती हैं।

14.3.1 विदेशी विनिमय बाजार का संघटन (Composition of Foreign Exchange Market)

विदेशी विनिमय बाजारों में मुख्य भाग लेने वाले हैं: (1) खुदरा ग्राहक, (2) व्यापारिक बैंक, (3) विदेशी विनिमय के दलाल, और (4) केन्द्रीय बैंक।

1) **खुदरा ग्राहक:** व्यक्ति और व्यापारिक फर्में खुदरा ग्राहक होते हैं। ये लेन-देनों के लिये या अपने पोर्टफोलियो में समायोजन के लिए विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय करते हैं। जिन लेन-देनों के लिये ये विदेशी मुद्राओं का व्यापार करते हैं वे वस्तुओं व सेवाओं का निर्यात व आयात और प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होते हैं। कुछ खुदरा ग्राहक अपने पोर्टफोलियो के समायोजन यानि अपने पास विभिन्न मुद्राओं की मात्रा में परिवर्तन लाने के लिये नियमित रूप से विदेशी विनिमय बाजार में भाग लेते हैं। खुदरा ग्राहक सामान्यतया एक दूसरे से प्रत्यक्ष रूप में लेन-देन नहीं करते। उनके विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय सम्बन्धी लेन-देन अधिकांशतः व्यापारिक बैंकों के साथ होते हैं।

2) **व्यापारिक बैंक:** व्यापारिक बैंक को विदेशी विनिमय बाजार में काम करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था माना जाता है। व्यापारिक बैंक खुदरा ग्राहकों से विदेशी मुद्राओं में लेन-देन करने के लिये अपने पास विदेशी विनिमय का स्टॉक (inventories) रखते हैं। यदि एक खुदरा ग्राहक व्यापारिक बैंक से विदेशी विनिमय खरीदता है तो बैंक का विदेशी विनिमय का स्टॉक घट जाता है। इसके विपरीत, जब खुदरा ग्राहक विदेशी विनिमय बेचता है तो बैंक का विदेशी विनिमय का स्टॉक बढ़ जाता है। खुदरा ग्राहकों द्वारा व्यापारिक बैंकों से विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इससे व्यापारिक बैंकों के पास कभी विदेशी विनिमय कोषों की बहुलता हो जाती है और कभी इनकी कमी हो जाती है। इसके अतिरिक्त, किसी भी समय कुछ बैंकों के पास विदेशी विनिमय की बहुलता हो सकती है और कुछ के पास इसकी कमी हो सकती है। ऐसी परिस्थितियों में व्यापारिक बैंक एक दूसरे के साथ विदेशी विनिमय का लेन-देन करते हैं।

3) **विदेशी विनिमय दलाल:** कुछ देशों में, जिनमें अमेरिका मुख्य है, व्यापारिक बैंक एक दूसरे से विदेशी-विनिमय में लेन-देन नहीं करते। वे इसके लिये प्रायः विदेशी विनिमय दलालों की सेवायें प्राप्त करते हैं। ये दलाल स्वयं विदेशी विनिमय का लेन-देन नहीं करते। इनका मुख्य कार्य विदेशी विनिमय खरीदने के इच्छुक और बेचने के इच्छुक बैंकों को आपस में मिलाना होता है। इसलिये दलालों की भूमिका अन्तर-बैंक मध्यस्थों की है। यह कार्य करते समय दलालों को विनिमय दर के उतार-चढ़ाव से उत्पन्न जोखिमों को वहन नहीं करना पड़ता। वास्तव में जोखिम व्यापारिक बैंकों को ही उठाना पड़ता है, जिन्हें विदेशी विनिमय के व्यापारी होने के नाते विदेशी विनिमय का स्टॉक रखना होता है।

4) **केन्द्रीय बैंक:** किसी भी देश का केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय बाजार में एक महत्त्वपूर्ण भागीदार होता है। इसके इस बाजार में क्रियाशील होने के दो उद्देश्य हैं: (i) विदेशी विनिमय बाजार में घरेलू मुद्रा

को समर्थन देना और (ii) देश के विदेशी विनिमय रिजर्व को विनियमित करना। लेकिन इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय बाजार में प्रत्यक्ष रूप से कार्य नहीं करता। यह विदेशी विनिमय के लेन-देनों के लिये प्रायः व्यापारिक बैंकों और विदेशी विनिमय दलालों पर भरोसा करता है।

14.3.2 हाज़िर और वायदा बाजार (Spot and Forward Market)

विदेशी विनिमय बाजार दुनियाँ के बड़े बाजारों में से एक है। आप इस तथ्य से इसके आकार का अनुमान लगा सकते हैं कि हाल के वर्षों में इसके दैनिक लेन-देनों की मात्रा 100 बिलियन डालर से भी अधिक थी। विदेशी विनिमय बाजारों को बहुधा हाज़िर बाजार और वायदा बाजार में वर्गीकृत किया जाता है। यह भेद मूलतः विदेशी विनिमय की सुपुर्दगी के समय और इसके लिये भुगतान के बारे में है। हाज़िर बाजारों में, ऐसे लेन-देन, जिनके लिये विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय आवश्यक होते हैं, तुरन्त सुपुर्दगी के लिये किये जाते हैं। व्यवहार में, इसमें बहुधा एक या दो दिन लग जाते हैं लेकिन किसी भी स्थिति में इससे अधिक समय नहीं लगता। ऐसे लेन-देन प्रचलित विनिमय दरों पर होते हैं और इन्हें हाज़िर विनिमय दर कहा जाता है। वे व्यक्ति जो विदेश जाना चाहते हैं या अपनी बचत को विदेश से अपने देश में भेजना चाहते हैं, हाज़िर बाजार में विदेशी विनिमय खरीदते हैं। लेकिन व्यापार कार्य के लिए हाज़िर बाजारों में विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना पूर्णतया सुरक्षित नहीं होता। क्योंकि विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं इसलिये एक आयातक को वायदा बाजार में विदेशी विनिमय क्रय करके इन सम्भावनाओं से अपने हित की रक्षा करनी पड़ेगी। मान लीजिये कि एक भारतीय फर्म एक अमरीकी फर्म से 30 दिन बाद माल प्राप्त करने की आशा करती है। इस फर्म के पास भुगतान की व्यवस्था करने के दो तरीके हैं। पहला, यह माल की सुपुर्दगी के समय हाज़िर बाजार में डालर खरीदे। लेकिन इसमें बहुत खतरा है। विकल्पतः, यह 30 दिन बाद डालर खरीदने का अनुबंध करे। मान लीजिये कि माल के लिये आदेश देने और माल की सुपुर्दगी के बीच के समय में विनिमय दर में अप्रत्याशित वृद्धि हो जाती है और यह दर 18 रु. प्रति डालर से 19 रु. प्रति डालर हो जाती है। यदि भारतीय फर्म ने माल की सुपुर्दगी के समय हाजिर बाजार से डालर खरीदने का निर्णय लिया था तो उसे भारी हानि हो जाएगी। भारतीय फर्म इस हानि से बच सकती है यदि वह भविष्य में सुपुर्दगी के लिये वायदा बाजार में डालर खरीदे और आज निर्धारित की गयी विनिमय दर से भुगतान कर दे। वायदा विनिमय बाजार का अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में बहुत महत्त्व है क्योंकि विदेशी विनिमय के अधिकांश लेन-देन वास्तव में वायदा लेन-देन द्वारा होते हैं।

14.3.3 विनिमय दर व्यवस्थाएं (Exchange Rate Regimes)

पिछले भाग में हाज़िर और वायदा विनिमय दरों का जिक्र किया गया था। आप सोचते होंगे कि विनिमय दरें कैसे निर्धारित होती हैं, इनमें परिवर्तन क्यों होते हैं और क्या कोई ऐसी व्यवस्था है जिससे इनमें होने वाले उतार-चढ़ावों को रोका जा सके। अर्थशास्त्री सामान्यतया तीन प्रकार की विनिमय दर व्यवस्थाओं में भेद करते हैं। इन तीनों का संक्षेप विवरण ऊपर उठाये गये प्रश्नों का उत्तर प्रदान करेगा। इस सम्बन्ध में आप और अधिक जानकारी अगली इकाई (इकाई 15) में प्राप्त करेंगे।

1) **मुक्त रूप से नम्य या मुक्त-अबन्ध (free-floating) विनिमय दर व्यवस्था:** मुक्त रूप से नम्य विनिमय दर व्यवस्था की विशेषता यह है कि इसमें विनिमय दरें विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति के आधार पर मुक्त रूप से घटती-बढ़ती रहती हैं। विनिमय दर व्यवस्थाओं में यह सबसे कम जटिल प्रणाली है। **मुक्त रूप से नम्य विनिमय दरों का मुख्य लाभ यह है कि ये भुगतान शेष में संतुलन प्राप्त करने के लिये अपने आप समायोजन करती हैं।** क्योंकि इस प्रणाली में विनिमय दरों के समर्थन के लिये सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता, इसलिये विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति को प्रभावित करने वाले कारकों में परिवर्तनों का विनिमय दरों पर मुक्त प्रभाव पड़ता है। लेकिन इसका यह अर्थ भी है कि मुक्त रूप से नम्य विनिमय दरें बहुत ही अस्थिर होती हैं। इसलिये, इनकी मुख्य हानि यह है कि ये कीमत अस्थिरता लाती हैं और इससे व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा आर्थिक कल्याण कम होता है।

2) **नियत या अधिकीलित (Fixed or Pegged) विनिमय दर व्यवस्था:** इस व्यवस्था में सरकार द्वारा सुनिश्चित की गयी परिभाषित संकीर्ण सीमाओं में विनिमय दर स्थिर होती है। इसमें विभिन्न दरें स्थायी रूप से निश्चित नहीं की जातीं। इनमें भुगतान शेष में निरन्तर अधिशेष या घाटे से होने वाले संरचनात्मक परिवर्तनों के अनुरूप परिवर्तन किया जा सकता है (हालांकि बार-बार नहीं)। शुरू में, स्थिर विनिमय दर व्यवस्था के अन्तर्गत विनिमय दर विचाराधीन देशों के भुगतान शेष की स्थितियों को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाती है। वास्तव में, किसी देश के भुगतान शेष की स्थिति ही उसकी मुद्रा की मांग और पूर्ति को निश्चित रूप से निर्धारित करती है जिनसे इसकी मुद्रा का अन्य मुद्राओं के रूप में मूल्य निर्धारित होता है। **स्थिर विनिमय दर प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि यह विनिमय दर को स्थिरता प्रदान करती है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता के एक स्रोत को समाप्त करती है।** इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि इससे भुगतान शेष में संतुलन का पुनः स्थापन करना कठिन हो जाता है।

3) **व्यवस्थित (या नियंत्रित) अबन्ध विनिमय दर व्यवस्था:** व्यवस्थित अबन्ध विनिमय दर व्यवस्था एक ऐसी प्रणाली है जिसमें विदेशी विनिमय बाजार में परिवर्तनों के प्रत्युत्तर में विनिमय दर सरकारी हस्तक्षेप

द्वारा बार-बार समायोजित की जाती है। लेकिन सरकार स्वयं को एक निश्चित स्थिर विनिमय दर बनाये रखने के लिये वचनबद्ध नहीं करती। इसका प्रयास विनिमय दर में अत्यधिक उतार-चढ़ावों को रोकने तक ही सीमित होता है। इस नीति के फलस्वरूप विनिमय दर में सुव्यवस्थित परिवर्तन होते हैं। **इस प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि यदि किसी देश में संरचनात्मक समस्याएं न हों तो इसके कारण उस देश के भुगतान शेष में भारी अधिशेष या घाटा नहीं हो सकता।** यह मुक्त रूप से नम्य विनिमय दर प्रणाली की अनिश्चितता और अत्यधिक परिवर्तनों से तथा नियत विनिमय दर व्यवस्था की अस्थिरता से भी बचाती है।

बोध प्रश्न ख

हाज़िर और वायदा विनिमय दरों में भेद कीजिये।

.....

.....

.....

.....

2 विदेशी विनिमय बाज़ारों के मुख्य भागीदारों की सूची बनाइये।

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

3 तीन प्रकार की विनिमय दर व्यवस्थाओं के नाम बताइये।

.....

.....

.....

4) बताइये कि निम्नलिखित कथनों में से कौन सही हैं और कौन गलत:

i) खुदरा ग्राहक विदेशी विनिमय का लेन-देन साधारणतया प्रत्यक्ष रूप से करते हैं।

ii) विदेशी विनिमय बाजार में व्यापारिक बैंक सबसे महत्त्वपूर्ण भागीदार होते हैं।

iii) हाज़िर विदेशी विनिमय लेन-देनों में विदेशी विनिमय की सुपुर्दगी और भुगतान तुरन्त होते हैं।

iv) वायदा बाजार में जिस कीमत पर मुद्रा का व्यापार किया जाता है वह मुद्रा के भुगतान और सुपुर्दगी के साथ-साथ निर्धारित की जाती है।

v) मुक्त रूप से नम्य विनिमय दर व्यवस्था तब होती है जब विनिमय दरें निजी पक्षकारों द्वारा की गयी मुद्राओं की मांग और पूर्ति द्वारा मुक्त रूप से निर्धारित की जाती हैं।

vi) एक स्थिर विनिमय दर प्रणाली में विनिमय दरों को किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित नहीं होने दिया जाता।

vii) व्यवस्थित अबन्ध विनिमय दर प्रणाली स्थिर विनिमय दरों के लाभों और मुक्त रूप से अबन्ध विनिमय दरों की नम्यता को एक साथ मिलाने का प्रयास है।

14.4 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और पूंजी बाजार (International Money and Capital Markets)

मुद्रा और पूंजी बाजार किसी भी वित्तीय व्यवस्था का अभिन्न अंग होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में इनकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपको यह पता होना चाहिये कि पूरी दुनियां में बहुत से शहरों में अच्छी तरह विकसित मुद्रा और पूंजी बाजार हैं, लेकिन लन्दन और न्यूयार्क जैसे मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्रों में पूरी दुनियां से कोष प्राप्त होते हैं। इसलिये बड़े मुद्रा और पूंजी बाजारों की वित्तीय सामर्थ्य बहुत होती है और इनके पास उपलब्ध कोषों का प्रयोग विभिन्न प्रकार के घरेलू और विदेशी समूहों द्वारा विस्तृत स्तर पर किया जाता है।

14.4.1 मुद्रा बाजार (Money Markets)

मुद्रा बाजार वह बाजार है जिसमें अपेक्षाकृत अल्पकालीन परिपक्वता वाली वित्तीय परिसम्पत्तियों का व्यवसाय किया जाता है। इनमें मांग व मियादी जमा (demand and time deposits), ट्रेजरी बिल, व्यापारिक बिल, स्वीकृतियां (acceptances) और बहुत प्रकार के अन्य अल्पकालीन दावे शामिल होते हैं। **मुद्रा बाजार उन ऋणदाताओं के कोषों के लिये एक निर्गम मार्ग प्रदान करता है, जो अपने वित्तीय**

साधनों को तरल रूप में रखना चाहते हैं। उदाहरण के लिये, व्यापारिक बैंकों में जमा रखने वाले व्यक्ति अपना पैसा जब चाहे निकाल सकते हैं। इसी प्रकार ट्रेजरी बिलें सरल विपण्यता के कारण बहुत तरल होती हैं। मुद्रा बाजार के अभाव में ऐसे लोगों के कोष बेकार पड़े रहेंगे जो तरलता को प्राथमिकता देते हैं। मुद्रा बाजार का ऐसे ऋणियों के लिये भी बहुत महत्त्व है जिन्हें अपेक्षाकृत् कम अवधि के लिये कोषों की आवश्यकता होती है, खास तौर से स्वयं ऋण-परिशोधक परियोजनाओं के लिये।

मुद्रा बाजार में अल्पकालीन कोष बहुत प्रकार के घरेलू व विदेशी समूहों द्वारा उपलब्ध कराये जाते हैं, जिनमें व्यापारिक बैंक, गैर-बैंकिंग वित्तीय संस्थाएं, निगम, अन्य व्यावसायिक फर्में, केन्द्रीय बैंक, सरकारें व व्यक्ति मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। अल्पकालीन कोषों की मांग भी ये ही संस्थाएं व व्यक्ति करते हैं। प्रमुख मुद्रा बाजार, जो अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्रों के रूप में उभरे हैं, विदेशी विनिमय बाजारों से जुड़े हुए हैं। इन केन्द्रों में कोषों के बहुत बड़े भाग का प्रयोग विदेशी व्यापार के और विभिन्न देशों में सेवाओं के संचलन के वित्तीयन के लिये किया जाता है।

कड़े विनिमय नियंत्रण उपायों के अभाव में **मुद्रा बाजार ब्याज दरों में अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरों के कारण बहुत अस्थिर होगा।** यदि विदेशों में ब्याज दर ऊंची है तो अल्पकालीन कोषों का बहिर्गमन होगा। लेकिन अल्पकालीन कोषों का अन्तर देशीय प्रवाह कितना होगा यह मुख्यतया ब्याज दरों के अन्तर पर निर्भर करता है। ऐसे प्रवाह के लिये यह अन्तर इतना अधिक होना चाहिये जिससे मुद्रा परिवर्तन (currency conversion) और वायदा अनुबंधों (forward contracts) की लागत की पूर्ति हो सके। **एक दूसरा कारक, जिसका अल्पकालीन कोषों के प्रवाह पर बहुत प्रभाव पड़ता है, बाह्य असंतुलन की मात्रा है।** साधारणतया, जिस देश की मुद्रा चिरकालीन भुगतान शेष समस्या के कारण सुलभ होती है और उसका मूल्यह्रास होता है, वहां से अल्पकालीन कोषों की उस देश में जाने की प्रवृत्ति होती है जहां की मुद्रा दुर्लभ होती है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद बहुत से अल्पविकसित देशों की सरकारों ने कठोर विनिमय नियंत्रण उपाय अपनाकर कोषों के इस प्रवाह को रोका। अन्त में, घरेलू अशान्ति और राजनैतिक अस्थिरता के कारण भी कोषों का बहिर्गमन होता है। हाल के वर्षों में इन्हीं कारणों से बहुत से अल्पविकसित देशों से पूंजी दूसरे देशों में गयी है।

अल्पकालीन कोषों की गतिशीलता साधारणतया वांछनीय होती है और यह सामान्यतया स्थिरता लाती है। लेकिन ऐसा हमेशा होना जरूरी नहीं होता। जिस देश के भुगतान शेष में लगातार घाटा रहता है वहां से कोषों का बड़ी मात्रा में बहिर्गमन अस्थिरता ला सकता है। यही कारण है कि सरकार अल्पकालीन कोषों के अचानक अन्तर्राष्ट्रीय स्थानांतरण की बहुधा अनुमति नहीं देती।

जिस देश की घरेलू मुद्रा पूरी दुनियां में स्वीकार्य होती है और प्रयोग की जाती है वहां का मुद्रा बाजार अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर लेता है। किसी विशेष देश की मुद्रा में इस प्रकार के विश्वास से वहां के मुद्रा बाजार विदेशी विनिमय रिजर्व के बड़े केन्द्रों के रूप में विकसित हो जाते हैं। दूसरे विश्व युद्ध से पहले लंदन मुद्रा बाजार एक प्रमुख रिजर्व केन्द्र था। लेकिन उसके बाद इंग्लैंड के आर्थिक शक्ति के रूप में पतन के कारण इसका अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्र के रूप में महत्त्व कम हो गया। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् न्यूयार्क मुद्रा बाजार एक प्रमुख रिजर्व केन्द्र बन गया। अमेरिका की आर्थिक शक्ति के रूप में सर्वोच्चता और डालर की सोने में परिवर्तनीयता के कारण ऐसा होना स्वाभाविक था। यह एक दिलचस्प बात है कि क्योंकि बहुत से देश अपने कोषों को एक विशेष देश में रखते हैं, इन देशों से अल्पकालीन कोषों का विशेष देश को हस्तांतरण उस देश को अल्पकालीन पूंजी खाते पर शुद्ध ऋणी बना देता है। इससे कुछ समय बाद रिजर्व मुद्रा में विश्वास की समस्या उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में 1970 के दशक के पहले वर्षों में ऐसा ही हुआ जब डालर में विश्वास डगमगा गया और बड़ी मात्रा में इसे अन्य शक्तिशाली मुद्राओं में परिवर्तित किया गया। विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों के अतिरिक्त, जो अपने विदेशी विनिमय रिजर्व अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व केन्द्रों में रखते हैं, व्यापारिक बैंक और व्यापारिक फर्में भी कार्यशील शेषों के रूप में मुख्य रिजर्व केन्द्रों के विरुद्ध अल्पकालीन दावे रखते हैं। इन केन्द्रों पर वित्तीय संस्थाएं सुव्यवस्थित होती हैं और इस प्रकार इन्हें सदा ही इन कोषों के लिये लाभकारी निवेश के अवसर मिल ज . हैं।

14.4.2 पूंजी बाजार (Capital Markets)

मुद्रा बाजार तो परिसम्पत्तियों के प्रति अल्पकालीन दावों में व्यवसाय करते हैं जबकि **पूंजी बाजार सरकारी बांडों, निगमों के शेयरों और ऋणपत्रों (debentures) जैसी परिसम्पत्तियों के प्रति दीर्घकालीन दावों का व्यवसाय करते हैं।** किसी भी पूंजी बाजार में दीर्घकालीन कोषों के मुख्यतया चार प्रमुख प्रकार के सप्लायर होते हैं: (1) व्यक्ति, (2) व्यापारिक बैंक, (3) गैर-बैंकिंग वित्तीय बिचौलिए (जैसे बीमा कम्पनियां, निवेश ट्रस्ट, यूनिट ट्रस्ट और पेंशन व भविष्य निधियां), और (4) विकास बैंक। अधिकांश देशों में दीर्घकालीन कोषों की मांग व्यक्ति, गैर-निगमित संस्थाओं, व्यापारिक निगमों, सार्वजनिक निगमों और सरकारों की ओर से होती है।

पूंजी बाजार आजकल लगभग उन सभी देशों में हैं जहां कुछ औद्योगीकरण हुआ है। लेकिन प्रमुख औद्योगिक देशों के मुख्य पूंजी बाजारों ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर लिया है। इस दृष्टि से न्यूयार्क पूंजी बाजार की

स्थिति अद्वितीय है। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी में लंदन मुख्य पूंजी बाजार था। लेकिन बीसवीं शताब्दी में आर्थिक शक्ति के रूप में इंग्लैंड के कमजोर हो जाने के कारण न्यूयार्क पूंजी बाजार की तुलना में इसका महत्व कम हो गया है।

निवेश और उत्पादन का ऊंचा स्तर प्राप्त करने में दीर्घकालीन पूंजी की **दो देशों के बीच गतिशीलता** सहायक होती है। प्रमुख पूंजी बाजार, जो अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्रों के रूप में उभरे हैं, उन देशों में दीर्घकालीन निवेश करते हैं जहां उनका अनुकूलतम व्यावसायिक उपयोग है। न्यूयार्क और लंदन में निवेश करने वाली बैंकिंग फर्में नयी विदेशी प्रतिभूतियों की बिक्री को बढ़ाने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। ये बहुधा विदेशी निर्गमनों का अभिगोपन (underwriting) भी करती हैं। अमेरिका, इंग्लैंड और पश्चिमी यूरोप के देशों में विदेशी प्रतिभूमियों के लिये नये निर्गमन बाजार से अलग विदेशी प्रतिभूतियों के लिये एक गौण बाजार भी होता है। विदेशी निगमों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का व्यापार उत्तर अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के देशों के सट्टा बाजारों और ओवर-दि-काऊंटर (over-the-counter) बाजारों में किया जाता है।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद बहुत से देशों की सरकारों ने दीर्घकालीन पूंजी के **अन्तर्राष्ट्रीय संचलन** पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। ऐसी नीति अपनाने के दो मुख्य कारण थे:

1) अतीत में विदेशी निजी निवेश की निंदनीय भूमिका के कारण, ऐसे बहुत से देश जिन्होंने हाल ही में स्वतंत्रता प्राप्त की थी, विदेशी पूंजी को शंका की दृष्टि से देखने लगे और इसलिये उन्होंने इस पर पाबन्दियां लगा दीं।
2) क्योंकि विदेशी निजी निवेश ऐसे क्षेत्रों में किया जाता था जहां लाभ शीघ्र मिलते हों, अतः इससे उस देश के आर्थिक ढांचे में विकार आने की संभावना थी। लेकिन समय के साथ-साथ पूंजी के प्रवाहों पर नियंत्रण शिथिल कर दिये गये। इससे दीर्घकालीन निजी कोषों का विभिन्न देशों के बीच प्रवाह बढ़ गया। क्योंकि पूंजीगत प्रवाहों को मुख्यतया प्रतिफलों की राशि प्रेरित करती है, इसलिये निजी पूंजी का अधिक प्रवाह विभिन्न विकसित देशों के बीच ही हुआ है, विकसित देशों से विकासशील देशों की ओर कम ही हुआ है। इस स्थिति का स्पष्टीकरण सरल है। विकासशील देशों में निम्न आय स्तर के कारण बाजार का आकार छोटा होता है। इसलिये विकसित देशों की तुलना में इन देशों में निवेश की प्रेरणा बहुत कम होती है। शायद यही कारण है कि विकसित देशों से अल्पविकसित देशों को दीर्घकालीन पूंजी का एक बड़ा भाग सरकार और उसकी एजेंसियों द्वारा लाया जाता है।

बोध प्रश्न ग

1 मुद्रा बाजार और पूंजी बाजार में भेद कीजिये।

.....

.....

.....

.....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलत:

i) मुद्रा बाजार में अपेक्षाकृत अल्पकालीन परिपक्वता वाली वित्तीय परिसम्पत्तियों का व्यवसाय होता है।
ii) मुद्रा बाजार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ब्याज दरों के अन्तरों के प्रति उदासीन होता है।
iii) अल्पकालीन कोषों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता सामान्यतया स्थिरता लाती है।
iv) आजकल लंदन मुद्रा बाजार सबसे महत्वपूर्ण रिजर्व केन्द्र है।
v) जब एक देश का मुद्रा बाजार एक प्रमुख रिजर्व केन्द्र बन जाता है तो वह देश स्वयं ही अल्पकालीन पूंजी खाते पर एक शुद्ध ऋणी बन जाएगा।
vi) यह असंभव है कि रिजर्व मुद्रा को कभी विश्वास खोने की समस्या का सामना करना पड़ेगा।
vii) पूंजी बाजार में परिसम्पत्तियों के प्रति दीर्घकालीन दावों का व्यवसाय होता है।
viii) दीर्घकालीन पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय संचलन रोजगार के उच्च स्तर के लिये प्रेरक नहीं होता।
ix) आजकल न्यूयार्क पूंजी बाजार का महत्व कम है।
x) वे प्रमुख पूंजी बाजार, जो अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्र बन गये हैं, दीर्घकालीन पूंजी के अन्तरदेशीय संचलन में मदद देते है।

14.5 अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं (International Financial Institutions)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली का एक महत्वपूर्ण भाग हैं। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक (IBRD), जिसे विश्व बैंक के

नाम से अधिक जाना जाता है, का विशेष महत्त्व है। इन संस्थाओं की स्थापना का निर्णय 1944 में ब्रेटन वुडस में हुए सम्मेलन में लिया गया था। इस भाग में अगली इकाइयों (इकाई 15 व 16) में इन पर विस्तार से विचार किया जाएगा। आजकल विश्व बैंक की दो सम्बद्ध संस्थाएं हैं (1) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन (IDA), और (2) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC)। यद्यपि इन दोनों संस्थाओं का अलग-अलग अस्तित्व है फिर भी इनके विश्व बैंक के साथ संगठनात्मक सम्बन्ध हैं और वास्तव में ये इसके पूरक हैं।

14.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक 45 वर्ष पुरानी संस्था है। इसके मुख्य उद्देश्य, जैसाकि करार-नियमों में दिये गये हैं, आय व रोजगार के ऊंचे स्तर को प्राप्त करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देना है। इस दृष्टि से यह कोष विनिमय दर की स्थिरता को प्रोत्साहित करने के लिये प्रयास करेगा, विनिमय नियंत्रणों को निरुत्साहित करेगा, सदस्य देशों की भुगतान शेष में पुनः संतुलन स्थापित करने में सहायता करेगा और भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली का विकास करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्माताओं को यह पता था कि इन उद्देश्यों को पूरा करना कठिन है। इसलिये, इन्हें सदस्य देशों के व्यवहार के लिये केवल मार्ग-दर्शक ही माना गया। इस कोष की स्थापना के समय से ही इसके सदस्यों के लिये विनिमय नियंत्रणों को समाप्त करना कठिन रहा है। कुछ देशों में ऊर्जा साधनों के अभाव, मूल कच्चे माल और खाद्य पदार्थों आदि की कमी जैसे संरचनात्मक कारकों के कारण भुगतान शेष में निरन्तर घाटे की स्थिति रही है। ये देश किसी भी स्थिति में विनिमय नियंत्रणों को पूर्णतया नहीं हटा सकते। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने स्थिर विनिमय दरें अपना कर लगभग 25 वर्ष तक विनिमय दरों में बारंबार परिवर्तनों को रोकने का प्रयास किया। लेकिन जब कुछ प्रमुख देशों ने 1970 के दशक के पहले कुछ वर्षों में नियमों का उल्लंघन करके अपनी मुद्राओं को अबन्ध (floating) कर दिया तो स्थिर विनिमय दर प्रणाली टूट गयी। अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उद्देश्य विनिमय दरों की स्थिरता नहीं रहा। तथापि, इस कोष ने सदस्य देशों के भुगतान शेष में अस्थायी असमंजन (maladjustment) को दूर करने के लिये अपने साधनों से ऋण देकर उनकी सहायता की है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष किसी सदस्य देश को उनके भुगतान शेष में मूलभूत असंतुलन को ठीक करने के लिये कोष प्रदान नहीं करता। इस कोष का भुगतानों की एक बहुपक्षीय प्रणाली के विकास करने का उद्देश्य कभी भी पूरा नहीं हुआ।

14.5.2 विश्व बैंक (World Bank or International Bank for Reconstruction and Development)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक, जिसे विश्व बैंक के रूप में भी जाना जाता है, की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की जुड़वां संस्था के रूप में 1945 में की गयी। यह वास्तव में पहले से सोची गयी दीर्घावधि योजनाओं को पूरा करने के लिये देशों के बीच दीर्घकालीन पूंजी संचलन को सुव्यवस्थित तरीके से नियमित करने का पहला प्रयास था। इसके उद्देश्य हैं: (1) जिन अल्प विकसित देशों को अपनी विकासात्मक परियोजनाओं के लिये पूंजी की आवश्यकता है उनकी सहायता करना, (2) जिन देशों का युद्ध से विध्वंस हुआ उनके पुनर्निर्माण कार्यक्रमों के लिये साधन प्रदान करना, (3) देशों के बीच निजी पूंजी के प्रवाह में मदद देना, और (4) देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये ऐसी परिस्थितियां बनाना जो उसमें सहायक हों। इस प्रकार विश्व बैंक के निर्माताओं के उद्देश्य बहुत महान थे। पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को सुविधाजनक बनाने में इसके द्वारा प्रदान की गयी सेवाओं के बावजूद इसके कार्यों की आलोचना भी हुई है। आलोचना के मुख्य आधार हैं — ऋणों की शर्तों के निर्धारण में पक्षपाती नीति, ब्याज की ऊंची दरें और एशिया व अफ्रीका के अल्पविकसित देशों के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण रवैया। अधिकांश विशेषज्ञ अब इस बात से सहमत हैं कि विश्व बैंक के दकियानूसी व्यवहार कुछ विकासशील देशों की अधिक जटिल परिस्थितियों के लिये सदा ही उपयुक्त नहीं होते। विश्व बैंक को इन देशों की ओर कोषों को प्रवाहित करने के संबंध में अधिक नम्यता और गतिशीलता दिखानी चाहिये थी।

14.5.3 विश्व बैंक से सम्बद्ध संस्थाएं (Affiliates of the World Bank)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ [International Development Association (IDA)] और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम [International Finance Corporation (IFC)] विश्व बैंक से सम्बद्ध दो संस्थाएं हैं। वित्तीय और कानूनी रूप से इनका विश्व बैंक से अलग अस्तित्व है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association)

इस संघ की स्थापना 1960 में हुई हालांकि इसकी स्थापना की आवश्यकता तो बहुत समय से महसूस की जा रही थी। 1940 के दशक के अंतिम वर्षों में यह माना गया कि **अल्पविकसित देशों के** विकास के लिये अपेक्षाकृत आसान शर्तों पर वित्तीयन के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय एजेंसी की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी। वास्तव में इसकी स्थापना ने तीन बातों पर प्रकाश डाला (i) यह विकास कार्यों के लिये रियायती वित्त को संस्थागत करने की दिशा में एक कदम है, (ii) इसने अल्पविकसित देशों में गरीबी और आर्थिक पिछड़ेपन को दुनियां के विकसित देशों के लिये चिन्ता का विषय

बनाया, और (iii) यह अल्पविकसित देशों की आर्थिक सामर्थ्य में सुधार करके बहुपक्षीय व्यापार और भुगतान की प्रणाली को बढ़ावा देने का प्रयास करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की सदस्यता के लिये विश्व बैंक का सदस्य होना आवश्यक है। विश्व बैंक का कोई भी सदस्य इसमें शामिल हो सकता है। लेकिन यदि वह विश्व बैंक का सदस्य नहीं रहता तो इस संघ की उसकी सदस्यता अपने आप ही समाप्त हो जाएगी। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के सदस्य दो समूहों में बांटे जाते हैं यानि भाग I और भाग II — भाग I के देश विकसित देश होते हैं और भाग II के देश अल्पविकसित देश होते हैं। यह वर्गीकरण अमीर सदस्यों से गरीब सदस्यों को कोषों के प्रवाह के आधार को निर्धारित करने के लिये किया गया है। **आजकल अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को प्रायः सुलभ ऋण खिड़की (soft loan window) कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इसकी ऋणों की शर्तें सरल और रियायती हैं।** इसके द्वारा दिये गये ऋणों की रियायती शर्तों और दीर्घ परिपक्वता का आधार यह है कि ये ऋणी देशों के भुगतान शेष पर बोझिल न बनें।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation): अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना 1956 में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य अपने सदस्य देशों, खासतौर से अल्प विकसित क्षेत्रों में निजी उत्पादक उद्यम को प्रोत्साहित करके उनके आर्थिक विकास को तीव्र करने में सहायता करना है। इस प्रकार यह विश्व बैंक की क्रियाओं में संपूरक का काम करता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम निजी निवेशकों के साथ मिलकर विकासशील देशों में निजी उत्पादक उद्यमों की सहायता करता है। यह इन देशों की सरकारों से ऋण के भुगतान की गारंटी नहीं मांगता। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम घरेलू व विदेशी निजी पूंजी और प्रबन्ध को एक साथ लाने का प्रयत्न भी करता है और ऐसी परिस्थितियां बनाने की कोशिश करता है जो घरेलू और विदेशी दोनों प्रकार की निजी पूंजी को सदस्य देशों में उत्पादक निवेश में प्रवाहित करने में सहायक हों।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की भूमिका यह है कि यह विकासात्मक परियोजनाओं के लिये निजी साधनों का प्रजनन करता है। यदि बाजार शक्तियों पर ही निर्भर रहा जाए तो ये साधन उपलब्ध नहीं होंगे। यह निगम तीन प्रकार से निजी उत्पादक निवेश को बढ़ावा देता है : (क) प्रत्यक्ष निवेश द्वारा, (ख) अतिरिक्त विदेशी व घरेलू पूंजी प्राप्त करके, और (ग) तकनीकी सहायता प्रदान करके। यद्यपि यह निगम निजी उद्यम को प्राथमिकता देता है, लेकिन कभी-कभी यह ऐसे उद्यमों में भी निवेश करता है जिसमें निजी और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही भागीदार होते हैं। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम केवल उन विकासशील देशों में ही निवेश करता है जहां उचित शर्तों पर पर्याप्त निजी पूंजी उपलब्ध न हो।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की सदस्यता केवल उन देशों को ही मिल सकती है जो विश्व बैंक के सदस्य हैं। यदि कोई देश विश्व बैंक का सदस्य नहीं रहता तो इस निगम से उसकी सदस्यता अपने आप समाप्त हो जाती है।

बोध प्रश्न घ

1 दो मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के नाम बताइये :

i)

ii)

2 विश्व बैंक से सम्बद्ध दो संस्थाएं कौन सी हैं?

i)

ii)

3 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही है और कौन गलत:

i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अल्पविकसित देशों की विकासात्मक परियोजनाओं के लिये दीर्घकालीन विदेशी पूंजी जुटाती है।

ii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सदस्य देशों की उनके भुगतान शेषों में अस्थायी असमंजन को ठीक करने के लिये सहायता करने में कुछ हद तक सफल हुआ है।

iii) विश्व बैंक सदस्य देशों की उनके भुगतान शेषों में मूलभूत असंतुलन को ठीक करने के लिये कोष प्रदान करता है।

iv) विश्व बैंक उन अल्पविकसित देशों की सहायता करता है जिन्हें अपनी विकास परियोजनाओं के लिये पूंजी की आवश्यकता होती है।

v) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ अल्पविकसित देशों को उनके विकास के लिये रियायती शर्तों पर सहायता प्रदान करता है।

vi) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को प्रायः विश्व बैंक की सुलभ ऋण खिड़की (soft loan window) कहा जाता है।

vii) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना अल्पविकसित देशों में निजी उत्पादक उद्यम को प्रोत्साहित करके उनके आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए की गई।

viii) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की सदस्यता केवल उन देशों को मिल सकती है जो विश्व बैंक के सदस्य हैं।

14.6 सारांश

देशों के बीच वित्तीय साधनों के प्रवाह की प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रवाहों की आवश्यकता विभिन्न देशों के भुगतान शेषों के असन्तुलन, अल्पविकसित देशों की विकासात्मक आवश्यकताओं और निजी पूंजी की विदेशों में निवेश के अवसरों का लाभ उठाने की इच्छा को देखते हुए हुई। व्यापार घाटों और अदृष्य खाते के असंतुलनों के कारण होने वाले वित्तीय संसाधनों के हस्तांतरण बहुधा अल्पकालीन होते हैं। इसकी तुलना में पूंजी प्रवाह दीर्घकालीन होते हैं।

वित्तीय संसाधनों के अन्तर्राष्ट्रीय हस्तांतरण के लिये विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है। विभिन्न देशों की मुद्राओं का एक दूसरे से विनिमय विदेशी विनिमय बाजार की सहायता से होता है। विदेशी विनिमय बाजारों में मुख्य भागीदार होते हैं—खुदरा ग्राहक, व्यापारिक बैंक, विदेशी विनिमय दलाल और केन्द्रीय बैंक। इनमें से व्यापारिक बैंक सबसे महत्वपूर्ण भागीदार हैं। खुदरा ग्राहक प्रत्यक्ष रूप से व्यवसाय नहीं करते। वे अपनी विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं को व्यापारिक बैंकों से पूरा करते हैं। केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय बाजार का सर्वोपरि नियंत्रक होता है।

विदेशी विनिमय बाजार बहुत बड़े बाजारों में से एक है। इसे मुख्यतया दो श्रेणियों में बांटा जाता है: हाज़िर बाजार और वायदा बाजार। हाज़िर बाजार में विदेशी विनिमय के लेन-देन तुरन्त सुपुर्दगी और भुगतान के लिये किये जाते हैं जबकि वायदा बाजार में विदेशी विनिमय के लेन-देन एक पूर्व निर्धारित दर पर भविष्य में सुपुर्दगी और भुगतान के लिये किये जाते हैं।

जिस दर पर एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा से विनिमय होता है उसे विनिमय दर कहते हैं। विदेशी विनिमय बाजार की कुशल कार्यप्रणाली के लिये एक सुपरिभाषित विनिमय दर प्रणाली होनी चाहिये। मुख्यतया तीन प्रकार की विनिमय दर प्रणालियां होती हैं: (i) मुक्त रूप से नम्य (या मुक्त रूप से अबन्ध) विनिमय दर व्यवस्था, (ii) नियत (या अधिकीलित) विनिमय दर व्यवस्था, और (iii) व्यवस्थित (या नियंत्रित) अबन्ध विनिमय दर व्यवस्था।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में मुद्रा और पूंजी बाजारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। मुद्रा बाजार में अपेक्षाकृत अल्पावधि की परिपक्वता वाली वित्तीय परिसम्पत्तियों का व्यापार होता है। कुछ बहुत विकसित मुद्रा बाजार अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्र बन गये हैं। ये ब्याज दरों में अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरों के प्रति बहुत संवेदी होते हैं। लेकिन देशों के बीच अल्पकालीन कोषों के प्रवाह बहुधा विभिन्न देशों की मुद्राओं की सापेक्षिक दृढ़ता से प्रभावित होते हैं। कोषों का यह प्रवाह साधारणतया स्थिरता लाता है। पूंजी बाजार वित्तीय बाजार का वह भाग है जिसमें परिसम्पत्तियों पर दीर्घकालीन दावों का विनिमय किया जाता है। विकसित औद्योगिक देशों के प्रमुख पूंजी बाजार दीर्घकालीन निवेश को उन देशों में प्रवाहित करते हैं जहां लाभकारी अवसर उपलब्ध हों। यह बात मुख्यतया निजी विदेशी पूंजी के संदर्भ में सही है। सरकारों के स्तर पर दीर्घकालीन ऋणों को बहुधा विदेशी सहायता कहते हैं और ये पूंजी बाजार के माध्यम से प्रवाहित नहीं होते।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली का एक महत्वपूर्ण भाग है। आजकल, दो प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं हैं: (i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक (IBRD), जो विश्व बैंक के नाम से अधिक जाना जाता है। ये संस्थाएं पिछले 45 वर्षों से कार्य कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्य देशों की भुगतान शेष की समस्या का समाधान करने में सहायता करता है और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करता है। विश्व बैंक अपने सदस्य देशों को उनकी पुनर्निर्माण व विकास परियोजनाओं के लिए दीर्घकालीन वित्त प्रदान करता है। विश्व बैंक से सम्बद्ध दो संस्थाएं हैं: (i) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA), और (ii) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC)। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ आसान शर्तों पर अल्पविकसित देशों के विकास कार्यक्रमों में पूंजी लगाता है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम निजी क्षेत्र की विकास परियोजनाओं के लिये निजी साधनों का प्रजनन करता है।

14.7 शब्दावली

भुगतान शेष (Balance of Payments) : समायोजन लेन-देनों को छोड़कर, किसी देश की कुल प्राप्तियों और भुगतानों का अन्तर।

व्यापार शेष (Balance of Trade) : वस्तुओं के निर्यात और आयात का अन्तर।

पूंजी बाजार (Capital Market) : एक वित्तीय बाजार जिसमें परिसम्पत्तियों पर दीर्घकालीन दावों का विनिमय होता है।

भुगतान शेष में असंतुलन (Disequilibrium in Balance of Payments) : भुगतान शेष में अधिशेष या घाटा।

विनिमय दर (Exchange Rate) : वह दर जिस पर एक मुद्रा का दूसरी से विनिमय किया जाता है।

नियत विनिमय दर व्यवस्था (Fixed Exchange Rate Regime) : सुनिश्चित सीमाओं के अन्दर एक स्थिर विनिमय दर व्यवस्था।

विदेशी सहायता (Foreign Aid) : सरकारी ऋण और अनुदान।

विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) : विदेशी मुद्राओं में व्यक्त विदेशी मुद्राएं और बैंक निक्षेप।

विदेशी विनिमय बाजार (Foreign Exchange Market) : वह बाजार जिसमें विदेशी विनिमय का व्यापार किया जाता है।

वायदा विदेशी विनिमय बाजार (Forward Foreign Exchange Market) : वह बाजार जिसमें विदेशी विनिमय के लेन-देन एक पूर्व-निर्धारित दर पर भविष्य में सुपुर्दगी और भुगतान के लिये किये जाते हैं।

मुक्त रूप से नम्य विनिमय दर व्यवस्था (Freely Flexible Exchange Rate Regime) : विनिमय दर की वह प्रणाली जिसमें विनिमय दरों को विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति के प्रभावों के अनुरूप मुक्त रूप से घटने-बढ़ने दिया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली (International Financial System) : देशों के बीच कोषों के प्रवाह की प्रणाली।

व्यवस्थित अबन्ध विनिमय दर व्यवस्था (Managed Floating Exchange Rate Regime) : वह प्रणाली जिसमें विनिमय दर सरकारी हस्तक्षेप द्वारा विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति में परिवर्तनों के उत्तर में बारंबार समायोजित की जाती है।

मुद्रा बाजार (Money Market) : वह बाजार जिसमें अल्पकालीन परिपक्वता वाली वित्तीय परिसम्पत्तियों का व्यापार किया जाता है।

हाज़िर विदेशी विनिमय बाजार (Spot Foreign Exchange Market) : वह बाजार जिसमें विदेशी विनिमय के लेन-देन तुरन्त सुपुर्दगी और भुगतान के लिये किये जाते हैं।

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 2 i) निजी विदेशी पूंजी ii) विदेशी सहायता
3 i) सही ii) सही iii) गलत iv) गलत v) सही vi) सही

ख 2 i) खुदरा ग्राहक ii) व्यापारिक बैंक iii) विदेशी विनिमय दलाल iv) केन्द्रीय बैंक
3 i) मुक्त रूप से नम्य (या मुक्त रूप से अबन्ध) विनिमय दर व्यवस्था
ii) स्थिर (या अधिकीलित) विनिमय दर व्यवस्था
iii) व्यवस्थित (या नियंत्रित) अबन्ध विनिमय दर व्यवस्था
4 i) गलत ii) सही iii) सही iv) गलत v) सही vi) गलत vii) सही

ग 2 i) सही ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही vi) गलत vii) सही viii) गलत ix) गलत x) सही

घ 1 i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
ii) विश्व बैंक
2 i) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ
ii) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
3 i) गलत ii) सही iii) गलत iv) सही v) सही vi) गलत vii) सही viii) सही

14.9 स्वपरख प्रश्न

1 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता जिन कारणों से उत्पन्न होती है, उनका विवेचन कीजिये।
2 यह विरोधाभासी स्थिति स्पष्ट कीजिये कि एक देश के भुगतान शेष खाते सदा संतुलन में होते हैं लेकिन भुगतान शेष स्वयं अधिकांश समय असंतुलन में होता है।
3 हाज़िर और वायदा विदेशी विनिमय बाजारों में भेद कीजिये। वायदा विदेशी विनिमय बाजारों में लेन देन क्यों किये जाते हैं?
4 मूल विनिमय दर व्यवस्थाएं कौन सी हैं? आपकी राय में वर्तमान परिस्थितियों में सबसे उपयुक्त कौन-सी है?
5 कोषों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह में मुद्रा और पूंजी बाजारों की क्या भूमिका होती है?
6 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और उससे सम्बद्ध संस्थाओं द्वारा कौन से उद्देश्य पूरे किये जा रहे हैं?

नोटः इस इकाई को अच्छी तरह समझने के लिए ये प्रश्न और अभ्यास आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। परन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 15 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य
15.3 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्यप्रणाली
15.3.1 कोटा-निर्धारण
15.3.2 समसूल्यों या विनिमय दरों का निर्धारण
15.3.3 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार
15.4 विनिमय दर स्थिरता बनाम व्यवस्थित फ्लोट
15.4.1 समायोज्य-पेग व्यवस्था
15.4.2 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की असफलता
15.4.3 व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली
15.5 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अंतर्राष्ट्रीय तरलता
15.5.1 अंतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या
15.5.2 अंतर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने के प्रस्ताव
15.5.3 विशेष आहरण अधिकारों की भूमिका
15.6 सारांश
15.7 शब्दावली
15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
15.9 स्वपरख प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य और इसकी कार्यप्रणाली समझा सकें
- स्थिर और अबन्ध विनिमय दरों की प्रणालियों से संबंधित विषयों को समझ सकें
- विनिमय दर में स्थिरता लाने में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की असफलता का वर्णन कर सकें
- अंतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या बता सकें
- अंतर्राष्ट्रीय तरलता को बढ़ाने से संबधित विभिन्न प्रस्तावों को स्पष्ट कर सकें।

15.1 प्रस्तावना

इकाई 14 में आपने पढ़ा है कि अल्पकालीन अंतर्राष्ट्रीय वित्त की आवश्यकता भुगतान शेष में असंतुलन की समस्या से उत्पन्न होती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना ब्रेटन वुडस् में 1944 में एक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में हुई जो अपने सदस्य देशों की अल्पकालीन भुगतान शेष समस्या को दूर करने में सहायता करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष शुरू में विनिमय दर में स्थिरता का समर्थक था क्योंकि इसका विश्वास था कि विनिमय दर में स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार व पूंजी के संचलन दोनों में ही सहायक होती है। लेकिन यदि विनिमय दर में स्थिरता को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है तो इससे बहुधा भुगतान शेष में अनुचित घाटे आते हैं। वास्तव में कई देशों में ऐसा ही हुआ जिससे उनकी मुद्रा का अधिमूल्यन (over-valuation) हो गया। इनमें अमेरिका का डालर सबसे महत्त्वपूर्ण था। लेकिन अमेरिका अपने डालर का अवमूल्यन करने और विनिमय दर को अपने यथार्थवादी स्तर पर लाने को तैयार नहीं था। इन परिस्थितियों में 1970 के दशक के शुरू के वर्षों में ही स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली समाप्त हो गयी। इसका स्थान व्यवस्थित अबन्ध विनिमय दर ने ले लिया जिसका अर्थ है कि विदेशी विनिमय बाजारों में परिवर्तनों के अनुसार विनिमय दर परिवर्तित होती रहेगी। यह प्रणाली सामान्यतया किसी देश के भुगतान शेष में अत्यधिक घाटा तब तक नहीं होने देगी, जब तक कि कुछ संरचनात्मक कारक इसकी भुगतान शेष की स्थिति पर निरंतर दबाव न डाल रहे हों। विनिमय दरों के निर्धारण को व्यवस्थित करने के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में भी कार्य करता है।

इस इकाई में हम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों और कार्य प्रणाली पर चर्चा करेंगे, और विशेष करके

एक उचित विनिमय दर प्रणाली तथा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्त मात्रा सुनिश्चित करने में इसकी भूमिका पर ध्यान देंगे।

15.2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशिष्ट एजेन्सी के रूप में 1946 में स्थापित किया गया और दुनियाँ के सभी गैर-साम्यवादी देश इसके सदस्य हैं (हालांकि कुछ साम्यिवादी देश भी बाद में इसके सदस्य बन गये)।

सभी सदस्य देशों द्वारा हस्ताक्षर किये गये करार-नियमों (Articles of Agreement) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

1) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देना,
2) रोजगार और वास्तविक आय के स्तर को ऊँचा करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार में मदद देना,
3) विनिमय दर स्थिरता को प्रोत्साहित करना और मुद्राओं के प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन को निरुत्साहित करना,
4) एक बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली का विकास करना,
5) चालू लेन-देनों पर विनिमय नियंत्रणों को समाप्त करना,
6) सदस्य देशों के भुगतान शेष में कुसमायोजनों (maladjustments) को ठीक करने में उनकी सहायता करना, और
7) भुगतान शेषों में असंतुलन की अवधि और गंभीरता को कम करना।

यह स्पष्ट है कि ये उद्देश्य परस्पर सम्बन्धित हैं और इनका लक्ष्य सदस्य देशों की सहायता करना है ताकि वे अपने भुगतान शेषों को स्वतन्त्र और कुशल रूप से इस तरह व्यवस्थित करें कि अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य बना रहे और इन देशों में आर्थिक संवृद्धि आ सके। क्योंकि प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन और विनिमय नियंत्रण अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य को कम करते हैं और यह समझा जाता है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं, इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इनके पक्ष में नहीं है। 1970 के दशक के शुरू के वर्षों तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विनिमय दर स्थिरता पर जोर दिया क्योंकि इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता के मुख्य कारक को समाप्त करने की पूर्व शर्त माना जाता था। यदि किसी देश के भुगतान शेष में निरन्तर घाटा रहता था तो वह अपनी मुद्रा का औपचारिक रूप से अवमूल्यन अवश्य कर सकता था। परन्तु इसके अवमूल्यन करने के प्रत्युत्तर में दूसरे देशों को प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय मूल्य का ह्रास नहीं करने दिया जाता था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रयत्नों के बावजूद 1973 में स्थिर विनिमय दर प्रणाली समाप्त हो गयी क्योंकि प्रमुख औद्योगिक देशों ने अपनी विनिमय दरों को त्याग दिया और अपनी मुद्राओं को फ्लोट (float) कर दिया। इसका अर्थ यह था कि विदेशी विनिमय बाजारों में प्रचलित स्थितियां विनिमय दरों का निर्धारण करेंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संस्थापकों ने यह माना कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को इष्टतम बनाना है तो एक बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली का होना आवश्यक है। इस भुगतान प्रणाली के अन्तर्गत एक देश की विदेशी व्यापार की दिशा, उसके पास जो एक विशेष प्रकार की मुद्रा है, उससे निर्दिष्ट नहीं होती। इसका अर्थ है कि यदि एक देश के पास पौण्ड स्टर्लिंग हैं तो उसके लिये यह जरूरी नहीं है कि वह केवल इंग्लैंड से ही वस्तुओं और सेवाओं का आयात करे। बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी विनिमय कोष चाहे किसी भी मुद्रा में हो, उनका उपयोग किसी भी देश से वस्तुओं और सेवाओं के आयात के लिये किया जा सकता है। यह मुद्रा की मुक्त परिवर्तनीयता के कारण ही संभव है। लेकिन अल्पविकसित देशों की मुद्राओं में अन्तर्निहित कमजोरियों के कारण इस प्रणाली को विकसित करना सरल नहीं था। फिर भी, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा संघ के संस्थापकों को एक बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली के विकास की दिशा में प्रयत्न करने में कोई हानि नहीं नज़र आयी। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने सदस्य देशों की अल्पकालीन भुगतान शेष समस्या को दूर करने में उनकी सहायता करने के उद्देश्य पर विशेष ध्यान दिया। इस उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्य देशों को कोष के साधन प्राप्त करने का अधिकार देता है ताकि वे अपने भुगतान शेष के चालू खाते के अस्थायी घाटे का वित्त प्रबन्ध कर सकें। यह व्यवस्था सदस्य देशों को, किसी भी प्रकार के विनिमय नियंत्रणों के बिना, अपनी भुगतान शेष की समस्याओं का सामना करने के योग्य बनाती है।

15.3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्यप्रणाली

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्यप्रणाली में निम्नलिखित तीन पहलुओं पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है:

1) कोटा-निर्धारण
2) सममूल्यों या विनिमय दरों का निर्धारण
3) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार।

15.3.1 कोटा-निर्धारण (Determination of Quotas)

सभी सदस्य देशों के कोटे का योग 1989 में 90 बिलियन एस.डी.आर. (SDR) था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अन्तरिम कमेटी ने सितम्बर 1989 में स्थिति का पुनर्विलोकन करने के बाद यह सिफारिश की थी कि विश्व अर्थव्यवस्था में और इसमें सदस्यों को सापेक्षिक स्थिति में हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए सदस्यों के कोटे प्राथमिकता के आधार पर बढ़ा देने चाहिये। व्यक्तिगत सदस्य देशों के कोटे में संशोधन करते समय देशों के विभिन्न समूहों के बीच संतुलन बनाये रखना भी आवश्यक है।

सदस्य देशों के कोटे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साधनों में उनके योगदान को दर्शाते हैं और सदस्यों के इन साधनों को प्राप्त करने और उनके कोटों को निर्धारित करने का आधार प्रदान करते हैं। विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights) के आबंटन में सदस्यों के हिस्से उनके कोटे पर निर्भर करते हैं। **सदस्य देशों के कोटे उनकी राष्ट्रीय आय, सोना और विदेशी विनिमय रिजर्व और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में उनके अंश को ध्यान में रखकर निर्धारित किये गये हैं।** इससे विभिन्न देशों के कोटों में बहुत अधिक अन्तर होना स्वाभाविक है। सबसे बड़ा कोटा अमेरिका का है जिसके पास इस कोष के कुल कोटों का 20 प्रतिशत भाग है। इंग्लैंड, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और जापान इसके अन्य प्रमुख सदस्य हैं। इन सबके कोटे मिलाकर अमेरिका के कोटे से कुछ अधिक है। अन्य देशों के कोटे छोटे हैं और इस प्रकार निर्णय लेने में उनका कोई महत्त्व नहीं होता। वास्तव में, अमेरिका के कोटे के बड़े आकार के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की नीतियों और प्रक्रियाओं को प्रभावित करने में उसे अधिभावी शक्ति प्राप्त है।

यह बात समझना जरूरी है कि एक देश के कोटे के तीन आयाम हैं:

i) यह सदस्य देश के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को दिये गये योगदान की राशि बताता है। इस योगदान का 25 प्रतिशत सोने में देना होता है और बाकी 75 प्रतिशत देश की मुद्रा में;

ii) एक देश का कोटा उसका आहरण अधिकार निर्धारित करता है यानि वह राशि जो एक देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार ले सकता है; और

iii) कोटा सदस्य देशों के वोट के अधिकार को भी निर्धारित करता है।

15.3.2 सममूल्यों या विनिमय दरों का निर्धारण (Determination of Par Values or Exchange Rates)

1944 में ब्रेटन वुडस में जिस प्रणाली की कल्पना की गयी थी जब तक वह 1970 के दशक के शुरू के वर्षों में भंग नहीं हुई तब तक सदस्य देशों को एक सांविधिक दायित्व के अन्तर्गत अपने मुद्राओं के सममूल्य को सोना में या अमरीकी डालर में घोषित करना पड़ता था (बाद में एस.डी.आर में)। क्योंकि यह दायित्व बाध्यकारी था, इसलिये अधिकांश देशों ने इसे पूरा किया और अपनी मुद्राओं के सममूल्य घोषित किये। तथापि, कुछ देशों ने इसमें चूक की, लेकिन तो भी इन देशों ने वास्तविक समता बनाये रखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थिर विनिमय दर प्रणाली का अनुसरण किया। जिसमें बहुधा पेग्ड (अधिकालित) विनिमय दर प्रणाली जैसी विशेषता होती है।

सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ लेन-देन सरकारी सममूल्यों पर होते थे। निजी लेन-देनों में भी केवल इन्ही विनिमय दरों का प्रयोग करना होता था। हाजिर (spot) लेन-देनों के लिये सममूल्यों में प्रतिशत तक विचलन करने की अनुमति दी गयी थी। दिसम्बर, 1971 में स्मिथसोनियन करार (Smithsonian Agreement)) ने इस विचलन सीमा को 2-5 प्रतिशत कर दिया। इससे यह पता चलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संस्थापक यह सोचते थे कि स्थिर विनिमय दरों की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह दोनों ही के लिये सहायक है।

इस कोष की स्थापना के बाद शुरू के लगभग 25 वर्षों तक सदस्य देशों को अपनी मुद्रा के सममूल्य को 10 प्रतिशित तक परिवर्तित करने का अधिकार था और ऐसे परिवर्तन करने पर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को केवल सूचित करना होता था। लेकिन विनिमय दरों में 10 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से अनुमोदन लेना आवश्यक था। जब भी भुगतान शेष में आधार भूत असंतुलन को ठीक करने के लिये ऐसे परिवर्तन आवश्यक हुए, इनकी अनुमति दे दी गयी। अतः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विनिमय दर की अनम्यता पर कभी जोर नहीं दिया, यद्यपि इसने सदा विनिमय दर स्थिरता को बढ़ावा दिया।

यद्यपि 1960 के दशक के अन्त में अमेरिका के भुगतान शेष में निरन्तर घाटे के कारण डालर की प्रतिष्ठा कम हो रही थी, फिर भी इसमें विश्वास के संकट की स्थिति नही आयी थी। लेकिन जब अमरीकी सरकार ने 15 अगस्त, 1971 को घोषणा की कि वह सोना या अन्य रक्षित परिसम्पत्तियाँ देकर अन्य केन्द्रीय बैंकों से डालर वापस नहीं लेगा, तो विभिन्न योरोपीय देशों की मुद्राओं की मांग बढ़ गयी और लोगों के पास जो डालर थे वे उससे छुटकारा पाना चाहने लगे। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की पहले की स्थिर विनिमय दर प्रणाली अव्यवहार्य बन गई। बहुत से देशों ने समता (parity) को समर्थन देने से मना कर दिया और अपनी मुद्राओं में अधिमूल्यन होने दिया। लगभग चार वर्षों तक पुरानी प्रणाली को लागू करने का प्रयत्न किया गया लेकिन इसमें सफलता नहीं मिली। अन्त में जनवरी, 1976 में व्यवस्थित फ्लोट को

वैध बनाकर इस मामले को निपटाया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने व्यवस्थित फ्लोट के लिये कोई औपचारिक नियम नही अपनाये और इसलिये विदेशी विनिमय बाजारों में परिवर्तनों से विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब किसी देश के भुगतान शेष ने निरन्तर घाटा बना रहता है तो इसकी मुद्रा का अवश्य ही मूल्य ह्रास हो जाएगा। इसलिये यह आवश्यक है कि उस देश के भुगतान शेष को ठीक तरह रखा जाये।

15.3.3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार (Borrowings from IMF)

जैसा कि इस इकाई में पहले बताया जा चुका है अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्यों की, उनके भुगतान शेष की अस्थायी प्रकृति की समस्याओं को दूर करने में, सहायता करता है। इसके लिये वह सदस्य देशों को वे मुद्राएं बेचता है जिनकी उन्हें अपने अल्पकालीन ऋण दायित्वों को पूरा करने के लिये आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और इसके सदस्यों के बीच ये विनिमय लेन-देन कोई साधारण लेन-देन नहीं है, जिनमें मुद्राओं का क्रय व विक्रय होता हो। यह वास्तव में, सदस्य देशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से दूसरे देशों की मुद्राओं को उधार लेना है, यद्यपि उधार लेने वाले को इन विदेशी मुद्राओं के बदले अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अपनी मुद्राएं देनी होती हैं। उन्हें इस पर ब्याज भी देना होता है जो उधार राशि और उधार की अवधि के साथ-साथ बढ़ता जाता है। ऋण की वापसी के लिये सोने में या उस मुद्रा में, जिसमें ऋण लिया गया था, भुगतान करके अपनी मुद्रा का पुनर्क्रय करना होता है।

तथापि, एक सदस्य देश को इस कोष से असीमित मात्रा में ऋण नहीं मिल सकता। इस सम्बन्ध में दो प्रतिबन्ध हैं: (1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सामान्यतया किसी देश के कोटे के 200 प्रतिशत तक ही उस देश की मुद्रा रखेगा, उससे अधिक नहीं। इसका अर्थ है कि एक देश का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कुल उधार उसके कोटे के 125 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता। लेकिन विशेष स्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष यह शर्त हटा सकता है। (2) एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार लेने से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास उस देश की मुद्रा उधार लेने से एक वर्ष की अवधि में उसके कोटे के 25 प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ना चाहिये।

सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से विदेशी मुद्राएं उधार लेने या निकालने के अधिकार के कारण वे लेन-देनों के द्विपक्षीय संतुलन का सहारा लिये बिना अपनी अल्पकालीन भुगतान शेष समस्याओं से निपट सकते हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जिस बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली को सशक्त बनाना चाहता है उसमें सदस्य देशों को केवल उन्हीं देशों से उधार नहीं लेना होगा जिनके साथ उनका द्विपक्षीय घाटा होता है। वास्तव में, ऐसी प्रणाली में ऋण दायित्वों को पूरा करने में कोई भी विदेशी मुद्रा अच्छी साबित होगी। व्यवहार में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अभी एक बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली विकसित करनी है। अतः सदस्य देश प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास किसी विशेष मुद्रा में ऋण की स्वीकृति के लिये जाते हैं क्योंकि उस मुद्रा की विस्तृत स्वीकार्यता होती है।

बोध प्रश्न क

1 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष क्या है?

.....

.....

.....

2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित किसी देश के कोटे से सम्बन्धित विभिन्न आयामों की सूची बनाइये।

.....

.....

.....

3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली के मुख्य पहलू क्या हैं?

.....

.....

.....

4 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में से कौन सही हैं और कौन गलतः

i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपनी स्थापना के बाद शुरू के वर्षों में विनिमय दर स्थिरता पर जोर दिया।

ii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की शुरू की प्रणाली के भंग हो जाने के बाद एक नयी प्रणाली आयी जिसे घटती-बढ़ती विनिमय दर प्रणाली कहते हैं।

iii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना का निर्णय ब्रेटन-वुडस में हुए सम्मेलन में लिया गया था।

iv) अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य के लिये विनिमय नियंत्रण आवश्यक होता है।

v) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यों के कोटे बराबर नहीं होते और इसलिये उनके वोट देने के अधिकार भी भिन्न होते हैं।

vi) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य अपनी विकासात्मक परियोजनाओं के वित्तीयन के लिये इससे उधार लेते हैं।

vii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य अपने भुगतान शेष के घाटों से उत्पन्न होने वाले ऋण दायित्वों को पूरा करने के लिये इससे असीमित मात्रा में उधार ले सकते हैं।

viii) एक बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य इससे केवल उन देशों की मुद्राओं में ही ऋण नहीं मांगेंगे जिनके साथ उनके द्विपक्षीय घाटे हों।

15.4 विनिमय दर स्थिरता बनाम व्यवस्थित फ्लोट (Exchange- Rate Stability versus Managed Float)

काफी समय तक अर्थशास्त्री यह मानते रहे कि स्थिर विनिमय दर प्रणाली घटती-बढ़ती विनिमय दरों से बेहतर होती है। जैसा कि इस इकाई में पहले बताया जा चुका है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संस्थापकों का भी यही मत था। इसलिये उन्होंने एक स्थिर विनिमय दर प्रणाली का प्रावधान किया था। तथापि, बदली हुई स्थितियों में विनिमय दरों में औपचारिक रूप से समायोजन किया जा सकता था। इस प्रणाली को समायोज्य पेग व्यवस्था के रूप में जाना जाता था। यह प्रणाली 1970 के दशक में भंग हो गयी और इसका स्थान एक नयी प्रणाली ने ले लिया जिसे व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली के रूप में जाना जाता है।

15.4.1 समायोज्य-पेग व्यवस्था (Adjustable-peg Regime)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा यह प्रणाली ब्रेटन वुडस सम्मेलन में अपनायी गयी और यह लगभग 25 वर्षों तक चली। इस प्रणाली में निम्नलिखित गुण माने जाते थे:

1 **विदेशी व्यापार की अनिश्चितताओं को दूर करती है:** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसमें भाग लेने वाले सभी देशों के लिये लाभकारी है, इसलिये इसे प्रोत्साहित करने के लिये हर संभव प्रयत्न करने चाहिये। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दो समस्याएं ऐसी हैं जो घरेलू व्यापार में नहीं होतीं। पहली यह कि भुगतान करने के लिये आयातकों को विदेशी विनिमय प्राप्त करना होता है क्योंकि इसके लिये घरेलू मुद्रा का कोई उपयोग नहीं है। एक घटती-बढ़ती विनिमय दर उसको आयातों के लिये विदेशी विनिमय प्राप्त करने की योजनाओं और परिकलनों को अस्त-व्यस्त कर देती है। दूसरी समस्या यह है कि यदि विनिमय दर अनिश्चित रूप से घटती-बढ़ती रहती है तो यह आयातक के लाभों के बारे में परिकलनों को भी अस्त व्यस्त कर सकती है। अतः विनिमय दर अपेक्षाकृत स्थिर होनी चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की समायोज्य-पेग प्रणाली से इस समस्या से निपटने की आशा की जाती थी।

2 **निजी पूंजी के अन्तर्देशीय प्रवाह में मदद करती है:** यद्यपि आज की दुनियां में पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह का निर्णय पूर्णतया आर्थिक आधारों पर ही नहीं लिया जाता, लेकिन निजी पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय संचलन अवश्य ही प्रासंगिक आर्थिक कारकों को ध्यान में रखता है। इनमें से एक महत्त्वपूर्ण कारक विनिमय दर के उतार-चढ़ाव के साथ जुड़ी अनिश्चितताओं का न होना है। विनिमय दर के उतार-चढ़ाव ऐसी स्थितियां पैदा करते हैं जिनमें भारी पूंजीगत हानियां संभव होती हैं। यह संभावना निजी विदेशी पूंजी के संचलन को रोकती है। 1970 के दशक तक चलने वाली समायोज्य-पेग प्रणाली ने विनिमय दरों में सम्भव उतार-चढ़ावों से होने वाली अनिश्चितताओं को समाप्त करके विदेशी निजी पूंजी के अन्तर्देशीय प्रवाह के लिये सहायक स्थितियां पैदा की।

3 **विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी को रोकती है:** सिद्धान्ततः यह तर्क दिया जा सकता है कि विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति व्यापार से होने वाले विनिमय दर के उतार-चढ़ावों को कम करने की होती है और इस प्रकार इसका प्रभाव स्थिरता लाने वाला होता है। लेकिन, व्यवहार में, विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी का अनुभव बहुत प्रोत्साहक नहीं रहा है, क्योंकि यह सदा ही विनिमय दरों में अकारण उतार-चढ़ावों में सहायक रही है। मुक्त रूप से नम्य विनिमय दरें विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी के बहुत अवसर प्रदान करती हैं, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की समायोज्य पेग प्रणाली ने ऐसी सट्टेबाजी के लिये बहुत कम अवसर प्रदान किये क्योंकि इस प्रणाली में कुल मिलाकर विनिमय दरें स्थिर रहीं।

4 **मुद्रा स्फीति के आयात को रोकती है:** जब किसी मुद्रा का मूल्य घटता है तो आयातित वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य बढ़ जाता है जिससे घरेलू वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में भी वृद्धि हो जाती है। विकासशील देशों के भुगतान शेष में निरन्तर घाटे से नम्य विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत इनकी मुद्रा के मूल्य के घटने की प्रवृत्ति होती है और ये मुद्रा स्फीति को अपने देश में आने से रोक नहीं पाते।

लेकिन समायोज्य पेग व्यवस्था के अन्तर्गत स्थिर विनिमय दरें देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य में निरन्तर गिरावट आने से होने वाली मुद्रास्फीति के संभव आयात से उस देश को बचाती है।

15.4.2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की असफलता (Failure of IMF)

समायोज्य-पेग व्यवस्था 1970 के दशक में भंग हो गयी, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की असफलता का सूचक थी। इस प्रणाली की समाप्ति का एक महत्त्वपूर्ण कारण अमेरिका में वियेतनाम युद्ध के वित्तीयन के लिये सरकार की गलत नीतियों के कारण होने वाली मुद्रा स्फीति थी। इस मुद्रा स्फीति से अमेरिका के भुगतान शेष में घाटा हो गया। दूसरी ओर, इस समय यूरोप के कुछ देश ऐसे थे जिनके भुगतान शेष में अधिशेष था। ये देश इन परिवर्तनों से अप्रसन्न थे और वे अमेरिका से मुद्रा स्फीति के संभव आयात को रोकना चाहते थे। 1971 की स्थितियों ने विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी को प्रोत्साहित किया। क्योंकि इस समय डालर का मूल्य अधिक हो गया था और अमेरिका की सरकार इसका अवमूल्यन करने की इच्छुक नहीं थी, इसलिये सट्टेबाज डालरों को जर्मनी के मार्क में परिवर्तित करने को अधिकाधिक इच्छुक होते गये। मई, 1971 के पहले सप्ताह में मार्क और डालर का बहुत व्यापार हुआ और 3 दिन में 2 मिलियन डालर मार्क में परिवर्तित किये गये। क्योंकि ऐसे और व्यापार के जर्मन अर्थव्यवस्था पर गंभीर प्रभाव पड़ सकते थे इसलिये इसे स्थगित कर दिया गया और फ्रैंकफोर्ट विदेशी विनिमय बाजार बंद कर दिया गया। एक सप्ताह बाद जब यह बाजार फिर खोला गया तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सांविधिक प्रावधानों के प्रतिकूल जर्मनी ने मार्क को फ्लोट होने दिया। इसी समय आस्ट्रेलियन शिलिंग और स्विस फ्रैंक का पुनर्मूल्यन किया गया। परन्तु अमेरिका के भुगतान शेष में घाटा बढ़ता गया। अमेरिका से अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों तरह की पूंजी का भारी बहिर्गमन हुआ। डालर पर सट्टेबाजी जारी रही और डालर में विश्वास बुरी तरह डगमगा गया। इन घटनाओं के बावजूद अमेरिका की नीति डालर का अवमूल्यन नहीं करने की बनी रही। इससे स्थिति और खराब हो गयी। प्रमुख देशों के केन्द्रीय बैंक डालर पर सट्टेबाजी को रोकने में असफल रहे। विश्व अर्थव्यवस्था ने, खास तौर से वित्तीय बाजारों के एकीकरण ने, सट्टेबाजी व कुछ अन्य प्रकार की गड़बड़ियों के सम्मुख इस प्रणाली का पर्दाफ़ाश कर दिया। अल्पकालीन लाभ के लिये बहु-देशीय फर्मों ने बड़ी मात्रा में कोषों को इधर-उधर लगाया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इन सभी दबावों से ध्वस्त हो गया। विशेषज्ञों के अनुसार ब्रेटन वुडस प्रणाली तो वास्तव में उसी दिन समाप्त हो गयी थी जब अमेरिका ने डालर की औपचारिक परिवर्तनीयता को समाप्त कर दिया था और वह दिन था 15 अगस्त, 1971।

आइये, अब यह जानने का प्रयत्न करें कि क्या ब्रेटन वुड्स प्रणाली में कोई मूल दोष थे या ऐसी कोई असंभावित सांयोगिक घटना थी जिससे यह प्रणाली समाप्त हो गई। अधिकांश विशेषज्ञों का अब यह मत है कि विनिमय दर स्थिरता पर अनावश्यक जोर और प्रमुख विकसित देशों के भुगतान शेष के असंतुलन को ठीक करने के लिये अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करने के प्रति उनकी अनिच्छा, मुख्यतः इन्हीं दो कारणों से इस प्रणाली का अन्त हुआ। यह प्रणाली इस मान्यता पर आधारित थी कि मुख्य मुद्राओं की समता बनी रहेगी और किसी भी स्थिति में डालर की विनिमय दर स्थिर बनी रहेगी। इसका आशय यह था कि किसी भी स्थिति में डालर का अवमूल्यन नहीं किया जाएगा और किसी अन्य मुख्य मुद्रा का पुनर्मूल्यन नहीं किया जाएगा। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि 1949 के समायोजनों को छोड़कर, औद्योगिक देशों ने 1945 से 1971 की अवधि में दस से भी कम बार विनिमय दर समायोजित किये। अमेरिका की सरकार ने अपने भुगतान शेष में निरन्तर घाटे और इसके कारण डालर के बहिर्गमन के प्रति लापरवाही का रवैया अपनाया। यदि अमेरिका पश्चिमी दुनियां का नेता बना रहता तो इस स्थिति से कोई परेशानी नहीं होती। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। 1960 के दशक के अन्त के वर्षों में अमेरिका से संप्रेषित मुद्रा स्फीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यों का ब्रेटन वुड्स प्रणाली के प्रति विश्वास डगमगा गया। परिणामस्वरूप समायोज्य-पेग व्यवस्था बदलने लगी। ब्रेटन वुड्स प्रणाली तो असफल हो गयी लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली ने प्रमुख विकसित देशों को यह दिखा दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग से कुछ लाभ भी मिलते हैं।

15.4.3 व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली (System of Managed Float)

जे.ई. मीड, एच.जी. जान्सन और एम. फ्रेडमैन जैसे कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियों ने नम्य विनिमय दर प्रणाली (system of flexible exchange rates) अपनाने का समर्थन किया। उनकी राय में नम्य विनिमय दर प्रणाली में समायोजन की प्रक्रिया निरन्तर होती रहती है। इसकी तुलना में, स्थिर विनिमय दर प्रणाली में केवल संकट की स्थिति में ही विनिमय दर में समायोजन किये जाते हैं। इस कारण नम्य विनिमय दर प्रणाली स्थिर विनिमय दर प्रणाली से बेहतर है। नम्य विनिमय दर प्रणाली सरकार पर उस दबाव को कम करती है जो भुगतान शेष में संतुलन लाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हस्तक्षेप करने के लिए उस पर डाले जाते हैं। यह सरकारों को केवल घरेलू उद्देश्यों के लिये घरेलू नीतियों के साधनों का प्रयोग करने की स्वतंत्रता भी देती है। इसके अतिरिक्त, जब नम्य विनिमय दरों को समायोजन के उपकरणों के रूप में प्रयोग किया जाता है तो ऐसी परिसम्पत्तियों की आवश्यकता बहुत कम हो जाती है जिनका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सम्बन्धी दायित्वों को पूरा करने के लिये किया जा सकता है।

तथापि, नम्य विनिमय दर प्रणाली (या मुक्त फ्लोटिंग) का अनुभव उत्साहवर्धक नहीं है। ब्रेटन वुड्स प्रणाली के टूट जाने के तुरन्त बाद मुख्य मुद्राओं में बहुत अस्थिरता दिखाई दी। विनिमय दरों में अधिक परिवर्तन बहुधा सम्बद्ध देशों की सही आर्थिक स्थिति को नहीं दर्शाते थे। वास्तव में ये उतार-चढ़ाव बहुधा विदेशी विनिमय बाजार में होने वाली सट्टेबाजी के कारण होते थे। अतः एक पूर्णतया नम्य विनिमय दर प्रणाली संभव नहीं थी। बल्कि, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजी संचलनों के लिये एक व्यवस्थित अबन्ध प्रणाली अधिक उपयुक्त पायी गयी। इस प्रणाली में विभिन्न प्रकार के सहयोग और प्रबंध की आवश्यकता होती है समायोज्य-पेग व्यवस्था के टूट जाने के बाद जब व्यवस्थित फ्लोट की नयी प्रणाली उभर रही थी तब यूरोप के देश 'सर्प योजना' (snake scheme) के अन्तर्गत एक दूसरे के साथ सहयोग कर रहे थे। 'सर्प योजना' में यूरोपियन आर्थिक समुदाय यानि पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड, लक्ज़मबर्ग और डेनमार्क की मुद्राओं के संयुक्त फ्लोट (joint float) का प्रावधान किया गया था। स्वेडन व नार्वे भी, जो इस समुदाय के सदस्य नहीं थे, इसमें शामिल हो गये। आपने इस इकाई में पहले पढ़ा है कि 'स्मिथसोनियन करार' के अन्तर्गत कोई मुद्रा अपनी केन्द्रीय दर से 2.5 प्रतिशत घट-बढ़ सकती थी। इसलिये 1972 में यूरोपीय आर्थिक समुदाय ने अपनी मुद्राओं को एक साथ बांधने का और उनकी विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव को इस सीमा के अंतर्गत ही करने का निर्णय लिया। इस व्यवस्था को 'सुरंग में सर्प' (snake in the tunnel) कहा जाता था। मार्च 1973 के बाद यूरोपीय आर्थिक समुदाय की मुद्राएं एक दूसरे के साथ बँधी तो रहीं लेकिन अन्य मुद्राओं की तुलना में इनके सममूल्यों में परिवर्तन की मात्रा पर कोई पाबन्दी नहीं थी। इस नयी व्यवस्था को 'झील में सर्प' ('snake in the lake') कहते थे। 1973 से ही इंग्लैंड, इटली और आयरलैंड संयुक्त फ्लोट के सदस्य नहीं थे। फ्रांस 1974 में 'सर्प व्यवस्था' से अलग हो गया, स्वीडन ने इसे 1977 में छोड़ दिया और नार्वे इससे 1978 में अलग हो गया। लेकिन जिस प्रकार सामान्य यूरोपीय आर्थिक समुदाय के फ्लोट का संचालन किया गया था उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यवस्थित फ्लोट में विनिमय दरों में पूर्णतया मुक्त उतार-चढ़ाव संभव नहीं थे और इसलिये इस विनिमय दर प्रणाली में पूर्ण अव्यवस्था होने का जोखिम नहीं था।

अबन्ध विनिमय दर प्रणाली की व्यवस्था कई तरीकों से की जा सकती है। तथापि, इस बारे में दो प्रस्तावों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली 'सामान्य' मूल्य की धारणा पर आधारित है, जिसका अर्थ है कि विनिमय दरें किसी संतुलन मूल्य के इर्द गिर्द ही घटनी-बढ़नी चाहिये, वास्तविक विनिमय दर का इस संतुलन मूल्य से दूर जाने की स्थिति में सम्बद्ध देश का केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय बाजार में हस्तक्षेप करेगा। इस हस्तक्षेप के लिये एक प्रस्ताव का सुझाव यह है कि जब केन्द्रीय बैंक हस्तक्षेप करे तो उसे विनिमय दरों के बहुत ज्यादा उतार-चढ़ावों में सहायक नहीं होना चाहिये। वास्तव में इसका प्रयास अधिक उतार-चढ़ावों को सामान्य बनाने की ओर होना चाहिये। इसलिये किसी भी केन्द्रीय बैंक को उस समय अपनी मुद्रा नहीं बेचनी चाहिये जब उसकी विनिमय दर घट रही हो और न ही उसे अपनी मुद्रा उस समय खरीदनी चाहिये जब उसका मूल्य बढ़ रहा हो। एक दूसरे प्रस्ताव के अनुसार एक संदर्भ विनिमय दर प्रणाली बनानी चाहिये। इन संदर्भ दरों में आवधिक संशोधन किया जाना चाहिये और इन्हें मुद्राओं के संतुलन मूल्यों से बहुत अधिक ऊपर-नीचे नहीं होना चाहिये। विनिमय दर की व्यवस्था करने का नियम यह है कि किसी भी केन्द्रीय बैंक को संदर्भ दर से कम कीमत पर अपनी मुद्रा नहीं बेचनी चाहिये और न ही इसे इससे अधिक कीमत पर अपनी मुद्रा खरीदनी चाहिये।

व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली समायोज्य-पेग प्रणाली जैसी ही नजर आती है। लेकिन वास्तव में, ये दोनों प्रणालियां भिन्न हैं। व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली में अनम्यता (rigidity) का पक्ष नहीं लिया जाता क्योंकि विनिमय दर में लगातार समायोजन किये जा सकते हैं। इसकी तुलना में, समायोज्य-पेग प्रणाली में समायोजनों में अक्सर देर होती है और इसलिये अन्त में विनिमय दरों में अपेक्षाकृत बड़े परिवर्तनों की आवश्यकता होती है।

बोध प्रश्न 5

1 ब्रेटन वुड्स की समायोज्य-पेग प्रणाली का वर्णन कीजिये।

.....

.....

.....

.....

2 व्यवस्थित फ्लोट और मुक्त फ्लोट में भेद कीजिये।

.....

.....

.....

.....

3 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलतः

i) विनिमय दरों की समायोज्य-पेग प्रणाली निजी पूंजी के अन्तरदेशीय प्रवाह को सुविधाजनक बनाती है।

ii) मुक्त रूप से घटती-बढ़ती विनिमय दर प्रणाली में विदेशी व्यापार की अनिश्चितताएं पूर्णतया समाप्त हो जाती हैं।

iii) जब तक समायोज्य-पेग प्रणाली ने ठीक तरह से काम किया, इसने विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी के लिये कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी।

iv) समायोज्य-पेग प्रणाली से मुद्रा स्फीति के प्रति सुरक्षा प्रदान करने की अपेक्षा नहीं की जाती थी।

v) डालर के मूल्य में वृद्धि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थिर विनिमय दर प्रणाली टूट गयी।

vi) विनिमय दर स्थिरता को अनावश्यक महत्व देने और विकसित देशों की भुगतान शेष में घाटे की स्थिति होने पर भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करने की उनकी अनिच्छा के कारण ब्रेटन वुड्स प्रणाली का अन्त हो गया।

vii) एक पूर्णतया नम्य विनिमय दर प्रणाली या मुक्त फ्लोट व्यवस्थित फ्लोट से बेहतर है क्योंकि इसमें लगातार समायोजन का गुण है।

viii) 'सर्प योजना' में डालर और पौंड स्टर्लिंग के संयुक्त फ्लोट की व्यवस्था थी।

ix) व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक का विदेशी बाजार में हस्तक्षेप विनिमय दर में अधिक उतार-चढ़ाव में सहायक होना चाहिये।

15.5 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (IMF and International Liquidity)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का तात्पर्य प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सोने और विदेशी विनिमय के संचय (कोष) से होता है। सितम्बर 1967 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स ने रियोडीजनीरो में अपनी वार्षिक बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की निरन्तर बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिये विशेष आहरण अधिकारों के रूप में एक नयी कोष परिसम्पत्ति का निर्माण करने का निर्णय लिया। तब से भुगतान शेष से उत्पन्न होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग तीन स्रोतों से पूरी की जाती हैः (1) विभिन्न देशों के सोने और विदेशी विनिमय के सरकारी कोष, (2) विभिन्न देशों के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास सोने और विदेशी विनिमय के कोष, और (3) विशेष आहरण अधिकार। इस भाग में पहले अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का अध्ययन किया जाएगा और इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों पर संक्षेप में विचार किया जाएगा। क्योंकि विशेष आहरण अधिकारों का निर्माण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने का सबसे मूलभूत उपाय रहा है इसलिये इस पर अन्त में अलग से विचार किया जाएगा।

15.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पौंड स्टर्लिंग का महत्तव कम हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर डालर विस्तृत रूप में स्वीकार्य मुद्रा के रूप में सामने आया। क्योंकि डालर सोने में परिवर्तनीय था इसलिये अधिकांश देश अपने विदेशी विनिमय कोषों को डालर में रखना चाहते थे। डालरों की पूर्ति अमेरिका के भुगतान शेष में घाटे की राशि पर निर्भर करती थी। विभिन्न देशों के डालर कोषों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कोष भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का एक भाग थे। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के निर्माण की यह प्रणाली अव्यवस्थित थी और इसलिये 1950 के दशक में जिस दर से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हुई वह अनियमित रही। इससे कई अर्थशास्त्री चिंतित हुए। 1950 के दशक के एक प्रमुख अर्थशास्त्री राबर्ट ट्रीफिन ने महसूस किया कि विश्व व्यापार की वृद्धि दर को देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बहुत धीमी गति से बढ़ रही है। व्यापार प्रति वर्ष 7.5 प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा था जब कि सोने के कोष 1.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़े थे और कुल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता केवल 2.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी थी। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमय और सोने के कोषों का विभिन्न देशों में असमान वितरण था। तथापि इस समस्या का सबसे गम्भीर पहलू यह था कि इसमें कोई ऐसी प्रक्रिया मौजूद नहीं थी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में व्यवस्थित रूप से वृद्धि सम्भव हो सके।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत वांछित दर पर सोने की पूर्ति को बढ़ाने के सभी प्रयत्न अमेरिका द्वारा

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत वांछित दर पर सोने की पूर्ति को बढ़ाने के सभी प्रयत्न अमेरिका द्वारा विफल कर दिये गये। जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई थी तो सोने का मूल्य 35 डालर प्रति औंस था। अमेरिका द्वारा विरोध के कारण इसके मूल्य को 28 वर्षों तक नहीं बढ़ाया जा सका। इसके कारण न तो सोने के उत्पादकों को ही सोने की पूर्ति बढाने का कोई प्रोत्साहन था और न ही वे देश मौद्रिक उपयोग के लिये सोने को देने को तैयार थे जिनके पास सोने के बड़े भंडार थे। लेकिन अमेरिका के भुगतान शेष में भारी घाटों के कारण डालर कोषों में भारी वृद्धि हुई। 1950 के दशक के दौरान डालर की सोने में परिवर्तनीयता के कारण उसे सोने जैसा ही माना जाता था। 1950 के दशक के अन्तिम वर्षों में जब अमेरिका के भुगतान शेष में निरन्तर भारी घाटे की स्थिति ने कुछ पश्चिमी यूरोप के देशों का ध्यान आकर्षित किया तब उन्होंने अमेरिका पर डालरों को सोने में बदलने के लिये बहुत दबाव डाला। इससे सोने का प्रवाह अमेरिका से यूरोप की ओर हुआ। इसके कारण सोने के कुल भंडार में अमेरिका का भाग कम हो गया और डालर की सोने में परिवर्तनीयता पर शक होने लगा। डालर पर से विश्वास घट रहा था और अमेरिका के भुगतान शेष में और घाटे से डालर की प्रतिष्ठा को और हानि हो सकती थी। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में और वृद्धि कठिन थी।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या विनिमय दर की अधिकीलन (exchange rate pegging) के साथ भी जुड़ी हुई है। जैसा क इस इकाई के भाग 15.4.3 में बताया गया था, नम्य विनिमय दर प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग काफी कम होगी और विद्यमान विनिमय दर कोषों से इसे पूरा करना कठिन नहीं होगा। अतः जब से ब्रेटेन बुड्स की समायोज्य पेग व्यवस्था का स्थान व्यवस्थित फ्लोट ने लिया तब से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति को बढ़ाने के संबंध में दबाव कम हुआ।

15.5.2 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने के प्रस्ताव

यह देखते हुए कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता अपेक्षित दर से नहीं बढ़ रही है कुछ अर्थशास्त्रियों व अन्य विशेषज्ञों ने आमूल परिवर्तनवादी और सुधारवादी प्रस्ताव रखे ताकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या से निपटा जा सके। आमूल परिवर्तनवादी प्रस्तावों में से दो बहुत महत्वपूर्ण थे। इनमें से एक प्रस्ताव यह था कि समायोज्य पेग प्रणाली को त्याग देना चाहिये और इसके स्थान पर नम्य विनिमय दर प्रणाली अपना ली चाहिये। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग का घटना स्वाभविक है और वर्तमान विदेशी विनिमय कोष अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की इस घटी हुई मांग को आसानी से पूरा कर सकेंगे। 1970 के दशक के प्रारम्भ में दुनियां ने अन्त में एक ऐसी प्रणाली अपनायी जो मूलतः नम्य विनिमय दर प्रणाली का ही एक रूपांतर है। दूसरा आमूल परिवर्तनवादी प्रस्ताव द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व के समय के स्वर्ण मान को दोबारा प्रचलित करने का था। इस प्रस्ताव को अव्यवहार्य माना गया और इसे अधिक समर्थन नहीं मिला। सुधारवादी प्रस्ताव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष प्रणाली में ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को बढ़ाना चाहते थे। इनमें से निम्नलिखित प्रस्तावों पर ज्यादा ध्यान दिया गया लेकिन इन्हें भी विभिन्न कारणों से अपनाया नहीं जा सका। फिर भी ये संक्षेप में विचार करने योग्य हैं।

1) **सोने का मूल्य बढ़ाना:** 1950 और 1960 के दशकों में कुछ विशेषज्ञों ने, जिनमें रॉय हैरड और फ्रांस के राष्ट्रपति डी गॉल के आर्थिक सलाहकार जैकस रूएफ (Jacques Rueff) भी शामिल थे, यह सुझाव दिया की सोने का मूल्य जो 35 डालर प्रति औंस पर बंधा हुआ था उसे बढ़ा देना चाहिये। उनकी राय में यह मूल्य अवास्तविक था और सोने की पूर्ति की वृद्धि को निरुत्साहित कर रहा था तथा इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की कमी पैदा कर रहा था। लेकिन इस योजना में कुछ कमियां थीं। सोने का मूल्य बढ़ाने से सोने में सट्टेबाजी को प्रेरणा मिल सकती थी और इसे उचित नहीं माना गया। राष्ट्रीय मुद्राओं से सोने की ओर दौड़ की सम्भावना भी थी। यदि ऐसा होता तो राष्ट्रीय मुद्राओं को अन्तर्राष्ट्रीय कोषों के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता था। शायद इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर अमेरिका और अन्य प्रमुख औद्योगिक देशों ने सोने का मूल्य बढ़ाने के विचार का कभी समर्थन नहीं किया हालांकि इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का समाधान करने में सहायता मिल सकती थी।

2) **ट्रिफिन योजना (The Triffin Plan):** राबर्ट ट्रिफिन ने सिफारिश की कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या से निपटने के लिये विदेशी विनिमय कोषों का केन्द्रीयकरण आवश्यक है। उनकी राय में एक या दो कोष मुद्राओं पर आधारित प्रणाली बहुत कमजोर होती है क्योंकि उनकी पूर्ति को बढ़ाकर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति को बढ़ाने के प्रयास से उनमें विश्वास कम हो जाएगा। वास्तव में डालर के साथ ऐसा ही हुआ। इसलिये ट्रिफिन ने यह प्रस्ताव रखा कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को केन्द्रीय बैंकों के केन्द्रीय बैंक की भूमिका निभानी चाहिये और I.M.F. के सदस्यों को कहा जाना चाहिये कि वे अपने विदेशी विनिमय कोष इसके पास जमा करायें। ट्रिफिन को यह पता था कि अधिकांश देश अपने विदेशी विनिमय कोषों को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को समर्पित नहीं करना चाहेंगे क्योंकि इसका अर्थ होगा अपनी आर्थिक स्वतंत्रता को संकट में डालना। अतः उसने यह सुझाव दिया कि शुरू में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को बढ़ाने के लिये अपने विदेशी विनिमय कोषों का 20 प्रतिशत दें। ट्रिफिन योजना को व्यावहारिक नहीं समझा गया और इसे अधिक समर्थन नहीं मिला। अतः इसे अपनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

3) **बर्नस्टीन योजना (The Bernstein Plan):** ई.एम.बर्नस्टीन का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ सम्बन्ध था। उन्होंने एक ऐसा प्रस्ताव रखा जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मूल ढांचे में ही कार्यान्वित किया जा सकता था। बर्नस्टीन की योजना के दो मुख्य पहलू थे। पहला यह कि प्रत्येक देश के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कोटे को सरकारी कोषों के साथ जोड़ देना चाहिये। इस व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य देशों को इसके विदेशी विनिमय कोष स्वयं ही प्राप्य हो जाएंगे। दूसरा प्रस्ताव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में कोष इकाई खाता (Reserve Unit Account) खोलने के बारे में था। सदस्य देश इस खाते में अंश दान करके अतिरिक्त कोषों का निर्माण कर सकते थे। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को बढ़ाने के संबंध में बर्नस्टीन की योजना को पर्याप्त समर्थन नहीं मिल पाया, अतः इसके अनुसार कार्य न हो सका। इस योजना की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि विश्वास की समस्या के संबंध में इससे कोई मदद नहीं मिलती थी, परन्तु अंतर्राष्ट्रीय तरलता की कमी की मुख्य समस्या तो विश्वास पैदा करने से ही संबंधित थी।

15.5.3 विशेष आहरण अधिकारों की भूमिका (Roles of Special Drawing Rights)

1969 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स ने अपनी वार्षिक बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिये विशेष आहरण अधिकार (S.D.Rs) नामक एक नयी कोष परिसम्पत्ति का निर्माण करने का निर्णय लिया। इस निर्णय को लागू करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के करार-नियमों में 1967 में संशोधन किया गया। 1971 और 1972 में कुल 9.3 बिलियन विशेष आहरण अधिकारों का आबंटन किया गया। इसके बाद 7 वर्षों तक इनका कोई और आबंटन नही किया गया। 1979 में 12 बिलियन के S.D.Rs का नया आबंटन शुरू हुआ। यह आबंटन प्रक्रिया 3 वर्षों में पूरी हुई। भौतिक रूप में, विशेष आहरण अधिकार I.M.F. में उसके सदस्यों के खातों में व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के स्वयं अपने खाते में केवल बही खाता प्रविष्टियां हैं। विशेष आहरण अधिकारों का राष्ट्रीया मुद्राओं की भांति प्रयोग नहीं किया जा सकता। इनका पहले दूसरे केन्द्रीय बैंकों और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ राष्ट्रीय मुद्राओं से विनिमय करना होता है, इसके बाद ही कोई देश अपने भुगतान दायित्वों को पूरा करने के लिये इनका प्रयोग कर सकता है।

क्योंकि विशेष आहरण अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने के लिये बिना किसी आधार के निर्माण किया जाता है इसलिये इनके निर्माण में बहुत सावधानी की जरूरत होती है। विशेष आहरण अधिकारों के निर्माण का कोई भी प्रस्ताव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ऐसे सदस्यों द्वारा अनुमोदित होना चाहिये जिनके पास कम से कम 85 प्रतिशत मताधिकार हों। इसलिये केवल अमेरिका ही, जिसके पास 20 प्रतिशत मताधिकार हैं या यूरोपीय आर्थिक समुदाय जिसके पास कुल मिलाकर 15 प्रतिशत से अधिक मताधिकार हैं विशेष आहरण अधिकारों के निर्माण के प्रस्ताव को गिरा सकता है। सदस्य देशों को विशेष आहरण अधिकार उनके कोटा के अनुपात में बांटे गये हैं। इसलिये इनके निर्माण का अधिकांश लाभ मुख्यतया विकसित देशों को मिला क्योंकि इनके कोटे अल्प विकसित देशों के कोटों से बहुत अधिक हैं। विकासशील देशों के इस प्रस्ताव को पर्याप्त समर्थन नहीं मिला कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यो को विशेष आहरण अधिकार उनके आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर आबंटित किये जाने चाहिये। इसलिये यह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं किया

1970 के दशक के शुरू में जब विशेष आहरण अधिकारों का पहली बार निर्माण हुआ तो इनका मूल्य सोने में निश्चित किया गया था। एक विशेष आहरण अधिकार (SDR) का मूल्य 0.888671 ग्राम विशुद्ध सोना था। क्योंकि एक डालर का भी सोने में मूल्य यही था इसलिये एक विशेष आहरण अधिकार एक डालर के बराबर हो गया। 1971 और 1973 में डालर के अवमूल्यन से एक विशेष आहरण अधिकार का मूल्य एक डालर के बराबर नहीं रहा। बाद में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष प्रणाली में सोने का महत्व कम हो जाने से विशेष आहरण अधिकार का मूल्य मुद्रा बास्केट (currency basket) के आधार पर निश्चित किया गया। आजकल इस बास्केट में पांच सबसे बड़े देशों की मुद्राएं हैं। इस बास्केट में इन देशों की मुद्राओं के भार इस प्रकार हैं: अमेरीकन डालर 42 प्रतिशत। जर्मन मार्क 19 प्रतिशत, फ्रांस का फ्रैंक, पौंड स्टर्लिंग, और जापान के येन इनमें से प्रत्येक का 13 प्रतिशत।

एक देश अपने भुगतान शेष के घाटों के वित्तप्रबन्ध के लिये विशेष आहरण अधिकारों का प्रयोग कर सकता है। जैसा कि इस इकाई में पहले बताया गया है, विशेष आहरण अधिकारों का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसलिये ऐसे देश को विशेष आहरण अधिकारों का उस मुद्रा से विनिमय करना पड़ेगा जिसकी उसे आवश्यकता है। इसके परिणामस्वरूप जो देश यह मुद्रा देता है उसके पास विशेष आहरण अधिकारों की मात्रा बढ़ जाएगी और जिसने इनका हस्तांतरण किया है उसके पास उनकी मात्रा घट जाएगी। **जिस देश में भुगतान शेष की समस्या नहीं होती उसे विशेष आहरण अधिकारों को राष्ट्रीय मुद्राओं में बदलने के लिये निकालने नहीं दिया जाता।** दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य विशेष आहरण अधिकारों का प्रयोग अपने भुगतान शेष में अस्थायी असंतुलन को ठीक करने के लिये ही कर सकते हैं, अपने कोषों के गठन को बदलने के लिये नहीं।

विशेष आहरण अधिकारों की सोने व विदेशी विनिमय कोषों से तुलना करना उपयोगी हो सकता है। आजकल

विशेष आहरण अधिकारों का कुल योग लगभग 25 बिलियन डालर है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के बारे में अनुमान 500 बिलियन डालर का है। अतः विशेष आहरण अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का केवल 5 प्रतिशत ही हैं। जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष यह घोषणा करता है कि भविष्य में विशेष आहरण अधिकार मुख्य कोष परिसम्पत्ति बन जायेंगे तो यह घोषणा वास्तव में इच्छाओं की अभिव्यक्ति है, वस्तुस्थिति की नहीं। अनेक विशेषज्ञों का मत है कि भविष्य में भी ये इरादे वास्तविकता नहीं बन सकते। उनके मतानुसार विशेष आहरण अधिकारों की कुछ मूल समस्याएं हैं जिन्हें आसानी से दूर नहीं किया जा सकता। पहली समस्या यह है कि ये 'हस्तक्षेप मुद्रा' (intervention currency) रूप में प्रयोग नहीं किये जा सकते। दूसरी समस्या यह है कि ऐसी कोई प्रक्रिया मौजूद नहीं है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग बढ़ने पर इनका निर्माण किया जा सके। अन्तिम समस्या यह है कि यदि नये विशेष आहरण अधिकारों के निर्माण का कोई प्रस्ताव डालर के हित में नहीं है तो अमेरिका अपने मताधिकार की शक्ति के आधार पर ऐसे प्रस्ताव को नामंजूर कर सकता है।

बोध प्रश्न ग

1 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में आजकल जो कोष परिसम्पत्तियां शामिल की जाती हैं उनकी सूची बनाइये।

.....

.....

.....

2 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्मित अद्वितीय कोष परिसम्पत्ति ..... है।

ii) समायोज्य-पेग प्रणाली में क्योंकि विनिमय दरों में परिवर्तन बहुधा नहीं हुआ इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग तेजी से .....।

iii) ट्रिफिन योजना के अन्तर्गत विदेशी विनिमय कोषों के ..... पर जोर दिया गया।

iv) रॉय हैरड ने सोने की पूर्ति बढ़ाने के उद्देश्य से सोने की कीमत में ..... का सुझाव दिया।

v) भौतिक रूप में विशेष आहरण अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में सदस्य देशों के खातों में ..... प्रविष्टियां हैं।

3 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलत:

i) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग किसी देश के भुगतान शेष में असंतुलन से उत्पन्न होती है।

ii) द्वितीय विश्व युद्ध के समय से पौंड स्टर्लिंग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सबसे व्यापक रूप में स्वीकार्य मुद्रा बन गया।

iii) सोने की सरकारी कीमत में वृद्धि से उसकी पूर्ति बढ़ सकती थी और इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या कम हो सकती थी।

iv) 1950 और 1960 के दशकों के दौरान अमेरिका के भुगतान शेष में भारी अधिशेषों से डालर की पूर्ति बहुत बढ़ी जिसका प्रयोग कोष परिसम्पत्तियों के रूप में किया जा सकता था।

v) आजकल विशेष आहरण अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सबसे बड़े घटक हैं।

vi) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भुगतान दायित्वों को पूरा करने के लिये विशेष आहरण अधिकारों का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग किया जा सकता है।

15.6 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) 40 वर्षों से भी अधिक समय से अस्तित्व में है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ाया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सहायता की है और सदस्य देशों की उनके भुगतान शेष असन्तुलन को ठीक करने में मदद की है। लेकिन यह विनिमय नियंत्रणों को समाप्त करने में असफल रहा। इसने विनिमय दर स्थिरता के लिये प्रयास किया लेकिन समायोज्य-पेग प्रणाली, जिससे विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखने की आशा की जाती थी, अन्ततः 1970 के दशक के शुरू के वर्षों में ही टूट गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली में प्रासंगिक पहलू यों हैं:
(i) सदस्य देशों के कोटे का निर्धारण, (ii) समसूल्यों या विनिमय दरों का निर्धारण, और (iii) सदस्य

देशों द्वारा इससे उधार लेना। आजकल सभी सदस्य देशों के कोटे कुल मिलाकर 90 बिलियन विशेष आहरण अधिकार हैं। प्रत्येक देश का कोटा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में उसके अंशदान को दर्शाता है और इसका निर्धारण उसकी राष्ट्रीय आय, कोष परिसम्पत्तियो और विदेशी व्यापार की मात्रा को ध्यान में रखकर किया गया है। कोटा सदस्य देशों के मताधिकार की शक्ति और उनकी आहरण सीमाओं को भी निर्धारित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्यों की अल्पकालीन भुगतान शेष की समस्या को दूर करने में सहायता करता है। इसके लिये सदस्य इससे सांविधिक सीमाओं के अन्दर उधार ले सकते हैं।

1970 के दशक के प्रारंभिक वर्षों तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष प्रणाली में सममूल्य या विनिमय दरें, देशों की मुद्राओं की सोने में समता के रूप में निर्धारित की जाती थीं। किसी देश के भुगतान शेष में मूलभूल असंतुलन होने की स्थिति में वह देश अन्य मुद्राओं और सोने के रूप में अपनी मुद्रा के मूल्य में संशोधन कर सकता था। परन्तु स्पर्धात्मक विनिमय मूल्यह्रास करने की अनुमति नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष प्रणाली, जिसे ब्रेटन वुड्स प्रणाली भी कहते है, ने विनिमय दरों की स्थिरता पर जोर दिया।

इस उद्देश्य से समायोज्य-पेग प्रणाली अपनायी गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विनिमय दर में परिवर्तन केवल तभी किया जा सकता था जब सम्बद्ध देश के भुगतान शेष में आधारभूत असंतुलन के कारण ऐसा करना आवश्यक हो। इस प्रणाली ने विदेशी व्यापार की अनिश्चितताओं को समाप्त किया, निजी पूंजी के अन्तर-देशीय प्रवाह में सहायता की, विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी को रोका और मुद्रास्फीति के आयात से सुरक्षा प्रदान की।

लेकिन समायोज्य-पेग प्रणाली 1970 के दशक में टूट गयी और यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की असफलता को दर्शाता है। इस असफलता का कारण अमेरिका के भुगतान शेष में होने वाला निरन्तर घाटा था जिससे डालर में विश्वास कम हो गया। इसके परिणामस्वरूप डालर का अवमूल्यन आवश्यक हो गया। लेकिन अमेरिका ने ऐसा नहीं किया और डालर की सोने में परिवर्तनीयता को समाप्त कर दिया। ऐसी परिस्थिति में कुछ प्रमुख यूरोपीय देशों ने अपनी मुद्राओं को फ्लोट करने का निर्णय लिया और इस प्रक्रिया में डालर का मूल्य घट गया। इस प्रकार समायोज्य-पेग प्रणाली का स्थान एक नयी प्रणाली ने ले लिया जिसे व्यवस्थित फ्लोट कहते हैं। सैद्धान्तिक आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियों ने व्यवस्थित फ्लोट के स्थान पर नम्य विनिमय दर का समर्थन किया। लेकिन व्यवहार में नम्य विनिमय दर प्रणाली बहुत अस्थिरता लाने वाली साबित हुई, जबकि व्यवस्थित फ्लोट में विनिमय दरों में निरन्तर व बाकायदा संशोधन करने के लिये देशों में आपस में सहयोग किया जाता है। और इस प्रकार विनिमय दरो में मुक्त उतार-चढ़ाव नहीं आने दिये जाते। इन्ही कारणों से इन देशों ने व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली अपनायी।

भुगतान शेष में असंतुलन और बहुपक्षीयता के अभाव से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग का सृजन होता है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग आजकल तीन स्रोतों से पूरी की जाती है: (1) विभिन्न देशों के सरकारी सोने और विदेशी विनिमय के कोष, (2) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास सोना और विदेशी विनिमय के कोष, और (3) विशेष आहरण अधिकार। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति उतनी तेजी से नहीं बढ़ी जितनी तेजी से इसकी मांग बढ़ी है। अमेरिका के भुगतान शेष में निरन्तर घाटे से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति तो बढ़ी लेकिन इससे डालर में विश्वास का संकट उत्पन्न हो गया। इसलिये, राबर्ट ट्रिफिन, ई.एम. बर्नस्टीन और राय हैरड ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का सामना करने के लिये कुछ प्रस्ताव रखे। लेकिन ये प्रस्ताव अपनाये नहीं गये। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने एक नयी कोष परिसम्पत्ति का निर्माण किया जिसे विशेष आहरण अधिकार (SDRs) कहते हैं। वास्तव में विशेष आहरण अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में सदस्य देशों के खातों और कोष के अपने खाते में केवल बही खाते की प्रविष्टियां हैं। इनका प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता। विदेशी ऋण दायित्वों को पूरा करने के लिये इनका प्रयोग करने के पहले इन्हें संबद्ध-देशों की मुद्राओं में परिवर्तित करना होता है। विशेष आहरण अधिकारों का निर्माण कम मात्रा में हुआ है और इनका आवंटन सदस्य देशों में उनके कोटों के प्रत्यक्ष अनुपात में किया गया है। आजकल विशेष आहरण अधिकार कुल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का केवल 5 प्रतिशत ही है। विशेष आहरण अधिकार का मूल्य एक मुद्रा बास्कट (currency basket) के आधार पर निश्चित किया गया है। इस मुद्रा बास्केट में 5 बड़े निर्यातक देशों की मुद्राएं शामिल हैं।

15.7 शब्दावली

समायोज्य-पेग प्रणाली (Adjustable Peg System): स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली जिसमें भुगतान शेष में मूलभूत असंतुलन की स्थिति में समायोजनों का प्रावधान है।

ब्रेटन बुड्स प्रणाली (Bretton Woods System): अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ढांचे में स्थिर विनिमय दरों की प्रणाली, जिसे ब्रेटन बुड्स में हुए सम्मेलन में अपनाया गया।

अवमूल्यन (Devaluation): मुद्रा के सोने और/या किसी विदेशी मुद्रा में रूप में बाह्य मूल्य में कमी।

विनिमय नियंत्रण (Exchange Control): वह प्रणाली जिसके अन्तर्गत विदेशी विनिमय के लेन-देनों पर सरकार का नियंत्रण होता है।

विनिमय दर (Exchange Rate): किसी मुद्रा का किसी अन्य मुद्रा के रूप में मूल्य।

स्थिर विनिमय दर (Fixed Exchange Rate): वह विनिमय दर जो परिवर्तित नहीं होती।

नम्य विनिमय दर (Flexible Exchange Rate): वह विनिमय दर जो बदलती हुई स्थितियों के साथ समायोजित होती रहती है।

मुक्त फ्लोट (Free Float): वह प्रणाली जिसमें विनिमय दर मुक्त रूप से घटती-बढ़ती है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (International Liquidity): अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोष परिसम्पत्तियों की स्थिति।

व्यवस्थित फ्लोट (Managed Float): विनिमय दरों की नम्य प्रणाली जिसमें विनिमय दरों में समायोजन सामूहिक रूप से किये जाते हैं।

बहुपक्षीय भुगतान (Multilateral Payments): अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भुगतान की एक प्रणाली जिसमें किसी भी देश की मुद्रा अन्य सभी देशों को भुगतान करने के लिये प्रयोग की जा सकती है।

सममूल्य (Par Values): विनिमय दरें।

विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights): अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्मित एक कोष परिसम्पत्ति।

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 4 i) सही ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही
vi) गलत vii) गलत viii) सही

ख 3 i) सही ii) गलत iii) सही iv) गलत v) गलत
vi) सही vii) गलत viii) गलत ix) गलत

ग 2 i) विशेष आहरण अधिकार ii) वृद्धि हुई
iii) केन्द्रीयकरण ii) वृद्धि करने v) बही खाता

3 i) सही ii) गलत iii) सही iv) सही
v) गलत vi) गलत

15.9 स्वपरख प्रश्न

1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विभिन्न उद्देश्य क्या हैं? ये कहाँ तक पूरे न किए जा सके?
2) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्यप्रणाली का वर्णन कीजिये। यह सदस्य देशों की उनकी भुगतान शेष की अस्थायी समस्या का हल करने में किस प्रकार सहायता करती है।
3) समायोज्य-पेग व्यवस्था का क्या अर्थ है? यह असफल क्यों हुई?
4) किन परिस्थितियों में विश्व ने व्यवस्थित फ्लोट प्रणाली को अपनाया?
5) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या क्या है? अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को बढ़ाने के विभिन्न प्रस्तावों का विवेचन कीजिये।
6) विशेष आहरण अधिकार (SDRs) क्या होते हैं? इनके निर्माण से किस हद तक अन्तर्राष्ट्रीय सरलता की समस्या का हल हो सका?

नोट: इस इकाई को अच्छी तरह समझने के लिए ये प्रश्न और अभ्यास आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने प्रयास कीजिए। परन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 16 विश्व बैंक World Bank

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 विश्व बैंक के उद्देश्य
16.3 विश्व बैंक के कार्य
  16.3.1 ऋण देना और निजी ऋणों के लिये गारंटी देना
  16.3.2 तकनीक सहायता
  16.3.3 निजी विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करना
16.4 विश्व बैंक की संक्रियाएँ
  16.4.1 ऋण देने के सामान्य नियम
  16.4.2 संरचनात्मक समायोजन के लिये ऋण
  16.4.3 स्थानीय मुद्रा में व्यय और अन्य समस्याएं
16.5 विश्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन
  16.5.1 विश्व बैंक का योगदान
  16.5.2 विश्व बैंक की असफलताएं
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
16.9 स्वपरख प्रश्न

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- विश्व बैंक के उद्देश्य बता सकें
- विश्व बैंक के विभिन्न कार्य समझा सकें
- पुनर्निर्माण और विकास के लिये साधनों को गतिशील बनाने में विश्व बैंक की भूमिका पर विचार कर सकें
- विश्व बैंक की संक्रियाओं का वर्णन कर सकें और इससे सम्बन्धित समस्या को पहचान सकें
- विश्व बैंक का योगदान बता सकें
- विश्व बैंक की असफलताएं बता सकें।

16.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण और विकास बैंक (आई.बी.आर.डी.), जिसे बहुधा विश्व बैंक कहते हैं, की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की एक पूरक संस्था के रूप में की गयी। इसकी स्थापना का निर्णय ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में 1944 में लिया गया। विश्व बैंक ने 1946 में कार्य करना शुरू किया। इसका मुख्य उद्देश्य युद्ध से विध्वंसित अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निमाण में सहायता करने के लिये दीर्घकालीन विदेशी निवेश को बढ़ावा देना और अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को अपनी विकास की गति को तीव्र करने के लिये प्रोत्साहित करना था। विश्व बैंक की क्रियाएं केवल सदस्य देशों की सहायता करने तक ही सीमित रहनी थीं। इस इकाई में हम विश्व बैंक के उद्देश्यों, कार्यों तथा विकासशील देशों की प्रगति में इसके योगदान का अध्ययन करेंगे।

16.2 विश्व बैंक के उद्देश्य

विश्व बैंक के उद्देश्य **करार नियमों** में स्पष्ट रूप से दिये गये हैं। ये निम्नलिखित हैं।

1) **युद्ध से विध्वंसित अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निमाण के लिये वित्त प्रबन्ध:** द्वितीय विश्व युद्ध में यूरोप के बहुत से देशों को उनके उद्योगों और आधारिक संरचना के विनाश से बहुत गम्भीर क्षति पहुँची थी। इन अर्थव्यवस्थाओं की स्थिति बहुत खराब थी और ये पुनर्निमाण कार्य के लिये पर्याप्त आन्तरिक साधन

नहीं जुटा सकती थीं। इन देशों को निजी विदेशी पूंजी का प्रवाह भी अनिश्चित था। क्योंकि अमेरिका ही केवल एक ऐसा विकसित देश था जहां युद्ध से कोई विनाश नहीं हुआ था इसलिये वहां से कुछ विदेशी सहायता की आशा थी। लेकिन यह पर्याप्त नहीं थी। इन वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि विश्व बैंक युद्ध से विध्वंसित अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण के लिये वित्त प्रदान करेगा।

2) **आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देशों के विकास के लिये वित्त प्रबन्ध:** ब्रेटन वुड्स सम्मेलन के होने तक यह स्पष्ट हो गया था कि दूसरे विश्व युद्ध के बाद के आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देशों के पास अपर्याप्त घरेलू साधनों के कारण उन्हें आर्थिक विकास करने के लिये काफी मात्रा में निजी विदेशी पूंजी और विदेशी सहायता की आवश्यकता होगी। इन देशों की आवश्यकताओं को पूरा करने में बाह्य वित्त के ये दोनों स्रोत संभवतः अपर्याप्त और अनिश्चित हो सकते थे। अतः विश्व बैंक से अपेक्षा की जाती थी कि वह अल्पविकसित देशों में विकास परियोजनाओं के लिये दीर्घकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करेगा। लेकिन इन देशों की पूंजी की आवश्यकताओं को देखते हुए, विश्व बैंक के साधन शुरू में बहुत कम थे और आज भी यही स्थिति है।

3) **विदेशी निजी निवेश को बढ़ावा:** ब्रेटन वुड्स सम्मेलन के समय, अन्तर्राष्ट्रीय साख ढांचा बहुत गड़बड़ था क्योंकि पहले और दूसरे विश्व युद्धों के बीच के समय में ठोस अन्तर्राष्ट्रीय निजी ऋण देने से संबंधित नियमों का पालन नहीं किया गया था। विदेशी ऋण ऐसी परियोजनाओं के लिये प्राप्त किये गये थे जिनमें अर्थक्षमता नहीं थी और कभी-कभी ये ऋण अत्यधिक ब्याज की दरों पर लिये गये थे। अल्पकालीन ऋणों का प्रयोग दीर्घकालीन निवेश उद्देश्यों के लिये किया गया जिससे इनके शोधन की समस्याएं उत्पन्न हुईं। इन अनुभवों के कारण पुनर्निर्माण और विकास के लिये निजी विदेशी पूंजी को निर्बाध रूप से उपलब्धि असंभव सी लगती थी। यदि कुछ निजी विदेशी पूंजी उपलब्ध भी थी तो इसकी शर्तें अत्यंत प्रतिकूल थीं और इसलिये यह आशा नहीं की जाती थी कि इसका आबंटन उचित आर्थिक नियमों के अनुसार होगा। इस कारण एक ऐसी प्रणाली की आवश्यकता थी जिससे निजी विदेशी पूंजी के प्रवाह को बढ़ाया जा सके। इस प्रकार विश्व बैंक को निजी निवेशकर्ताओं द्वारा दिये गये ऋणों और उनके द्वारा किये गये निवेशों के लिये गारंटी देकर या उनमें भागीदार बनकर निजी विदेशी निवेश को बढ़ावा देने का काम सौंपा गया। विश्व बैंक को निजी विदेशी पूंजी का स्थान नहीं लेना था बल्कि इसे तो केवल उस समय उचित शर्तों पर उत्पादक उद्देश्यों के लिये वित्त प्रदान करना था जब उचित शर्तों पर निजी विदेशी पूंजी उपलब्ध न हो।

4) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दीर्घकालीन संतुलित संवृद्धि को बढ़ावा:** सामान्यतया यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसके सभी भागीदारों के लिये लाभप्रद होता है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की संतुलित संवृद्धि को प्रोत्साहित करना चाहिये। अत्यंत असमान रूप में विकसित विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की संतुलित संवृद्धि के आसार बहुत धुंधले होते हैं। अतः विश्व बैंक के निर्माताओं का यह सोचना सही था कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं को अपनी संरचनात्मक बाधाओं को अपने उत्पादक साधनों का विकास करके दूर करना चाहिये और निर्यात सामर्थ्य प्राप्त करनी चाहिये। इससे उनके विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़ने पर भुगतान शेष में संतुलन बनाये रखने मे सहायता मिलेगी। लेकिन आर्थिक रूप से पिछड़े देश अपने ही बूते पर यह कार्य नहीं कर सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उनकी सहायता करना आवश्यक था। इस तथ्य को ध्यान में रखकर, विश्व बैंक विकासशील देशों में अन्तर्राष्ट्रीय निवेश को प्रोत्साहित करता है।

5) **एक युद्ध कालीन अर्थव्यवस्था को आसानी से एक शांति कालीन अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करने में सदस्य देशों की सहायता करना:** दूसरे विश्व युद्ध के दौरान अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्थाएं युद्ध की आवश्यकताओं के अनुरूप बना दी गयी थीं। इसलिये रक्षा उद्योगों पर बहुत जोर दिया गया। युद्ध के पश्चात् इन उद्योगों की उत्पादन क्षमता जितनी थी उसकी आवश्यकता नहीं रही और इन उद्योगों द्वारा भारी संख्या में प्रदान किया गया रोजगार अनावश्यक हो गया। इसकी तुलना में, उपभोग वस्तुओं और इनका उत्पादन करने वाली मशीनों का उत्पादन करने वाले उद्योगों की उत्पादन क्षमता पर्याप्त नहीं थी। इस असंतुलन को तुरन्त ठीक नहीं किया जा सकता था। इसके लिये अबाध परिवर्तन की आवश्यकता थी अन्यथा इससे भयंकर बेरोजगारी और सुस्ती (recession) की समस्याएं उत्पन्न हो सकती थी। अतः विश्व बैंक के निर्माताओं ने निर्णय लिया कि वह सदस्य देशों की युद्धकालीन अर्थव्यवस्था का शांति कालीन अर्थव्यवस्था में अबाध परिवर्तन करने में सहायता करेगा।

ऊपर बतायी गयी बातों से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि विश्व बैंक का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों की पुनर्निर्माण और विकास परियोजनाओं के लिये साधन जुटाने में सहायता करना है। साधन जुटाने में निजी विदेशी निवेश को प्राथमिकता देनी थी और विश्व बैंक के अपने साधनों का प्रयोग केवल इस प्रवाह को बढ़ाने के लिये किया जाना था। विश्व बैंक अनुदान नहीं देता है और ऋण भी केवल असैनिक परियोजनाओं के लिये दिये जाते हैं।

बोध प्रश्न क

1 विश्व बैंक के मूल उद्देश्य बताइये।

.....

.....

.....

.....

2 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलत

i) विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की एक पूरक संस्था है।

ii) विश्व बैंक सैन्य परियोजनाओं के लिये वित्त प्रदान करता है।

iii) विश्व बैंक से युद्ध से विध्वंसित अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण और आर्थिक रूप में पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाओं के विकास के लिये निजी विदेशी साधनों को प्रोत्साहित करने की अपेक्षा की जाती है।

iv) विश्व बैंक की स्थापना के पीछे निजी विदेशी पूंजी के प्रवाह को अपने ऋणों से प्रतिस्थापित करने का इरादा था।

v) विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दीर्घकालीन संतुलित संवृद्धि को बढ़ाता है।

vi) विश्व बैंक विकसित देशों की शांतिकालीन अर्थव्यवस्थाओं को युद्धकालीन अर्थव्यवस्थाओं में आसानी से परिवर्तित करने में सहायता करता है।

vii) विश्व बैंक अपने सदस्य देशों को अनुदान नहीं देता।

16.3 विश्व बैंक के कार्य

पिछले भाग में आपने विश्व बैंक के उद्देश्यों के बारे में पढ़ा। आप यह भी जानना चाहेंगे कि ये उद्देश्य कैसे पूरे किये जाते हैं। इसके लिये विश्व बैंक के कार्यों को जानना आवश्यक है। इन कार्यों को मुख्यतया तीन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है : (i) ऋण देना और निजी ऋणों के लिये गारण्टी देना, (ii) तकनीकी सहायता, और (iii) निजी निवेश को प्रेरित करना।

16.3.1 ऋण देना और निजी ऋणों के लिये गारण्टी देना

विश्व बैंक साधारणतया कोषों को विकसित देशों से विकासशील देशों की ओर प्रवाहित करता है, हालांकि इसके जरिये एक विकसित देश से दूसरे विकसित देश को साधनों का हस्तांतरण भी किया जा सकता है। विश्व बैंक निम्नलिखित प्रकार से सदस्य देशों को ऋण प्रदान करता है:

1 विश्व बैंक के अपने साधनों में से ऋण

2 विश्व बैंक के उधार लिये साधनों में से ऋण

3 विश्व बैंक की गारण्टी पर ऋण

1) **विश्व बैंक के अपने साधनों में से ऋण:** विश्व बैंक के अपने साधनों में प्रदत्त पूंजी और इसकी आय का अवतरित भाग शामिल है। विश्व बैंक की शेयर पूंजी सदस्य देशों में बांट दी गयी है। सदस्य देशों की सरकारें द्वारा अभिदत्त (subscribed) शेयर अहस्तांतरणीय हैं। सदस्यों ने अपने अभिदान का 2 प्रतिशत सोने या अमरीकी डालर के रूप में दिया है, और विश्व बैंक इसका प्रयोग ऋण देने के लिए प्रयोग कर सकता है। इसके अतिरिक्त सदस्यों ने अपने अभिदान का 18 प्रतिशत अपनी मुद्राओं में दिया है जिसका प्रयोग ऋण देने के लिये उन देशों की सहमति से किया जा सकता है। जिनकी मुद्राओं में ऋण देना है। अभिदान का बाकी का 80 प्रतिशत उधार देने के लिये प्रयोग नहीं किया जा सकता लेकिन इससे विश्व बैंक के उन दायित्वों को पूरा किया जा सकता है जो इसके ऋण लेने या ऋणों के लिये गारण्टी देने से उत्पन्न हो सकते हैं।

   विश्व बैंक अपने देशों को साधारणतया विदेशी मुद्राओं में ऋण देता है। तथापि, विशेष मामलों में यह एक सदस्य को उसकी अपनी मुद्रा में (यानि ऋण लेने वाले देश की मुद्रा में) ऋण दे सकता है। ऋण की शर्तें विश्व बैंक द्वारा निश्चित की जाती है। यह ऋणों पर जो ब्याज दर लेता है वह उस ब्याज दर से अधिक होती है जो यह अपने ऋणों पर देता है। यह अन्तर उसकी आय है।

2) **विश्व बैंक के उधार लिये गये साधनों में से ऋण:** विश्व बैंक द्वारा अपने सदस्य देशों को दिये जाने वाले ऋणों की तुलना में इसके अपने साधन बहुत कम होते हैं। अपने सदस्यों को ऋण देने की अपनी क्षमता को यह उन देशों के पूंजी बाजारों से ऋण लेकर बढ़ाता है जिनकी मुद्राओं में इसे साधारणतया ऋण देना होता है। इस व्यवस्था का लाभ यह है जिन देशों के पास अतिरिक्त पूंजी है उन्हें उसके निवेश के लिये एक बाजार मिल जाता है और जिन देशों के पास पूंजी की कमी है वे उचित ब्याज की दरों पर ऋण प्राप्त कर लेते हैं जिन्हें वे शायद अपने आप प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

विश्व बैंक ने अपनी प्रतिभूतिया (securitie) विकसित और विकासशील दोनों तरह के 100 से अधिक देशों में निवेशकर्ताओं के पास रखी हैं। यह अपनी प्रतिभूतियों का विक्रय करने के लिये उन्हें सरकार, केन्द्रीय बैंकों और सरकारी एजेन्सियों के पास प्रत्यक्ष रूप से रखता है और फिर ये व्यापारिक बैंकों और इस व्यवसाय में लगी अन्य वित्तिय संस्थाओं के जरिये निवेशकर्ताओं को बेची जाती हैं। विश्व बैंक 2 वर्ष से 25 वर्ष तक की अवधि के लिये ऋण लेता है। विश्व बैंक द्वारा लिये गये ऋणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन यह दर्शाता है कि इसने अपने ऋणों में मुद्रा, देश, स्रोत, परिपक्वता और ऋण लेने की तकनीकों की दृष्टि से विविधता लाने की नीति का अनुसरण किया है।

3) **विश्व बैंक की गारंटी पर ऋण:** विश्व बैंक का उद्देश्य निजी विदेशी पूंजी को विकासशील देशों की ओर प्रवाहित करने के लिये प्रेरणा देना भी है। इसके लिये विश्व बैंक निज़ी निवेशकर्ताओं द्वारा दिये गये ऋणों के लिये पूर्णतः या अंशतः गारन्टी देता है और इसके लिये वह निजी निवेशकर्ताओं से गारंटी कमीशन लेता है। ऋणों के गारंटी देने की बैंक की नीति ने निज़ी पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को बढ़ाया है। अपने हितों की सुरक्षा के लिये विश्व बैंक प्रायः ऋण के लिये अपनी गारंटी देने से पहले ऋण लेने वाले के देश की सरकार से ऋण के लिये गारंटी देने को कहता है। ऐसे ऋणों की अदायगी में चूक होने पर विश्व बैंक के पास यह अधिकार होता है यदि वह चाहे तो ऋण को उसके सममूल्य पर खरीद सकता है। यह व्यवस्था ऋणदाता के लिये सहायक होती है। जहां तक ऋणी का सम्बन्ध है, विश्व बैंक ऋण की अदायगी के लिये कुछ और अधिक सुविधाजनक कार्यक्रम निश्चित कर सकता है। इससे ऋणी को सहायता मिलती है और इसके साथ-साथ विश्व बैंक ऋणी और गारंटी देने वाले की चूकों से होने वाली हानियों से बच जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में विश्व बैंक की भूमिका अत्यन्त साधारण है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि 1987-88 तक बैंक द्वारा स्वीकृत ऋण 14.8 बिलियन डालर के थे और इसमें से केवल 11.6 बिलियन डालर के ऋण दिये गये थे। इस वर्ष यद्यपि 112 देशों ने विश्व बैंक से वित्तीय सहायता प्राप्त की, लेकिन 6 देश ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक ने 1 बिलियन डालर से अधिक ऋण की स्वीकृति प्राप्त की और कुल अनुमोदित ऋण में इन 6 देशों के अंश का योग 61.9 प्रतिशत था। ये 6 देश भारत, मेक्सिको, इंडोनेशिया, ब्राजील, टर्की और चीन हैं।

विकासशील देशों की पूंजी की आवश्यकता को पूरा करने में अपने साधनों की अपर्याप्तता को महसूस करते हुए विश्व बैंक ने सह-वित्त प्रबन्ध (co-financing) के अवसर बढ़ाने के लिये कुछ उपाय किये। सह-वित्त प्रबन्ध के तीन मुख्य स्रोत हैं: सहायता देने वाली एजेन्सियां (जैसे ओ पी ई सी), निर्यात साख संस्थाएं और व्यापारिक बैंक। अतीत में सहायता देने वाली सरकारी एजेन्सियों का बैंक की सह-वित्त प्रबन्ध क्रियाओं में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। विश्व बैंक पूंजी प्रधान परियोजनाओं के सह-वित्त प्रबन्ध में निर्यात साख संस्थाओं को शामिल करने का प्रयत्न करता है। हाल के वर्षों में विश्व बैंक ने जिन परियोजनाओं का वित्त-प्रबन्ध किया उनका अधिकाधिक सह-वित्त प्रबन्ध व्यापारिक बैंकों द्वारा किया जा रहा है।

16.3.2 तकनीकी सहायता

विश्व बैंक का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य सदस्य देशों को तकनीकी सहायता प्रदान करना है। यह वित्तीय सहायता के प्रभावी उपयोग के लिये आवश्यक है। अधिकांश विकासशील देशों के पास विकास परियोजनाओं की व्यवहार्यता का मूल्यांकन करने की तकनीकी क्षमता का अभाव होता है। ये देश विभिन्न परियोजनाओं की विवेकपूर्ण प्राथमिकताएं भी निर्धारित नहीं कर सकते। इसलिये विश्व बैंक सदस्य देशों को प्रायः परियोजना को तैयार करने के चरण में तकनीकी सहायता प्रदान करता है।

विश्व बैंक विभिन्न देशों में उनके संसाधनों की संभाव्यता और उनका प्रयोग करने में आने वाली कठिनाइयों का पता लगाने के लिये सर्वेक्षण करता है। वह यह भी पता लगाने का प्रयत्न करता है कि किसी देश के लिये वहां के स्थितियों के अनुरूप सबसे उपयुक्त प्रौद्योगिकी कौन सी होगी। ये तकनीकी-आर्थिक सर्वेक्षण और सदस्य देशों के कार्यों के अध्ययन विश्व बैंक और अन्य निवेशकर्ताओं को इन देशों को ऋण देने के बारे में निर्णय लेने में सहायक होते हैं। सहायता प्राप्त करने वाले देशों को भी इस प्रकार के अध्ययनों से लाभ प्राप्त होता है क्योंकि इससे उन्हें अपनी नीति निर्धारण में और अपने आर्थिक संगठनों के प्रबन्ध को सुधारने में सहायता मिलती है।

विश्व बैंक ने एक ऐसे संस्थान की भी स्थापना की है जो विकासशील देशों के उच्च अधिकारियों को आर्थिक विकास के विभिन्न पहलूओं के सम्बन्ध में प्रशिक्षण देता है। इस संस्थान को आर्थिक विकास संस्थान (Economic Development Institute) कहते हैं। यह संस्थान साधनों के प्रबन्ध, परियोजना मूल्यांकन, ग्रामीण विकास, आधारिक संरचना के विकास, विकास बैंकिंग आदि के संबंध में प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाता है।

16.3.3 निजी विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करना

विश्व बैंक के संस्थापकों को आशा थी कि यह बैंक निजी ऋणदाता देशों और ऋण लेने वाले देशों के

बीच पूंजी के प्रत्यक्ष प्रवाह को प्रेरित करेगा। विश्व बैंक ने अपनी **चौथी वार्षिक रिपोर्ट** में इस उद्देश्य को दोहराया। इसमें कहा गया था कि "दीर्घ काल में केवल निजी पूंजी का निरन्तर प्रवाह ही विश्व की विकास आवश्यकताओं में महत्त्वपूर्ण योगदान करने के लिये पर्याप्त मात्रा में बाह्य वित्तीय सहायता प्रदान कर सकता है।" प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश को दो कारणों से वांछनीय माना गया है: (i) स्थिर ब्याज प्रभार से बचना, और (ii) आवश्यक तकनीकी और प्रबन्ध कौशल प्राप्त करना जो ऐसे निवेश के साथ उपलब्ध होते हैं और जो साधारणतया किसी और तरीके से प्राप्त नहीं हो सकते। तथापि, व्यवहार में, विश्व बैंक निजी पूंजी के प्रत्यक्ष अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को प्रेरित करने में अधिक सफल नहीं हो पाया। इस असफलता के दो मुख्य कारण हैं:

1 स्वपोषी संवृद्धि (self-sustained growth) की स्थिति का निर्माण करने के लिये अधिकांश अल्पविकसित देशों को ऐसे निवेश की आवश्यकता है जो दीर्घकाल में तो निस्संदेह ही उत्पादक होते हैं लेकिन शीघ्र प्रतिफल देने वाले नहीं होते। इसलिये, ऐसे निवेश में विकसित देशों के निजी निवेशकर्ता दिलचस्पी नहीं रखते।

2 पिछले कुछ दशकों के दौरान संभाव्य ऋणदाता देशों में निवेश के विस्तृत अवसर मौजूद थे। इसलिये निजी निवेशकर्ता विकासशील देशों में, जहां विभेदीकरण, दोहरे कराधान, स्थानान्तरण की समस्याओं और राष्ट्रीयकरण की संभावनाओं के रूप में जोखिमें होती हैं, निवेश करने के अधिक इच्छुक नहीं होते।

बोध प्रश्न ख

1 विश्व बैंक के तीन मुख्य कार्य बताइये।

.....

.....

.....

2 सदस्य देश विश्व बैंक से या उसकी गारंटी पर वित्तीय सहायता किस तरह से प्राप्त करते हैं?

.....

.....

.....

.....

3 बताइये कि निम्नलिखित कथनों में कौन सही हैं और कौन गलत:

i) विश्व बैंक विकसित देशों से विकासशील देशों को केवल निधियों के हस्तांतरण को ही प्रवाहित करता है।

ii) बैंक के अपने साधनों में प्रदत्त पूंजी व उसकी अपने पास रखी गयी आय शामिल है।

iii) विश्व बैंक के पास की अभिदत्त पूंजी की सारी राशि उधार देने के लिये होती है।

iv) विश्व बैंक अपने सदस्यों को साधारणतया विदेशी मुद्राओं में प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करता है।

v) विश्व बैंक अपने ऋणों में विविधता लाने की नीति का अनुसरण करता है।

vi) विश्व बैंक निजी ऋण लेने वालों को निःशुल्क गारंटी सेवा प्रदान करता है।

vii) विश्व बैंक सदस्य देशों को वित्तीय सहायता के अतिरिक्त अन्य कोई सेवा प्रदान नहीं करता।

viii) विश्व बैंक निजी निवेश को प्रेरित करने में बहुत सफल हुआ है।

16.4 विश्व बैंक की संक्रियाएं

विश्व बैंक की संक्रियाएं मोटे तौर पर ऋण देने के कुछ सामान्य नियमों द्वारा निर्देशित की जाती हैं। इन पर हम इस भाग में विचार करेंगे। लेकिन विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत विश्व बैंक ऋण लेने वाले देशों में संरचनात्मक समायोजन के लिये भी ऋण प्रदान करता है। ऐसी विशेष परिस्थितियों में किसी परियोजना की स्थानीय लागत के एक भाग के वित्त प्रबन्ध के लिये दिये जाने वाले ऋण विवाद का विषय रहे हैं। इसलिये हम यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या इन ऋणों के लिये कोई मूलाधार है।

16.4.1 ऋण देने के सामान्य नियम

विश्व बैंक प्रत्यक्ष ऋण देते समय या निजी ऋणों के लिये गारण्टी देते समय प्रायः निम्नलिखित नियमों का पालन करता है ताकि ऋण दी गई निधियों को अनावश्यक जोखिम से बचाया जा सके।

1) एक देश को विश्व बैंक से या उसकी गारण्टी पर निजी विदेशी निवेशकर्ताओं से जो ऋण मिल सकता

है उसकी राशि ऋण प्राप्त करने वाले देश की अभिदत्त पूंजी द्वारा सीमित नहीं होती। तथापि विश्व बैंक ऋण लेने वाले और गारंटी देने वाले की साख को ध्यान में रखता है। इससे अन्य बातों के साथ-साथ यह भी सुनिश्चित किया जाता है कि ऋण लेने वाला देश इस योग्य है कि वह अपने विदेशी विनिमय अर्जन से ऋण भार दायित्वों को पूरा कर सकता है।

2) विश्व बैंक असैनिक उत्पादक परियोजनाओं के लिये ऋण देता है। किसी भी परिस्थिति में अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण नहीं दिया जाता। यद्यपि विश्व बैंक दावा करता है कि वह ऋणों का वायदा करते समय केवल आर्थिक कारकों को ही ध्यान में रखता है लेकिन इसके आलोचक इस पर यह आरोप लगाते हैं कि ऋणों की स्वीकृत देते समय बहुधा राजनैतिक कारकों को ध्यान में रखा जाता है।
3) विश्व बैंक सदस्य सरकारों को या उनकी गारंटी पर अन्य एजेन्सियों को विशेष परियोजनाओं के लिये ऋण देता है। एक परियोजना के लिये दिये गये ऋण का प्रयोग किसी अन्य कार्य के लिये नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के प्रतिबन्धों को दूर करने के लिये प्रोग्राम ऋण पद्धति बनायी गयी। परियोजनाओं के प्रोग्राम बनाये जा सकते हैं और विशेष उद्देश्यों के लिये प्रदान किये गये कोषों से परिकलित विदेशी विनिमय या बचत के अन्तराल को पूरा किया जा सकता है।
4) विश्व बैंक उस परियोजना की वांछनीयता और व्यवहार्यता पर एक लिखित रिपोर्ट मांगता है, जिसके लिये ऋण मांगा जा रहा है। परियोजना की वित्तीय सुदृढ़ता के बारे में संतुष्ट हो जाने के बाद विश्व बैंक ऋण स्वीकृत करता है या उसकी गारण्टी देता है। बैंक यह भी सुनिश्चित करता है कि परियोजना से इतना प्रतिफल अवश्य मिलता हो जिससे ऋण भार दायित्वों को पूरा करने के बाद कुछ बचत होती हो और इसके साथ-साथ यह परियोजना ऋण लेने वाले देशों की आर्थिक संवृद्धि में भी सहायक हो।
5) सदस्य देश को ऋण देने के लिये सहमत होने से पहले बैंक को यह भी देखना चाहिये कि मौजूदा बाजार स्थितियों में ऋण लेने वाला देश उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त नहीं कर सकता है। बैंक सामान्यतया परियोजना के विदेशी विनिमय के भाग को पूरा करने के लिये ही ऋण देता है। केवल विशेष परिस्थितियों में ही विश्व बैंक परियोजना की स्थानीय लागत के एक भाग के लिये वित्त प्रदान कर सकता है। क्योंकि विश्व बैंक के ऋण सामान्यतया विदेशी विनिमय में होते हैं, इसलिये यह इस बात पर जोर देता है कि ऋण की अदायगी और उस पर ब्याज का भुगतान दोनों ही उस मुद्रा में हों जिसमें ऋण लिया गया था।
6) विश्व बैंक को ऋण की राशि और शर्तें निर्धारित करने का अधिकार है। लेकिन ब्याज की दर व अन्य शुल्क उचित होने चाहिये और भुगतान की प्रणाली परियोजना के लिये उपयुक्त होनी चाहिये। विश्व बैंक ऋण देते समय जो शर्तें लगाता है उसमें यह शर्त नहीं हो सकती कि ऋण की राशि किसी विशेष देश में ही खर्च की जाएगी। इस बारे में उचित शर्त केवल यही है कि ऋण लेने वाला देश ऋण की राशि बैंक के सदस्य देशों में ही खर्च करेगा।

16.4.2 संरचनात्मक समायोजन के लिये ऋण

पिछले भाग में यह बताया गया था कि विश्व बैंक द्वारा विशेष परिस्थितियों में अलाभ (non-profit) ऋण और परियोजना की स्थानीय लागत के एक भाग के वित्त प्रबन्ध के लिये ऋण दिये जा सकते हैं। इसके लिये बैंक के **करार-नियमों** (Articles of Agreement) में प्रावधान है और 1979-80 से बैंक इन प्रावधानों के अन्तर्गत ऋण लेने वाले देशों को अपनी अर्थव्यवस्थाओं में संरचनात्मक समायोजन के लिये ऋण देता रहा है।

विश्व बैंक के अनुसार संरचनात्मक समायोजन ऋणों की आवश्यकता कुछ गंभीर स्थितियों के कारण हुई जो 1970 के दशक के अन्तिम वर्षों में उत्पन्न हुई जब अधिकांश विकासशील देशों (गैर-तेल निर्यातकों) को गंभीर भुगतान शेष समस्याओं का सामना करना पड़ा। उनका भुगतान शेष घाटा आयातों की कीमतों में निरन्तर वृद्धि होने और निर्यात में कोई वृद्धि न होने के कारण तेजी से बढ़ गया। आयातों की कीमतों में वृद्धि तेल की कीमतों में बार-बार वृद्धि होने से और पश्चिम के विकसित देशों में मुद्रास्फीति में निरन्तर वृद्धि के कारण हुई। 1980 के दशक में भी यह स्थिति नहीं बदली और इन परिस्थितियों में विकासशील देशों के लिये अपनी भुगतान शेष स्थिति को सुधारना बहुत कठिन लगने लगा। कई विकासशील देशों, जिन्होंने विश्व बैंक से ऋण लिये थे, के लिये ऋण भार दायित्वों को पूरा करना कठिन हो गया। विकसित और विकासशील देशों के बीच आर्थिक रूप में एक दूसरे पर निर्भरता से विकसित देशों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता था क्योंकि इससे उनके निर्यात कम हो सकते थे और उनके द्वारा अल्पविकसित देशों को दिये गये ऋणों की अदायगी में चूक हो सकती थी।

इन समस्याओं का हल संरक्षणवादी अवरोधों में ढील देना था जिससे कि विकासशील देशों से आयात करने की अनुमति दी जा सके। लेकिन पश्चिम के देशों ने इसे नहीं माना बल्कि उन्होंने अल्पविकसित देशों पर समायोजन का भार डाल दिया। विश्व बैंक में अपने प्रभुत्व के कारण उन्होंने बैंक की नीतियों को प्रभावित किया और उनके विचारों के समर्थन में एक कार्यक्रम शुरू किया गया। संक्षेप में इस नीति के अनुसार अल्पविकसित देशों से आशा की गई थी कि वे अपनी भुगतान शेष स्थिति को सुधारने के लिये अपनी अर्थव्यवस्थाओं में संरचनात्मक परिवर्तन करें। इसके लिये वे विकसित देशों से किसी प्रकार के सहयोग की

आशा नहीं कर सकते थे। इन्हीं विचारों के अनुरूप विश्व बैंक ने 1979-80 में 'संरचनात्मक समायोजन ऋण' (Structural adjustment lending) नीति शुरू की जो इस प्रकार बनायी गयी थी कि उन सरकारों को समर्थन दिया जा सके (1) जिन्होंने ऐसे समर्थन के लिये प्रार्थना की थी और (2) जिन्होंने यह माना था कि बिगड़ती हुई भुगतान शेष स्थिति को सुधारने के लिये ऐसे उपाय करने अत्यावश्यक हैं जो उनकी अर्थव्यवस्थाओं की उत्पादक क्रियाओं के ढांचे में समायोजन कर सकें। ऐसे ऋण देने के संबंध में विश्व बैंक अनेक कठोर शर्तें लगाता है। इन शर्तों के अन्तर्गत सरकारी नीतियों में बहुत बड़े परिवर्तनों की अपेक्षा की जाती है।

संरचनात्मक समायोजन ऋण साधारणतया मध्यकालीन होते हैं: संरचनात्मक समायोजन ऋणों के समर्थन में विश्व बैंक का दावा यह है कि ये दो महत्वपूर्ण उद्देश्यों के लिये हैं: (1) ये ऋण लेने वाले देशों की भुगतान शेष स्थितियों को सुधारने के लिये उत्पादक क्षेत्रों की पुनःसंरचना करने के कार्यक्रमों में सहायता करते हैं और (2) ये ऋण अन्य विदेशी पूंजी के अन्तर्वाह के उत्प्रेरक के रूप में कार्य करते हैं और ऐसी पूंजी के अन्तर्वाह से भुगतान शेष की स्थिति सुधर सकती हैं।

कुछ देशों में विश्व बैंक की संरचनात्मक समायोजन ऋण नीति की बहुत आलोचना हुई है। आलोचकों का यह दावा गलत नहीं है कि विश्व बैंक के संरचनात्मक समायोजन ऋणों के साथ ऐसी शर्तें जुड़ी हुई हैं जो ऋण लेने वाले देशों के हितों के प्रतिकूल हैं। **ये ऋण साधारणतया देश के भुगतान शेष के चालू खाते के घाटों का एक छोटा-सा भाग होते हैं।** संरचनात्मक समायोजन ऋणों की स्वीकृति देते समय विश्व बैंक इस बात पर जोर देता है कि ऋण लेने वाले देश कीमत-निर्धारण नीतियों, उदारवादी उपायों, मौद्रिक व राजकोषीय नीतियों और बैंक द्वारा सिफारिश की गयी सार्वजनिक निवेश प्राथमिकताओं के एक पैकेज को अपनायें। इस नीति की रूपरेखा इस प्रकार की है कि समायोजन का पूरा भार अल्पविकसित देशों पर ही पड़ता है। संक्षेप में, विश्व बैंक द्वारा संरचनात्मक समायोजन ऋणों का प्रयोग प्रभुतासंपन्न (sovereign) सरकारों के आर्थिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने के लिये किया गया।

16.4.3 स्थानीय मुद्रा में व्यय और अन्य समस्याएं

विश्व बैंक की संक्रियाएं यह दर्शाती हैं कि उधार देने के नियमों के पालन में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जिनके संबंध में हमने इस भाग में पहले विचार किया है। पहली कठिनाई यह है कि सामान्य परिस्थितियों में बैंक किसी परियोजना की स्थानीय पूंजी की आवश्यकता का वित्त प्रबन्ध नहीं करेगा। लेकिन ऐसी नीति का अर्थ होगा बैंक द्वारा उधार देने में पक्षपात। विश्व के सबसे कम विकसित देश जिन्हें अधिकतम बाह्य सहायता की आवश्यकता होती है, बहुधा अपनी परियोजनाओं के लिये आवश्यक घरेलू साधन जुटा नहीं पाते। इसलिये विश्व बैंक उन्हें पूंजीगत उपकरणों के आयात के लिये ऋण देने से मना कर देता है। इसकी तुलना में, मध्यम आय वर्ग वाले विकासशील देशों को परियोजना के घरेलू निवेश के लिये साधन जुटाने में अधिक कठिनाई नहीं होती। इससे वे आसानी से विश्व बैंक से ऋण लेने के हकदार बन जाते हैं। इस प्रकार, विश्व बैंक की स्थानीय मुद्रा में ऋण देने के लिये विशेष परिस्थितियों की धारा पर जोर देना निष्पक्षता के मानदण्ड का उल्लंघन है।

बहुपक्षीय प्रणाली ऐसी प्रणाली है जिसमें सभी मुद्राएं परिवर्तनीय हैं और किसी भी मुद्रा में लिये गये ऋण का प्रयोग किसी भी देश से किये गये आयातों के भुगतान के लिये किया जा सकता है। अतः ऋण लेने वाले देश पर इस तरह का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता कि उसे केवल उसी देश से आयात करना पड़ेगा जिस देश की मुद्रा में उसने ऋण लिया है। तथापि, व्यवहार में मुद्राओं की परिवर्तनीयता के अभाव और बहुपक्षीयता की अनुपस्थिति में विश्व बैंक से ऋण प्राप्त करने वाले देशों को बहुधा केवल उन्हीं देशों से वस्तुओं का आयात करना पड़ता है जिनकी मुद्राओं में ऋण प्रदान किये हैं। इस प्रकार, दूसरी कठिनाई यह है कि यद्यपि विश्व बैंक ने तो ऋण की राशि को किसी विशेष देश में खर्च करने की शर्त नहीं रखी है, लेकिन व्यवहार में, अधिकांश सहायता बहुपक्षीयता के अभाव में ऋण देने वाले देश से बंध जाती है। अन्तिम समस्या यह है कि ऋण लेने वाला देश कभी-कभी तीव्र विदेशी विनिमय की समस्या के कारण अपने वायदों को पूरा करने में असफल रहता है। यह जरूरी नहीं है कि इस देश की यह असफलता उसकी अर्थव्यवस्था के ठीक प्रकार कार्य न करने का परिणाम हो। वास्तव में, किसी भी देश के भुगतान शेष में अधिशेष या घाटे का निर्धारण बहुधा ऐसे कारकों से होता है जो उस देश के नियंत्रण के पूर्णतया बाहर है। ऐसी परिस्थितियों में ऋण लेने वाला देश विश्व बैंक को अदायगी की शर्तों में छूट देने के लिये आवेदन कर सकता है। यदि विश्व बैंक इस बात से संतुष्ट है कि जिस आधार पर ऋणों की अदायगी की शर्तों में छूट मांगी गयी है वह उचित है और यह छूट उस सदस्य बैंक के अन्य सदस्यों और स्वयं विश्व बैंक के हित में है तो वह दो कार्य कर सकता है: (i) ऋण भार का भुगतान उधार लेने वाले देश की मुद्रा में स्वीकार कर सकता है और इसे अपनी मुद्रा को उचित शर्तों पर पुनर्क्रय करने की सलाह देता है; और (ii) ऋणों के परिशोधन की शर्तों में संशोधन कर सकता है या ऋण की अवधि बढ़ा सकता है या दोनों बातें कर सकता है।

बोध प्रश्न ग

1 संरचनात्मक समायोजन ऋण क्या होते हैं?

.....

.....

.....

2 बताइये निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत:

i) किसी देश द्वारा विश्व बैंक से प्राप्त किये जा सकने वाले ऋण की मात्रा उसकी अभिदत्त पूंजी द्वारा परिसीमित होती है।

ii) विश्व बैंक कभी-कभी सैनिक परियोजनाओं के लिये भी ऋण देता है।

iii) विश्व बैंक ऋण देने का वायदा केवल राजनैतिक आधार पर ही करता है।

iv) विश्व बैंक के ऋण साधारणतया परियोजना से बंधे होते हैं, देश से बंधे नहीं होते।

v) विश्व बैंक साधारणतया परियोजनाओं के केवल विदेशी विनिमय के भाग को पूरा करने के लिये ही ऋण देता है।

vi) एक सदस्य देश को ऋण देने का वायदा करने से पहले विश्व बैंक के लिए यह सुनिश्चित करना आवश्यक नहीं कि वह देश उचित शर्तों पर वैकल्पिक स्रोत से ऋण प्राप्त कर सकता है।

vii) संरचनात्मक समायोजन ऋण के साथ बहुत अधिक शर्तें जुड़ी होती हैं जो ऋण लेने वाले देश के हित के विरुद्ध हो सकती हैं।

viii) विश्व बैंक को किसी भी परिस्थिति में स्थानीय मुद्रा में ऋण देने की अनुमति नहीं है।

ix) बहुपक्षीयता के अभाव के कारण विश्व बैंक द्वारा दिये गये अधिकांश ऋण किसी देश से बंध जाते हैं।

x) यदि ऋण लेने वाला देश विश्व बैंक से लिये गये ऋणों के बारे में ऋण भार के दायित्वों को पूरा करने में असफल होता है तो वह ऋण परिशोधन की शर्तों में छूट के लिये आवेदन कर सकता है।

16.5 विश्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन

वित्त और अन्य सेवाओं का स्रोत के रूप में विश्व बैंक की भूमिका पर आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के बढ़े हुए महत्त्व के संदर्भ में विचार करना चाहिये। कुल मिलाकर इस बात पर सहमति है कि इसने पूंजी आधिक्य वाले विकसित देशों से पूंजी की कमी वाले विकासशील देशों को वित्तीय साधनों के हस्तांतरण की व्यवस्था करने में सहायता की है। इसके अतिरिक्त इसने उचित स्तर पर तकनीकी सहायता सहित अन्य सेवाएं भी प्रदान की हैं। यह इस बैंक के कार्यों का रचनात्मक पक्ष है। विश्व बैंक के कार्य की आलोचना के दो पहलू हैं: (i) कि विकासशील देशों की आवश्यकताओं की तुलना में साधनों को जुटाने के संबंध में विश्व बैंक का योगदान बहुत ही कम रहा है, और (ii) कि विश्व बैंक की नीतियाँ विकासशील देशों के हितों के लिये हानिकारक और भेदभावपूर्ण रही हैं। इस भाग में हम विश्व बैंक के योगदान और असफलताओं, इन दोनों पर विचार करेंगे।

16.5.1 विश्व बैंक का योगदान

विश्व बैंक की स्थापना के बाद शुरू की अवधि में इस बैंक ने उन औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निमाण की ओर अधिक ध्यान दिया जो दूसरे विश्व युद्ध से विध्वंसित हो गयी थीं। इस कार्य को पूरा करने के बाद, **विश्व बैंक ने अपेक्षाकृत अल्पविकसित देशों की विकास आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया।** आर्थिक रूप में पिछड़ी इन अर्थव्यवस्थाओं में विकास का कार्य वास्तव में बहुत बड़ा है और इस दृष्टि से विश्व बैंक के साधन बहुत कम हैं। यथापि, विश्व बैंक ने अपने सीमित साधनों में से उन देशों को ऋण दिये जिनकी परियोजनाएं आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ प्रतीत होती थीं और जो उचित ब्याज की दरों और उचित शर्तों पर किसी अन्य स्रोत से ऋण प्राप्त नहीं कर सकते थे।

लेकिन विश्व बैंक का असली महत्त्व इसके द्वारा अपने साधनों में से दिये जाने वाले ऋणों से नहीं है बल्कि उन ऋणपत्रों (bonds) से है जो यह विकसित पूंजी बाजारों में बेचता है ताकि ऋण देने के लिये कोष एकत्र कर सके। **इस तरह विश्व बैंक एक ऐसा प्रमुख माध्यम बन गया है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बॉण्ड बाजार और अन्य वित्तीय बाजारों तक विकासशील देशों की पहुँच हो गयी है।** इसका अत्यधिक महत्त्व है, खास तौर से उन देशों के लिये जिनकी व्यावसायिक पूंजी पर निर्भरता बहुत है जो विश्व अर्थव्यवस्था में उतार-चढ़ावों के प्रभाव से बहुत प्रभावित होते हैं।

पूंजी आधिक्य वाले विकसित देशों से पूंजी की कमी वाले विकासशील देशों को साधनों के हस्तांतरण को बढ़ाने के लिये बैंक निर्यात साख एजेन्सियों और व्यापारिक बैंकों के साथ सहयोग करता रहा है। विश्व बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाओं से साधनों की बढ़ती हुई मांग के कारण विभिन्न सह वित्त प्रबन्ध संस्थाओं की स्थापना हुई। विश्व बैंक को जो तकनीकी विशिष्टता उपलब्ध है उससे उसमें उन निवेश कार्यक्रमों और अलग-अलग परियोजनाओं का मूल्यांकन करने की क्षमता है जिनके लिये सहायता माँगी जाती है। वह इस निपुणता का प्रयोग निर्यात-साख एजेन्सियों और व्यापारिक बैंकों के ऋण देने की क्षमता में सुधार करने के प्रयत्नों में सहायता करने के लिये करता है।

कम आय वाली अर्थव्यवस्थाओं को रियायती शर्तों पर वित्त की आवश्यकता होती है। विश्व बैंक स्वयं रियायती शर्तों पर बहुत बड़ी मात्रा में वित्त प्रदान नहीं कर पाता। तथापि, यदि अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ नामक विश्व बैंक की सम्बद्ध संस्था को ध्यान में रखें तो स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है जितनी यह प्रतीत होती है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को बहुधा विश्व बैंक की 'सुलभ ऋण खिड़की' (Soft loan window) कहते हैं, क्योंकि इसने आसान शर्तों पर ऋण दिये हैं और कम आय वाली अर्थव्यवस्थाओं के दावों की उपेक्षा नहीं की है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों में विश्व बैंक की उत्प्रेरक भूमिका का एक महत्वपूर्ण पहलू निजी विदेशी निवेश है। अतीत में, विश्व बैंक ने अपनी सम्बद्ध संस्था अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) के साथ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरह से निजी विदेशी निवेश को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। ऋणों के लिये गारण्टी देने की प्रणाली ने प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश को प्रोत्साहित किया है। विश्व बैंक का निजी विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करने में अप्रत्यक्ष योगदान विकासशील देशों में भौतिक और मानवीय आधारिक संरचना(infrastructure) में निवेश के लिये वित्त प्रबन्ध करने के रूप में है। इस प्रकार के निवेश ने इन देशों में निजी निवेश की संभावनाओं को बढ़ाया है।

अन्त में कहा जा सकता है कि विश्व बैंक की हाल में गरीबी कम करने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विश्व बैंक की पहले यह धारणा थी कि आर्थिक संवृद्धि के लाभ धीरे-धीरे गरीब से गरीब लोगों तक भी पहुंच जाएंगे। इसलिये विश्व बैंक का मुख्य जोर शक्ति उत्पादन और विवरण, यातायात, बन्दरगाहों के विकास, दूरसंचार और सिंचाई के क्षेत्र में आधारिक संरचनात्मक परियोजनाओं पर था। इन परियोजनाओं के लिये जो ऋण दिये गये वे 1971-72 तक विश्व बैंक द्वारा स्वीकृत कुल ऋणों का 85 प्रतिशत थे। 1971-72 तक कृषि और ग्रामीण विकास परियोजनाओं को बहुत कम सहायता मिली। मैक्नामारा (McNamara) जब विश्व बैंक के प्रधान थे तब उन्होंने विश्व बैंक की ऋण देने की नीति में आधारिक परिवर्तन किया। इस बात पर जोर देते हुए कि 1960 के दशक में अल्पविकसित देशों में जो आर्थिक संवृद्धि हुई उससे इन देशों की सबसे गरीब 40 प्रतिशत जनसंख्या को कोई लाभ नहीं मिला, उन्होंने बलपूर्वक कहा कि भविष्य में विश्व बैंक की ऋण देने की नीति इसकी अल्पविकसित देशों के नीचे के 40 प्रतिशत लोगों के लिये प्रासंगिकता से निर्देशित होगी। इसके लिये परियोजनाओं के चयन में परिवर्तन करना आवश्यक था।

मैक्नमारा के प्रभाव के कारण कृषि और ग्रामीण विकास परियोजनाओं को ऊंची प्राथमिकता मिली। इससे स्पष्ट होता है कि कृषि के लिये विश्व बैंक के ऋण 1960 के दशक में 13.3 प्रतिशत से 1970 और 1980 के दशकों में 28.4 प्रतिशत क्यों हो गये। सैम्यूल्सन का यह कथन ठीक ही है कि "मैक्नमारा ने विश्व बैंक का केन्द्र बिन्दु विकासशील देशों के सबसे गरीब लोगों की चिन्ता की ओर विवर्तित कर दिया। सर्वोत्तम निजी व्यापारिक बैंक भी अपनी प्रकृति के कारण, मानवीय भूख व बीमारी, न्यूनतम रहन-सहन के स्तर, तथा अवसर व पद की असमानता को कम करने के प्रति इतने चिन्तित नहीं हो सकते।"

16.5.2 विश्व बैंक की असफलताएं

यदि मात्रा मात्रात्मक रूप में विश्व बैंक की क्रियाओं का मूल्यांकन करें तो अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के प्रवाह में इसकी भूमिका निश्चित रूप से बहुत कम रही है। 1960 के दशक में विश्व बैंक के ऋण कुल अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों का केवल 4 प्रतिशत थे। तब से इसके योगदान में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ और किसी भी वर्ष इसके ऋण कुल अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों के 10 प्रतिशत से अधिक नहीं हुए। अतः अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में बैंक की भूमिका को बढ़ा चढ़ाकर नहीं बताना चाहिये। इसके अतिरिक्त बैंक द्वारा ली जाने वाली ब्याज दर व अन्य शुल्क बहुत ऊंचे हैं जो इसके व्यापारिक दृष्टिकोण को दर्शाते हैं। यह अवश्यंभावी लगता है क्योंकि बैंक पर विकसित देशों का प्रभुत्व है और विकासशील देशों को रियायती शर्तों पर ऋण देने में इन देशों की कोई दिलचस्पी नहीं है।

विश्व बैंक की बहुधा ऐसी नीतियों का पालन करने के लिये आलोचना की गयी है जो विकासशील देशों के हितों के प्रतिकूल हैं। इस आधार पर की गयी आलोचनाओं में से निम्नलिखित विचारणीय हैं:

1 **विश्व बैंक अपने ऋण को साधारणतया एक विशेष परियोजना से बांधने का प्रयत्न करता है।** परियोजना विचारधारा का पक्षपोषण उत्तरदायित्व के आधार पर किया जा सकता है। लेकिन ऋण लेने वाले देश के दृष्टिकोण से यह सबसे उपयुक्त सिद्धान्त नहीं है। बहुत सी परियोजनाएं एक दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं और एक परियोजना के साथ अलग से पूरी तरह जुड़े रहने के प्रयास से यह संभव है कि सदा

रखी गयी आय (Retained Earnings): निगम के अवितरित लाभ।

संरचनात्मक समायोजन ऋण (Structural Adjustment Loan): ऋण लेने वाले देश को इस योग्य बनाने के लिये दिये गये ऋण कि वह अपेक्षित संरचनात्मक समायोजन कर सके।

अभिदत्त पूंजी (Subscribed Capital): शेयर पूंजी का वह भाग जिसका कि सम्बद्ध निवेशकर्ताओं ने अभिदान दे दिया है।

तकनीकी सहायता (Technical Assistance): तकनीकी जानकारी के बारे में सहायता।

युद्ध कालीन अर्थव्यवस्था (War-time Economy): वह अर्थव्यवस्था जिसके कार्यक्रम विकास की बजाय युद्ध के लिये हों।

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 2 i) सही ii) गलत iii) सही iv) गलत v) सही vi) गलत vii) सही

ख 1 i) ऋण देना और निजी ऋणों की गारण्टी देना
ii) तकनीकी सहायता प्रदान करना
iii) निजी निवेश को प्रेरित करना

2 i) विश्व बैंक के अपने साधनों में से ऋण
ii) इसके उधार लिये गए साधनों में से ऋण
iii) इसकी गारण्टी पर ऋण

3 i) गलत ii) सही iii) गलत iv) सही v) सही vi) गलत vii) सही viii) गलत

ग 2 i) गलत ii) गलत iii) गलत iv) सही v) सही vi) गलत vii) सही viii) गलत ix) सही x) सही

घ 1 i) सही ii) गलत iii) गलत iv) सही v) गलत vi) सही vii) गलत viii) सही ix) सही

16.9 स्वपरख प्रश्न

1 विश्व बैंक के क्या उद्देश्य हैं?
2 विश्व बैंक के कार्यों का विवेचन कीजिये। क्या यह अल्पविकसित देशों की पूंजी की कमी की समस्या हल कर पाया है?
3 विश्व बैंक द्वारा प्रदान किये जाने वाले संरचनात्मक समायोजन ऋणों का क्या औचित्य है? इनकी आलोचना क्यों की जाती है।
4 अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह में विश्व बैंक के योगदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
5 विश्व बैंक की असफलताएं क्या हैं? यदि इस पर विकसित देशों का प्रभुत्व नहीं होता तो क्या यह और अच्छा कार्य कर सकता था?

नोटः इस इकाई को अच्छी तरह समझने के लिए ये प्रश्न और अभ्यास आपकी सहायता करेंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयास कीजिए। परन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

एस.के. मिश्र, *मुद्रा एवं बैंकिंग;* (दिल्लीः श्री महावीर बुक डिपो, 1989)

के.पी. सुंदरम एवं टी.एन. चतुर्वेदी, *मुद्रा बैंकिंग व व्यापार;* (नई दिल्लीः सुल्तान चंद एवं संस, 1990)

शर्मा-सिंघईः *मुद्रा, बैंकिंग तथा राजस्व;* (आगराः साहित्य भवन, 1991)